त्रमय जीवनी

भगवान् बुद्ध
चित्रमय जीवनी

भगवान् बुद्ध के विविध रूप

भगवान् बुद्ध : चित्रमय जीवनी

हेरमन हेस्से

लिप्यंतरण

शिवनारायण पंत

प्रथम संस्करण : 2002

प्रकाशक : दिल्ली पुस्तक सदन
30/36, गली नं 9, विश्वास नगर
शाहदरा, दिल्ली-110032

आवरण : मनजीत

मूल्य : 250.00 रुपये

मुद्रक : बी के ऑफसेट
नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032
ISBN - 81 7878-810-5

प्रस्तावना

आरभ मे, जब तीन सहस्र लोक उत्पन्न किए जा रहे थे, सब पदार्थ उत्पन्न हो गए, परन्तु अभी जड और चेतन वस्तुओ मे कोई भेद न था। यह ब्रह्मांड एक शून्य उजाड़ था, जिसमे न सूर्य घूमता था और न चन्द्र। दु ख-सुख और सत्-असत् मे कोई भेद न था। जब ब्राह्मणीय देवता अपने शारीरिक प्रकाश के साथ पृथ्वी पर उतरे, वे अपना भोजन पृथ्वी की मोटाई से लेते थे, इसलिए लोभ और पेटूपन का स्वभाव प्रादुर्भूत हुआ, और वे वन की लताओ और सुवासित चावलों को एक दूसरे के बाद खाने लगे। जब उनका प्रकाश क्रमश· लोप हो गया तो सूर्य-चन्द्र प्रकट हो गए। विवाह और कृषि की अवस्था पैदा हुई, और राजा-प्रजा तथा पिता-पुत्र-सम्बन्धी नियम स्थापित हो गए। तब अधिवासियों को ऊपर नीलाकाश की ओर देखने पर नक्षत्र घूमते हुए दिखाई दिए। बाद को नीचे की ओर दृष्टि डालने पर उन्होंने देखा कि पृथ्वी अधिक ठोस होती जा रही है। दो तत्त्वों, अस्ति और नास्ति ने द्यो-पृथ्वी का रूप धारण कर लिया और उनके बीच अन्तरिक्ष मे मनुष्य उत्पन्न हुए; मैले और साफ पवन के प्रभाव से, प्रकृति मे अपने आप द्वन्द्व पैदा हो गए। पृथ्वी पर पर्वत दृढ़ खडे थे, नक्षत्र ऊपर बिखरे हुए थे, और जड़ पदार्थ फैल और वढ रहे थे। अन्त को उनमे मतभेद हो गया, और वे छियानबे श्रेणियों में विभक्त हो गए; तत्त्व पच्चीस श्रेणियो मे बांटे गए।

हमारे परमगुरु, लोक-ज्येष्ठ शाक्य ने ही अद्भुत तत्त्व का उपदेश दिया है। उसने बारह निदान समझाए है और अठारह अनुपम धर्म्म[1] उपार्जन किए है। उसने अपने आपको देवो और मनुष्यो का गुरु (शास्ता देवमनुष्यानाम्), अथवा सर्वज्ञ कहा है। केवल उसी ने चार प्रकार की सृष्टि[2] को अग्नि-कुड (संसार) से निकाला, और जीवन की तीन अवस्थाओ[3] को अन्धकार के निवास से मुक्त किया

1 ये धर्म्म है—सम्यक् कर्म्म, सम्यक् वचन और सम्यक् सकल्प, भूत, भविष्य और वर्तमान का ज्ञान, प्रज्ञा, मोक्ष, शान्त मन इत्यादि।

2 अर्थात् गर्भ से, (i) अडों मे, (ii) आर्द्रता से, (iii) अथवा अलौकिक रीति से उत्पन्न हुई सृष्टि।

3 जीवन की तीन अवस्था—(i) काम-जगत्, (ii) रूप-जगत्, (iii) अरूप-जगत्।

है वह क्लेश रूपी नदी को पार करके निर्वाण-रूपी तट पर जा पहुचा है

जब हमार मुनि ने नाग नदी अर्थात् निरजना नदी पर बोधिज्ञान प्राप्त किया, तब प्राणियो की नौ श्रेणिया[1] मोक्ष की आशा करने लगी। तब इस ज्योति के मृगदाव (काशी) मे जाने से जीवन के छ[2] मार्गो की धर्म्म-पिपासा शात हुई।

ज्यो ही उन्होने धर्म-चक्र को फिराना आरम्भ किया, सबसे पहल पाच मनुष्यो[3] ने उनके उपदेश का लाभ उठाया। फिर उन्होने शील-सोपान का उपदेश दिया, और सहस्रो लोगों ने उनके सामने सिर नवाया। इस पर उनका ब्रह्मनाद राजगृह मे सुनाई दिया, जिससे असख्य आत्माओ का उद्धार हुआ।

माता-पिता के प्रेम का बदला चुकाने के लिए जब वे कपिलवस्तु वापस आये तब उन्हे बहुत-से ऐसे शिष्य मिले, जिनको उनके उपदेशो पर श्रद्धा थी। उन्होने सबसे पहले अज्ञात कौडिन्य को उपदेश देकर भिक्षु बनाया।

उन्होंने अपने जीवन मे अन्तिम दीक्षा सुभद्र[4] को दी, जिससे उसके जीवन का अन्तिम काल उसकी मूल-अभिलाषा के अनुरूप हो।

वे सघ की स्थापना और रक्षा करते हुए अस्सी वर्ष तक जीते रहे। उन्होने नौ सभाओ में अपने निर्वाण के सिद्धात का प्रचार किया।

साधारण अनुयायियों को वे केवल पंचशील की ही शिक्षा देते थे, परतु भिक्षुओ को अपराधों के सात स्कंधों का आशय खूब खोलकर समझाया करते थे। वे समझते थे कि इस लोक के अधिवासियों के बडे-से-बड़े पाप भी शील की वृद्धि से दूर हो जाते हैं, और मेरी विनय की सम्यक् शिक्षा से छोटे-से-छोटे दोष भी नष्ट हो जाते है।

जब गुरुदेव लोगो को उसकी योग्यताओं के अनुसार उपदेश तथा परित्राण देने की इच्छा करते, तब वे उन सब युक्तियों को छोड देते जो दूसरे मनुष्य के लिए अतीव उपयुक्त थीं। अन्त में इस धराधाम पर भगवान् का धर्मोपदेश-काल जब समाप्ति को पहुंच चुका और वे अपने कार्य में कृतकार्य हो चुके तब उनका प्रतिबिम्ब शाल वृक्षो की दो श्रेणियो के बीच लोप हो गया। उस समय मनुष्य और देवता की कौन कहे, सांप और प्रेत भी शोकार्त थे। उन सबके आंसुओ से शाल-तरुओ के नीचे की भूमि भीगकर कीचड हो गई। जिनको सबसे अधिक

---

1 नौ श्रेणिया पूर्वोक्त तीन अवस्थाओं के उप-विभाग हैं, इनमें से प्रत्येक तीन-तीन उपविभागो में बाटी गई है।

2. जीवन के छ' मार्ग ये है—मानव, देव, प्रेत, तिर्यग्योनि, असुर और नरक।

3. पचवर्गीय भिक्षुओ अर्थात् कौडिन्य, वप, भद्रिय, महानाम और अश्वजित को ही बुद्ध ने पहले-पहल ऋषिपत्तन में धर्म्मचक्र का उपदेश दिया था।

4. बुद्ध का अन्तिम शिष्य सुभद्र था।

शोक हुआ उन्होंने अपने सारे शरीर पर रक्त के आसू बहाए, जिससे उनके शरीर कुसुमित पेडों के समान दिखाई देते थे।

हमारे गुरुदेव के निर्वाण प्राप्त करने के अनन्तर धर्म के योग्य उपदेशक प्रकट हुए। उन्होने एक बार बिहार की गुहा मे और दूसरी बार वैशाली मे इकट्ठे होकर बुद्ध के पवित्र ग्रथो का सग्रह किया। विनय के बडे-बडे सरक्षको मे अठारह भिन्न-भिन्न विभाग उत्पन्न हो गए। अनेक मतो और ऐतिह्यों के अनुसार भिन्न-भिन्न सम्प्रदायो के त्रिपिटक एक-दूसरे से भिन्न है। इनकी भिन्नता छोटी-छोटी बातो पर है।

प्रत्येक सप्रदाय के अपने ऐतिह्य है जो गुरु से शिष्य को मिले हैं। ये ऐतिह्य एक-दूसरे से भिन्न हैं और प्रत्येक की पूरी-पूरी व्याख्या है, जिससे वे आपस मे मिश्रित नहीं हो सकते।

आर्यमूलसर्वास्तिवादनिकाय निम्न परिधान के अचल को सीधा, और दूसरे तीन निकाय इसे बेडौल काटना बताते है। 2. वही निकाय निवास के लिए अलग-अलग कमरों की आज्ञा देता है, परंतु आर्य-सम्मिति-निकाय रस्सियों के बनाये हुए घेरे में जुदा-जुदा बिछौने नियुक्त करता है। 3. आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय भिक्षा सीधे हाथ मे पकड़ लेता है किन्तु आर्यमहासंघिक-निकाय भिक्षा रख देने के लिए स्थान पर चिह्न कर देता है।

पश्चिम (भारत) मे इन निकायो के अनेक उप-सप्रदाय हैं। इनके मूल भिन्न-भिन्न हैं। परंतु निरन्तर ऐतिह्य के मुख्य निकाय केवल चार हैं। वे आगे दिए जाते है—

1.

आर्यमहासघिक-निकाय सात भागो मे बंटा हुआ है। इसके तीन पिटकों मे से प्रत्येक मे 1,00,000 श्लोक, अथवा सारे 3,00,000 श्लोक है।

2.

आर्यस्थविर-निकाय के तीन उपविभाग है। इसके तीन पिटको में श्लोकों की संख्या पूर्वोल्लिखित निकाय के श्लोकों के ही बराबर है।

3.

आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय सब पदार्थो के अस्तित्व को मानता है। यह निकाय चार उपविभागों में विभक्त है। इसके तीन पिटकों मे श्लोकों की संख्या उतनी ही है जितनी कि ऊपर के निकाय में है।

4.

आर्यसम्मिति-निकाय के चार उपविभाग है। इसके त्रिपिटकों मे 2,00,000 श्लोक

है, केवल विनयपिटक के ही श्लोको की सख्या 30,000 है. परतु यह बात ध्यान देने योग्य है कि इस विभाग के विषय में इन निकायों के कुछ ऐतिह्यो मे भारी मतभेद है।

भारत के पाचों खडो और दक्षिण-सागर के द्वीपो मे लोग चार ही निकाय बताते है। परंतु भिन्न-भिन्न स्थानो में प्रत्येक निकाय के भक्तो की संख्या भिन्न-भिन्न है।

मगध (मध्य भारत) मे सर्वास्तिवाद-निकाय का ज़ोर सबसे ज्यादा है। लाट[1] ओर सिधु मे अधिक अनुयायी सम्मितिनिकाय के, उत्तर-खड (उत्तर-भारत) मे सब लोग सर्वास्तिवाद-निकाय के माननेवाले हैं, यद्यपि कभी-कभी महासघिक-निकाय के अनुयायी भी मिल जाते है। दक्षिण (दक्षिण-भारत) की ओर सब स्थविरनिकाय के अनुयायी है, यद्यपि दूसरे निकायो के भक्त भी मौजूद है। पूर्वी सीमान्त प्रदेशो[2] मे चारो निकायो के अनुयायी मिले-जुले हैं।

सिंहल द्वीप (लंका) मे सब आर्यस्थविर-निकाय के अनुयायी है और आर्यमहासघिक-निकाय को अस्वीकार करते हैं।

दक्षिण-सागर के द्वीपों मे—जिनमें दस से अधिक देश है—प्रायः एकमात्र मूलसर्वास्तिवाद-निकाय का ही सर्वत्र प्रचार है। यद्यपि कभी-कभी कुछ लोग सम्मति-निकाय के भी उपासक रहे हैं, और हाल ही में दूसरे दो निकायों के भी थोडे-से अनुयायी मिले हैं। पश्चिम से गिनने पर सबसे पहले पो-लू-शी (पुलूशिह) द्वीप है और फिर मो-लो-यू (मलायू) देश जो कि अब श्रीभोज का (सुमात्रा मे) देश है, मो-हो-सिन (महासिन) द्वीप, होलिंग (कलिंग) द्वीप (जावा में), तन-तन द्वीप (नतूना द्वीप), पेम-पेन द्वीप, पो-ली (बाली) द्वीप, कु-लुन द्वीप (पूलो कानडोर), फो-शिह-पू-लो (भोजपुर) द्वीप, ओ-शन द्वीप और मो-चिया-मैन द्वीप है।

कुछ और भी छोटे-छोटे द्वीप है। उन सबका उल्लेख यहा नही हो सकता। इन सब देशो ने बौद्ध धर्म ग्रहण कर लिया है, और एक मयालू (श्रीभोज) को छोडकर जहा कि थोड़े-से लोग महायान के अनुयायी हैं, बहुधा लोग हीनयान-सप्रदाय के माननेवाले है।

दक्षिण-पश्चिम दिशा में चलने मे मनुष्य (पैदल) एक मास में पोह-नन (कूओ) मे, जो पहले फ़ू-नन कहलाता था, पहुंच जाता है। प्राचीन काल में इस देश के अधिवासी नग्न रहा करते थे। ये लोग बहुधा आकाश (देवताओं) के उपासक थे।

1 लाट शायद राजपूताना या देहली मे कोई स्थान रहा हो। लेसन (Lassen) के मतानुसार 'लाट' राष्ट्र का सूचक है।

2 नालंद विहार से 500 योजन तक पूर्व की ओर जाने पर, सारा देश पूर्वी सीमात कहलाता है।

फिर बाद को, यहा बौद्ध धर्म फैला, परंतु अब एक दुष्ट राजा ने इस धर्म को जड से उखाडकर देश से बाहर निकाल दिया है। अब बौद्ध सघ का यहां कोई भी मनुष्य नही है परतु दूसरे धर्मो के अनुयायी (विधर्मी) मिले-जुले रहते है। यह प्रदेश जम्बूद्वीप का दक्षिणी कोना है, और समुद्र के द्वीपो मे से एक द्वीप नही। पूर्वी हिसया (अर्थात् चीन) मे बौद्ध जनता बहुधा धर्मगुप्त-निकाय की अनुयायी है, किन्तु क्वन चुग (शेन-सी) मे कुछ स्थानो के लोग, प्राचीन काल से, महासघिक-निकाय और धर्मगुप्त-निकाय दोनों को मानते हैं। प्राचीन काल मे किअंग-नन (यग-ट्ज़ी-किअग नदी के दक्षिण) और लिंग-पियाओ (श्रेणी अर्थात् क्वग-तुग और क्वग-सी के दक्षिण) मे सर्वास्तिवाद-निकाय फैल चुका है। जब हम कहते है कि विनय दशाध्याय अथवा चतुर्वर्ग मे विभक्त है तव ये नाम विशेषत (उन) निकायों के ग्रहण किए हुए मूलग्रंथों के भागो अथवा गट्ठो से लिये गए है। इन निकायो की विशिष्टताओ और इनकी शिक्षा के प्रभेदो की ध्यानपूर्वक परीक्षा करने से पता लगता है उनमे बहुल-सी बातो पर मतभेद है। जिस बात को एक महत्त्व देता ह उसे दूसरा वैसी नहीं समझता, और जिसकी एक में आज्ञा है उसका दूसरे मे निषेध है।

चार निकायों में से कौन-से महायान के साथ अथवा हीनयान के साथ लगाने चाहिए, इसका निश्चय नही है।

उत्तर-भारत में और दक्षिण-सागर के द्वीपो मे लोग प्रायः हीनयान के अनुयायी है, परतु चीन मे महायान के भक्त है। दूसरे स्थानो मे कोई एक के अनुसार चलता है और कोई दूसरे के अनुसार।

जो लोग बोधिसत्त्वो की उपासना करते और महायानसूत्रो को पढते हे वे महायानी, और जो ये बाते नही करते, वे हीनयानी कहलाते हैं। महायान के केवल दो प्रकार है। पहला माध्यमिक और दूसरा योग। इनमें से पहले का मत है कि जिसे सामान्यत. अस्ति कहते हैं वह वास्तव में नास्ति है, और प्रत्येक वस्तु, माया के सदृश, एक खाली आभास-मात्र है। दूसरा कहता है कि वस्तुत अन्तःविचारो के सिवा बाह्य वस्तु कोई नहीं, और सब वस्तुओं का अस्तित्व केवल हमारे मन मे ही हे। (शब्दशः—सब वस्तुए केवल हमारा मन ही हैं)।

वे दोनों दर्शन पूर्णतः आर्यमत के अनुसार है। दोनो समान रूप से सत्य के सदृश हें और हमें निर्वाण तक ले जाते है। दोनों का लक्ष्य क्लेश का विनाश और प्राणि-मात्र का उद्धार है। यदि हम इनमे से किसी एक के अनुसार आचरण करेगे तो दूसरे किनारे (निर्वाण) पर जा पहुंचेंगे, और यदि हम उनसे मुख मोड लेगे तो पुनर्जन्मरूपी महासागर मे डूबे रहेगे। दोनों पद्धतियां समान रूप से भारत मे सिखाई जाती हैं, क्योंकि आवश्यक बातो मे उसका आपस में भेद नही है।

हमारे अभी 'ज्ञान-चक्षु' नहीं। हम उनमे सच और झूठ को कैसे पहचान सकते हैं ?

हमे ठीक वैसे ही करना चाहिए जैसे कि हमारे पूर्वाधिकारियों ने किया है, और उनके विषय मे अपना निर्णय करने का कष्ट नही उठाना चाहिए।

विनय की पुस्तके क्रमश. परिवर्धित की गई थी, परन्तु वे दुर्बोध हो गई। यहां तक कि उनका पारायण एक पूरे जीवन का काम हो गया है। गुरुओं ओर शिष्यो ने एक निराली रीति ग्रहण की है। वे प्रकरण को छोटे-छोटे खडो मे अलग करके उन पर संवाद करते है। वे अपराधो से सबध रखनेवाले लेखो का वर्णन, उन्हे वाक्यो मे विभक्त करके, करते है। इस रीति में जितना परिश्रम होता है, उसके लिए इतने बडे उद्यम का प्रयोजन है जितना कि एक पर्वत बनाने के लिए चाहिए; और लाभ उतना ही कठिन है जितना कि विस्तीर्ण महासागर से मोतियो की प्राप्ति। ग्रंथकर्ताओ को यत्न करना चाहिए कि उनके वर्णित विषय को पाठक सुगमतम से समझ जाए। उन्हें ऐसी गूढ़ भाषा का व्यवहार न करना चाहिए जिसके लिए बाद को, दूसरो के उपहास करने पर, समाधान की आवश्यकता हो।

जब नदी मे बाढ़ आने से उसका जल गहरे कुए में भर गया हो उस समय कुए का शुद्ध जल पान करने की इच्छा रखनेवाला प्यासा मनुष्य अपने जीवन को जोखिम में डालकर ही जिस प्रकार उसे प्राप्त कर सकता है, उसी प्रकार बहुत-से लोगो के हाथो मे से गुज़रने के बाद विनय का ज्ञान प्राप्त करना कठिन है। परतु विनय के केवल मूल पाठ को देखें तो वहा यह बात नही।

छोटे अथवा बड़े अपराधों का निर्णय करने के लिए केवल थोड़ी-सी पक्तिया ही पर्याप्त होती हैं। अभियोगों का निर्णय करने के निमित्त उपायो की व्याख्या मे मनुष्य को आधा दिन भी नहीं लगता। भारत और दक्षिण-सागर के द्वीपो मे भिक्षुओ मे अध्ययन का व्यापक उद्देश्य ऐसा ही है। दिव्य भूमि (चीन) मे दूसरो के प्रति कर्तव्य (औचित्य) की शिक्षा का प्रचार सर्वत्र है; लोग अपने राजा तथा अपने माता-पिता का पूजन और सेवन करते है, वे अपने बडो का आदर करते और उनके अधीन रहते हैं। उनका जीवन सरल और उनका चरित्र शात और प्रिय है। वे वही लेते है, जिसे ईमानदारी से ले सकते हैं।

पितृभक्त सतान और राजभक्त प्रजा बड़ी सावधानी से कार्य करती ओर मितव्ययी है। सम्राट् अपनी करोडो प्रजाओं पर हितभाव से शासन करता और उषाकाल से अभागे लोगो[1] पर बड़े यत्न से (शब्दशः—'अपनी चिंता और जोर डालकर') दया करता है। उसके मत्री, जिनके मन सारी-सारी रात राज्य-कार्यो

1 शब्दार्थ—'जेसे वे खाइयो में गिरे हो।'

पर विचार करते रहते है अपने कतव्य को आदर (शब्दश हाथ बाधे) और ध्यान (शब्दशः—'मानो बर्फ़ पर चल रहे हो') से पूरा करते है।

कभी-कभी एक सम्राट् त्रियान[1] के लिए बडा मार्ग खोल देता और सैकडो पीठे तैयार करके अध्यापको को निमंत्रित करता है। कभी-कभी वह अपने सारे राज्य में चैत्य वनवाता है ताकि समस्त बुद्धिमान् लोग अपने मन को बुद्ध-धर्म्म की ओर प्रवृत्त करे। अथवा वह अपने राज्य मे यत्र-त्रत सघाराम बनवाता है ताकि सभी अज्ञानी अपने पुण्य को परिपक्व करने के लिए वहा जाकर उपासना करे। किसान अपने खेतों में हर्ष से गाते और व्यापारी अपने पोतो पर अथवा अपने छकड़ो पर आनन्द से राग अलापते है। वास्तव मे कुक्कुटो की पूजा करनेवाले लोग (अर्थात् कोरिया), हाथियों का अभिवंदन करनेवाले लोग (भारत) और चिन-लिन (शब्दार्थ, स्वर्ण-प्रतिवासी) तथा यू-लिन (शब्दार्थ, रत्न-पर्वत) के प्रदेशो के अधिवासी सम्राट् की सभा में आकर पादवदन करते है। हमारे लोग शात अवस्था मे शातिपूर्वक अपना कारबार करते हैं (अथवा 'शांति और सुख हमारे उद्देश्य है'), और प्रत्येक बात ऐसी पूर्ण है कि उसमें और बुद्धि की गुजाइश नही।

जिन चीनी भिक्षुओं ने घर-बार छोड़ दिया है, वे नियमो का पालन करते और व्याख्यान देते है। शिष्यगण गभीरतापूर्वक अध्ययन करते और अपने-अपने गुरुओं के पढाए हुए अतीव गहरे सिद्धातो को समझते हैं। ऐसे भी लोग है, जो सांसारिक बधनों से मुक्त होकर किसी गहरी दरी मे एकांतवास कर रहे है। वहा वे अपने विचारों को शांत करने में लगे हुए, पथरीली नदी के जल से मुंह धोते ओर वृक्षाकीर्ण वनों में बैठते है। परंतु ऊपर से चले आनेवाले कुछ अशुद्ध उत्थाओं के कारण विनय के नियम की हानि हुई है, और नित्य दोहराई हुई भूलें रीतिया बन गई है, जो कि मूल सिद्धांतों के विपरीत है। इसलिए, आर्य-शिक्षा और भारत मे वस्तुतः प्रचलित बड़ी-बडी रीतियों के अनुसार, हमने बड़ी सावधानी से आगे दिए लेख लिखे है। इनकी सख्या चालीस है, और मैने इन्हे चार ग्रंथ-खंडों मे विभक्त किया है। इसका नाम है 'नन-है-ची-कुएई-नै-फा-चूअन', अर्थात् 'दक्षिण-समुद्र से स्वदेश भेजा हुआ पवित्र धर्म का इतिहास।' इसके साथ मै आपके पास अपनी एक दूसरी रचना, 'ता-त' अग-सी-यू-कू-फ़ा-कओ-सेंग-चू 'अन' अर्थात् 'उन विश्रुत भिक्षुओं के वृत्तांत जिन्होने महा 'त-अग' कुल (618 ई.—907 ई.) के अधीन धर्म-जिज्ञासा के लिए भारत और उसके समीपवर्ती देशों की यात्रा की थी;' और कई सूत्र और शास्त्र, सब मिलाकर, दस पुस्तकें भेज रहा हूं। मुझे आशा है कि पूज्यपाद भिक्षुगण, जो अपने धर्म-प्रचार में तत्पर हैं और जिनमें किसी प्रकार का

1 धर्मसग्रह के अनुसार, श्रावकयान, प्रत्येक—बुद्धयान और महायान।

पक्षपात नही बुद्ध भगवान् की शिक्षा तथा आचरण के अनुसार विवेकपूर्वक आचरण करेंगे, और ग्रथकर्ता को तुच्छ समझने के कारण इस ग्रथ में वर्णित महत्त्वपूर्ण नियमो की उपेक्षा न करेंगे।

मैंने उन्हीं धर्मानुष्ठानों का मोटा-मोटा वर्णन किया है जो कि विनयवाद से मिलते है, और आपके सम्मुख उन्ही शब्दो को रखा है जिनका आधार मेरे आचार्यों के प्रमाण हैं। यदि आप मेरे इस लेख को पढेगे तो एक भी पग चलने के बिना, आप भारत के समस्त पचप्रदेशों की यात्रा कर लेगे, और एक ही मिनट देने पर आप भावी सहस्रो युगो के लिए तमोमय मार्ग का दर्पण बन जाएगे।

इस पुस्तक में वर्णित सभी बातें आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय के अनुसार हैं, इसलिए दूसरे निकायों की शिक्षा के साथ इन्हे गडबड न कर देना चाहिए। इस ग्रंथ के विषय प्रायः दशाध्याय के विनय से मिलते है।

आर्यमूलसर्वास्तिवाद-निकाय के तीन उप-विभाग है—1. धर्मगुप्त; 2. महीशासक; 3. काश्यपीय।

1

"एक कासापन मिले बाबा,... एक कासापन मिले बाबा, कोई...इस जीव को रोटी का टुकडा दे अय्य वा।"

पुकारने वाले उस व्यक्ति की पीठ सर्वथा झुक गयी थी। लाठी के सहारे, वह कठिनाई से एक-एक डग चल रहा था। पैर लडखडाते थे। हाथ कापते थे और सिर किसी वायु-विकम्पित फुनगी-सा हिल रहा था, ग्रीवा पर वह भार रूप प्रतीत होता था। बोल निकलने के साथ ही मुंह से बहुत-सी लार टपक पड़ती, जिसे उसके रूखे चीथडे तुरन्त पी जाते। मक्खिया उस पर भिनभिना रही थीं।

उस अद्भुत जीवधारी के भौह श्वेत थे, और दृष्टि काली पड़ गयी थी।

वह इस प्रकार चल रहा था, मानो धरती पर कुछ खोज रहा है। पीछा करते नटखट लडकों मे से एक ने पूछा—"बाबा, क्या खोजता है ?"

"अपनी युवावस्था"—दूसरा बोला, और शेष सब खिलखिलाकर हंस दिए।

"ले बाबा, यह कासापन"—दल के बालक ने उस पुरुष के हाथों में ककर रख दिया। कंकर का भान होने पर, बावा ने अपनी लकुटी चलाई, पर वे चपल बालक क्या उसकी पहुंच में आते ? उन्होने जोर से अट्टहास किया और तालिया बजाई।

राजमार्ग पर काफी भीड़ थी।

हमारा रथ धीरे-धीरे उद्यान-भूमि की ओर बढ़ रहा था। मैं कब से बाबा को देख रहा था—

"रथ रोको," मैने कहा।

"... ...."

"आर्य छन्न, अश्वों को अविलम्ब रोको।"

राजरथ रुक गया। मै नीचे उतर पडा।

जब से उस देहधारी को देखा, मेरे जी में न जाने क्या हो गया था। तन मे कम्पन भर गया था। मन में सिहरन थी। ऐसा पुरुष तो मैंने आज पहली बार देखा था।

'क्या है कुमार ? छन्ना ने पूछा।

"देखो, देखो आर्य, इस व्यक्ति को क्या हो गया है ? इसका क्या खो गया है ? बालक कहते हैं कि इसका यौवन खो गया है, तुम ढूढ दो न छन्ना।"

आर्य छन्न कैसे है, वे तो नितान्त मौन रहे।

मेरी आखो मे आसू भर आए। गद्‌गद कंठ से पूछा,–"श्रेष्ठ छदक, कहो न, यह पुरुष कौन है ?"

सम्भवत· मेरे अश्रु-दल देख आर्य ने उत्तर दिया–

"यह वृद्ध है कुमार।"

"वृद्ध क्या होता है, आर्य ?"

"जरा-जर्जरित जीव को वृद्ध कहते है। इसे अब अधिक दिन नहीं जीना है।"

"सौम्य छन्न, इसके केश श्वेत क्यों हो गए हैं ?"

"आयु के कारण।"

"आयु क्या वस्तु है आर्य ?"

"कालक्षेप को आयु कहते है कुमार।"

"इसके दात कहा गए, और इसकी पीठ औरों के समान सीधी क्यों नहीं है आर्य ?"

"यह जरावस्था का धर्म है कुमार।"

"यदि वह धर्म है, तो क्या सबको धारण करना पड़ता है ?"

"यथार्थ है देव।"

"अय्य छन्न, क्या तुम भी एक दिन ऐसे हो जाओगे ?"

"हा कुमार।"

–और अब तो छन्दक के मुख पर वेदना-भाव स्पष्ट झलक आया। उसकी दृष्टि में भी करुणा भर आई।

"और क्या मैं भी बूढ़ा हो जाऊगा, क्या यह अनिवार्य है ?"

"देव ! आप, हम और सभी मनुष्यों के लिए जरावस्था है, जो अनिवार्य है।"

मै तो स्तब्ध रह गया। निष्कम्प दीपशिखा-सा अचपल जलता रहा। मेरे सम्मुख अपनी जरावस्था का चित्र घूमने लगा–

टेढ़े-मेढ़े झुके दंड का सहारा लिये चल रहा हूं..सारे अंग शिथिल पड गए है, एक-एक पग लडखडाते है... श्वेत केशी हू। अरदन मुख से लार टपकती है। मक्खियां मडरा रही है। और सबसे अधिक कष्टदायी है कि उत्पीडक, दुप्ट, वाचाल बालक मेरी हंसी उड़ा रहे हैं। हाथ मे कासापन के नाम पर ककर रख जाते हैं। पीछे से अन्तरीय खीचते है... बारम्बार पूछते है...बाबा, तेरी अम्बपाली कहां गई ?

मैने अपने मुख पर हाथ फिराया..।

बालवृंद का सुस्पष्ट हास और करतल-रव मेरे समक्ष प्रतिध्वनित-आलोकित हो उठा। मै अपने ही बस मे न रहा। क्षिप्रतापूर्वक राजरथ में आरूढ हुआ।

"भद्र, बस उद्यान जाना रहने दो। रथ तुरन्त लौटा लो।"

"कुमार को क्या हुआ है ?"—छन्दक व्यथित हो उठा।

"कुछ नहीं छन्न, घबराओ नहीं। रथ हेमन्त-प्रासाद लौटा लो।"

छन्दक ने कहा—"जो आज्ञा देव।"

रथ लौटकर चलने लगा।

—"मैं वृद्धावस्था को मिटा दूंगा।" मैंने मन-ही-मन कहा।

मैने पूछा—"छन्दक, वह वृद्ध रोटी-रोटी क्यों पुकारता था ?"

"वह भूखा था देव।"

"वह भूखा क्यो रहता है, आर्य ?"

"क्योंकि उसके पास खाने को रोटी नहीं है।"

"रोटी नहीं है तो भात क्यों नहीं खाता है ?"

"उसके पास न रोटी है, न भात। खाने को कुछ भी नहीं है।"

"है !... आर्य छन्न, मिथ्या तो नहीं कहते ?"

"नहीं, मैं कुमार का सेवक हू, कुमार से मिथ्या-भाषण कैसे करूगा ?"

"तो क्या ऐसे भी व्यक्ति हैं जिन्हें रोटी दुर्लभ है ?"

"कुमार देव का कथन यथार्थ है।"

"फिर वे भूखे ही रहते होंगे, भूखे ही सोते होंगे ?"

"हा, कुमार !"

—"मै भूख को मिटा दूगा।" मैंने अपने निश्चय से कहा।

"और भद्र छन्दक !"

"आज्ञा हो आर्य !"

"वह कार्षापण द्रव्य क्यों मागता था ?"

"खाद्य-क्रय के निमित्त।"

"तो क्या खाद्य का क्रय-विक्रय होता है ?"

"परम भट्टारक महाराज के राज्य मे भी होने लगा है।"

"खाद्य-विक्रय तो पाप है छन्ना ?"

"पाप है कुमार।"

"तो, परम भट्टारक भी पाप के भागी होंगे, छन्दक ?"

"ऐसा न कहिए कुमार, ऐसा सोचना भी पाप है। शान्तम् पापम्, शान्त पापम्।"

—"मै खाद्य-विक्रय को मिटा दूगा।" मेरी मुट्ठिया बध गई।

"कुमार को क्या हो गया है ?"

भोले छन्ना के कोष में इसके अतिरिक्त दूसरा प्रश्न कहा ?

यशोधरा नही मानी। मुझे अमरु-आवृत्त आसंदी पर बैठना ही पडा।

"यश, क्या सचमुच रात हो आई है ?"

"आर्यपुत्र विश्राम करे, दो पहर रात्रि बीत चुकी है।"

"यशोधरे जीवन मे विश्राम नही है।"

"देव को दासी क्या उत्तर दे ?"

"मैने कई बार कहा आर्ये, अपने को दासी न कहो। तुमने एक क्षण भी न माना।"

"दुखी न हो देव, मेरे देवी कहाने का समय अभी नही आया। लगता है वह शुभ दिन दूर नही।"

और मैने देखा, यशोधरा के अभिनील नेत्रो में बडे-वड़े आसू डबडबा आए है। बडी देर से जो रुलाई वह रोके बैठी थी, एक ज्वार की तरह उठी, और उस कचनागी की वेत्रयष्टि-देही को झकझोर गई। बोली—"देवी के रहते आज आर्य इतने अवसन्न क्यो हैं?"

"सुभगे, सायंकाल को राजोद्यान जाते समय, मैंने एक त्रस्त, दुर्बलताग्रस्त व्यक्ति देखा। आर्य छन्दक ने बताया, यह वृद्ध है। और सुनो तो यशोधरा, छन्दक ने कहा—"सबके लिए वृद्ध होना अनिवार्य है। तब से मैं सोच रहा हूं, वार्द्धक्य को कैसे मिटा दूं ?"

"देव, अपराध क्षमा हो, घटने-बढने, बनने-मिटने और गिरने-उठने की सतत क्रिया पर ही ससार निर्भर है।"

"उचित कहती हो...यश .."

"रुक क्यो गये आर्य ?"

"और यश..."

"कहिए नाथ।"

"मै सोचता हूँ..."

"देव सोचते हैं, क्या सोचते हैं ?"

"मै सोचना था यशोधरा, एक दिन तुम भी वृद्धा हो जाओगी। तुम्हारे ये सावन-घन से सघन केश श्वेत हो जाएगे, यशोधरा ! तुम्हारे ये आश्विन के निरभ्र नभ-से निर्मल-नयन धुधले-मंद हो जाएगे, यशोधरा ! तुम्हारे ये पद्मपुष्पों से कपोल मुरझा जाएंगे, यशोधरा ! ये अविवर दंत एक-एक कर गिर जाएगे। मुख से..." मैं आगे कुछ न कह सका।

पर, यशोधरा रुक न सकी, बोली—"कपिलवस्तु की राजवधू जरावस्था से नहीं डरती, कुमार ! जो अवश्यम्भावी है, उसके लिए सोच क्या ? उसके लिए क्या शोक और क्या अनुताप देव ?"

"किन्तु, वह भी क्या जीवन, जिसमें जरावस्था हो ?"

"क्षमा हो देव, जीवन ही मे जरा आती है। शैशव, यौवन और जरा—कालगति के विराम चिह्न है।

"मनुष्य अवश्यम्भावी दुर्दान्त महाकाल की गति फेर देगा।"

यश का मन लजवन्ती-सा लजा गया। बडी-बडी पलके उन्मद बदलियां-सी झुक आई, बोली—"देव, रात बहुत बीत चली है।"

"तुम जाओ यशोधरा, राहुल जग जाएगा।"

"देव !"

"देवि, तुमने एक दिन भी मेरी बात नहीं मानी।"

"आर्यपुत्र, शैवालिका भोजन लिये कब से खड़ी है।"

और 'भोजन' शब्द ने मुझ पर वज्रवार किया—"हा, हां ... यशोधरे ! वह वृद्ध रोटी का टुकडा माग रहा था। वह रो-रो कर 'रोटी-रोटी' पुकार रहा था। 'एक कासापन दो, बाबा एक कासापन दो...रोटी का टुकड़ा मिले अय्य बा, रोटी का टुकडा।' मधुकठिनि, उसका दीन स्वर अब भी मेरे कानों मे गूंज रहा है। उस भूखे वृद्ध की जरा-जीर्ण प्रतिमा मेरी आखों के सम्मुख प्रत्यक्ष खडी है राहुलमाता। ..

"...वह अभागा अब भी भूखा होगा। तुमने कभी सोचा यश, लोग भूखे क्यो रहते है ? भूखे रहने को मजबूर क्यो है ?. मैने छन्ना से कहा था, आर्य छन्न, राजकोष मे, कहते है अनन्त धनराशि है। कोटि-कोटि स्वर्ण-रोप्य मुद्राए है, इस वृद्ध को कुछ दिला देना।

"तब छन्दक ने उत्तर दिया...'कोष पर राज-परिषद का अधिकार है।' तो मैने पूछा . राजपरिषद लोगों को भूखा मारेगी ?"

"ऐसा न कहिए नाथ ! राज-परिषद सर्वोपरि सत्ता है, उसके अधिकार के विषय मे प्रश्न उठाना, ईश्वर के अस्तित्व को चुनौती देने के तुल्य है।"

"छन्दक ने यही कहा था, तन्वि ! यह छन्ना, यह न करो, वह न करो, यह न कहो, वह न कहो आदि के अतिरिक्त और भी कुछ जानता है, या नही ?

"तब मैंने कहा. 'मेरा हीरक-हार इसे दे दो छन्दक।' तो, उसकी विनम्रता बोली...'कठोर राजाज्ञा है कि आप बाह्य व्यक्ति से न संभाषण करे, न अन्य व्यवहार-सम्बन्ध ही रखे।'

"...तो, क्या चारुलोचने, हम राजाज्ञा के बंदी हैं ? क्या सिद्धार्थ कुमार किसी सत्ता के अनीतिपूर्ण आदेश का दास है ? क्या मै इसलिए राजपुत्र हू कि लोग भूख से तडपें ? तुम. . तुम यह क्या कहती हो कि राजाज्ञा लोकहित के लिए प्रकाशित होती है ! तो तुम्ही बताओ, लक्ष-लक्ष जनता को भूखा रखने में प्रजा का क्या हित देखा गया है ? मैं स्पष्ट सुन रहा हू यशोधरे, इसमे किसी अन्यायी वर्ग का लोभ रो रहा है। तुम मानो या न मानो, यशोधरा, मैं स्पष्ट देख रहा हू कि जन-जन की

रोटी और रोटी के अधिकार निहित स्वार्थ वर्ग विशेष द्वारा मुष्टिबद्ध है

"सुकेशि, रात बीतनेवाली है, अन्धकार जानेवाला है, और नया उजेला आने वाला है। कल का सूरज उगने दो, मै कहता हूँ, सिद्धार्थ कहता है, कल का सूरज उगने दो, मै अपनी आवाज उठाऊगा। जिनके पेट खाली हे, और जिनके अधिकार छिन गये है, उन सबको लेकर मै परम भट्टारक के प्रासाद मे प्रार्थी होऊगा। यदि महाराज और परिषद ने मेरे विनम्र, निर्वैर निवेदन को स्वीकार किया तो ठीक, अन्यथा, अस्वीकार किया तो याद रखो यशोधरे, मै तुम्हारे आभिजात्य-वर्गो मे वह आग लगाऊगा जो सहस्राब्दियों तक नही बुझ सकेगी। सुहासिनि, मैं श्रेष्ठियों की उस सैन्य-सुरक्षित बद्ध मुष्टि को तोड दूगा, और रोटी को आजाद करूगा .

"विकल न हो राजकन्ये, सिद्धार्थ पागल नही हो गया है। प्रस्तुत प्रश्नो से पलायन करना जीवन नही है। देवि, देवि, वह वृद्ध इस समय कहा होगा ? देखो न, कितनी प्रखर हिमवर्षा हो रही है। नीचे द्रुम-वल्लरिया तुषारपात के आघात से विच्छिन्न पड़ी हैं। गगनागन में तारे कॉप रहे है। तुम्हारे अरुण अधरों पर प्रकम्प की लहर व्याप्त है। यशोधरा, कहो उस वृद्ध की क्या दशा होगी ? उसके तन पर मात्र एक अधोवसन था। न जाने वह कहां ठिठुर रहा होगा !

"जिसमे एक भी प्राणी भूखा है, वह कैसा जनतन्त्र है ? जिसमे एक भी व्यक्ति नगा है, वह कैसा गणतन्त्र है ?

"मै...मैं राजाज्ञा से द्रोह करूंगा। मै उस वृद्ध के पास जाऊगा और उसके बुढापे को जवानी मे बदल दूगा। दारिद्र्य से झुका उसका सिर द्रोह से तन जाएगा। मध्यदेश का भावी सम्राट् एक साधारण व्यक्ति से मिलने मे असमर्थ ! वाह रे सम्राट् ! ह ..हं...हं..., देवि, मैं भूख को मिटा दूंगा . . मैं आयु की अवधि को मिटा दूगा।

"परम भट्टारक प्रातः स्मरणीय, महामहिम महाराज शुद्धोधन के राज्य में जहा सुरापी सामन्त और व्यभिचरित श्रेष्ठीगण प्रमाद प्रमत्त विचरते है, शाक्य-वधु, वहा वृद्ध और अबल-अपाहिज रोटी-रोटी को तरसते है, भूखा रहने को बाध्य है , मर जाने को मजबूर है। उत्तुग अट्टालिकावन्ती कपिला में, जहा कुल कन्याये प्रतिपल परिधान पलटती है, वहा मनुष्य अर्द्धनग्न भटक रहा है ..और मैं कहता हू, आर्यावर्त्त की अभंग एव परम पवित्र न्याय परम्परा के नाम पर कहता हूं, इस पुजीभूत पाप का भार पुण्यश्लोक परम `भट्टारक पर है...मुझ पर है, और यशोधरे, तुम पर हे .और राहुल पर है और छन्दक पर है, और इस शैवालिका पर है, उस जीवान्तक देवदत्त पर है.. शैवालिके...शै वा लि के. भोजन का थाल लौटा ले जाओ, शैवालिके, परम-भट्टारक चक्रवर्ती सम्राट् जनता को भूखे मारने के अपराधी हैं। जाओ, जाओ, नगर-नगर, घर-घर और चौराहो पर घोषणा कर दो कि समस्त धर्मभूमि के भूखे, भिखमगे और अछूत नर-नारायण इस अपराधी सम्राट् का न्याय करेगे...करेगे न, राहुल माता ?

"शैवालिके ! तुम्हारी स्वामिनी . अहा. .देवी यशोधरा इसलिए सुवेशधारणी

सदलकृता है कि कोटि-कोटि निस्सहाय नर-नारी नग्न रहने को बाध्य कर दिए गये हे। कपिलवस्तु के इस नभचुम्बी वातायन से मै दसो दिशा के दासो को पुकार-पुकारकर कहता हू कि ओ रे. .ओ .तुम कैसे दास हो, जो यह भी नही जानते कि इन स्वामियो, स्वामिनियो और स्वामी-पुत्रो की लालिमा मे तुम्हारा अपना अभिशोषित लहू छटपटा रहा है ! वे लाख-लाख प्राणी, जिनके मास-मज्जा से राजमहल आलोकित हे, अव अधिक दिन बलि न वनेगे। जिस पल वे एकत्र हो समवेत स्वर मे अन्न, अधिकार और वस्त्र का विजयघोष लहराएगे, उस दिन देखना यशोधरा, सिहासन भूलुठित होगे। .और राजमुकुटो की नीलामी होगी। देवि, एक न एक दिन महाराज, महारानी ओर नवजात युवराज को जनसमूह के आगे-आगे विधवा कपिलवस्तु के राजमार्गो पर नगे पैरों चलना पड़ेगा और 'जनता की जय' कहने को बाध्य होना पडेगा। पार्षद, पडित और वेदपाठी विप्रगण अब प्रजा को अधिक दिन भ्रम मे न रख सकेगे। मे कहूगा—द्रव्य मे नही, दरिद्र मे नारायण है। स्वामी नही, जो सबका सेवक है, वही हरि-जन है। बदलेगा, युग, दशा, दिशा और व्यवस्था बदलेगा, अवस्था बदलेगा। प्रारब्ध, परमेश्वर और पाप-पुण्य की परिभाषाये आमूल परिवर्तित होंगी। यशोधरे, काप रही हो ? अभी तो वह दिन दूर है...

"जरा निकट बैठो देवबाला, मुझे न जाने क्या हो गया है। आज की रात्रि मुझसे न जाने क्या-क्या कह रही है। लगता है, कहीं दूर से कोई मुझे पुकार रहा है।... हे पुकारनेहारे, मैं आऊंगा, जरूर आऊंगा...

"देवि, निकट सिहद्वार पर शहनाइया बजने लगी, तो क्या भोर हो गया ? मै तुम्हारे रतनारे नयनो की गुलाबी नीद हरनेवाला अपराधी बन गया। दड दो चाहे क्षमा करो।

"शैवालिके, आर्य छन्दक को बुलाओ।

"तुम जाओ राहुलमाता, कपिलवस्तु का भावी युवराज जाग गया होगा। वह राजअम्बा की राह देखता होगा।...जाओ देवि, क्षमा करना ! मेरी त्रुटिया मन मे न लाना।"

और कोई पदांगुलियां पूजकर, उष्ण ओसविन्दु चढा गयी।

उसके जाने पर, जाने कब तक, मै वैसा ही बैठा रहा।

स्थिर, पर अस्थिर ! मे बैठा ही रहा.. सम्मुख रथ था, राजपथ था, वृद्ध था और मेरे कानों मे गूंज रहा था—

"एक कासापन मिले बाबा...एक कासापन मिले बाबा...कोई इस जीव को रोटी का टुकड़ा दे अय्य बा ?"

मै चौककर उठ बैठा !

2

हम लोग शाक्य है। शाक्य स्वामिपुत्र है। स्वामी क्षत्रिय है, शक्ति के उपासक। एक हाथ मे नाश और दूसरे मे निर्माण लिये शाक्यो ने वसुन्धरा विजय किया है।

कद मे लम्बे, उन्नत-ललाट वृषभस्कन्ध और विशाल-वक्ष, ऐसे इन सिंहवण शाक्यो ने अपने आजानु बाहुओ के धनुप-टकार से दस्युओ का दमन किया और अनेक बार इतिहास के पृष्ठो पर एकछत्र राज्य किया।

फिर भी ये शाक्य न जाने कैसे है, बड़े ही सरल, पर स्वाभिमानी, यो कहो 'दम्भी'। पुरुप इनके कटोर—वर्ग, वर्ण और वैर के विश्वासी। स्त्रिया तृण के समान तन्वगी, किन्तु लोह-शलाका से भी सबल। इन अभगयौवना शाक्य-सुन्दरियो के दो गुण—उनकी मदवन्ती कजरारी आखों में युगान्तरो का सम्मोहन और उनके प्रवाल-सदृश अधरो मे छलाछल रस। एक बार जिसने एक विन्दु पान किया, जन्म-जन्मान्तरो के लिए समझो सुध-बुध भूल गया। इसी मस्ती की खुमारी मे शाक्य लडते थे। फिर हार से अधिक उनकी जीत होती थी। जीत कर फिर लडते, लड कर मरते थे, जीवित होते और फिर मर जाने को बेचेन हो उठते।

मुझे बतलाया गया : अनेक आडे अवसरों पर, विपक्षी को परास्त करने के पूर्व अन्तिम अस्त्र रूप मे शाक्यबाला (गुप्तचर कन्या) समारागण मे लाई गई और उसके एक दृष्टिपात पर शत्रु-सैनिको ने चरणो मे समर्पण कर दिया और उनके शस्त्रास्त्र उस बाला की पगधूलि वन गए।

ऐसी शाक्य-कुल कान्ताओ की कीर्ति जव समस्त आर्यावृत्त में फैल गयी, तो आए दिन उन्हे रानी या दासी बना लेने के लिए शूरवीरों के गले कटने लगे। कुछ शाक्य देश छोड़ विदेश चले गये। उन्हे भाग्य से अधिक भुजवल का भरोसा था। शत्रु की निर्बलता से वे परिचित थे।

शाक्य वर्ण, वश और रक्त की श्रेष्ठता के समर्थक थे। समर्थक ही नही, अन्धभक्त थे। जब सीमान्तक मे जाकर बस गये, तो रक्तशुद्धि का मोह और भय उनमे इतना घर कर गया कि वे अपनी ही कुल कन्याओ का पाणिग्रहण करने लगे। अपनी ही अगमनीया बालाओ से ब्याह रचाने लगे, और इसकी पूर्व कथा यो है—

पुराकाल मे इक्ष्वाकु शाक्यो के परम पितामह थे। इक्ष्वाकु ने अपनी प्रिया मनापा की नखज्योनि मे प्रेम का प्रकाश देखा। मनापा के पुत्र को, जो सबसे छोटा था, राज्य देना स्वीकार किया। उपयुक्त अवसर आने पर मनापा ने अपने सौत-पुत्रो को निर्वासित कर दिया। उल्कामुख, करडु, हस्थिनिक और सिनीसूर नामक चार अग्रज उपस्थित हुए।

ये निर्वासित राजपुत्र हिमालय मे वास करने लगे। जहां एक सुन्दर सरोवर था और पास ही महाशाक्य वन था। इसी वन मे चारो शाक्य बन्धुओ ने अपना डेरा डाला। अत्यन्त सुकुमार और सुन्दर तो वे थे ही, अपना रंग-रूप बिगड़ जाने

के भय से उन्होने वर्षो तक अपनी वहनो से सहवास किया।

और एक दिन राजा इक्ष्वाकु ने अपने महामात्य से पूछा-

"कहां है भो, इस समय मेरे कुमार ?"

बोला वह—

"महाराज, हिमवान के समीप सरोवर के तट पर महाशाक्य वन में है। वही इस समय वे रहते हैं और जाति तथा वर्ण के क्षय-भय से अपनी भगिनियों के साथ सवास करते है।" सुनकर भूपति ने अपने सपूतो की सराहना की।

इससे शाक्यो का रक्त शुद्ध बना रहा या नही, परन्तु शेप सब अशुद्ध हो गया। शाक्य-सन्तान अत्यन्त विलासी, प्रमादी और क्रूर बनी। इस प्रकार उनका कुल-क्षय हुआ। जब कुल-क्षय हुआ, तो उसके परिणाम मे सनातन धर्म का क्षय अनिवार्य था। धर्म-क्षय से समस्त शाक्य समुदाय में वासना, पाप और हिसा बढी। पाप ने वासना को, वासना ने हिसा को वेग दिया। हिंसा ने वैर-विरोध की वृद्धि की, और इस प्रकार यह कुचक्र चलता रहा।

धीरे-धीरे भुवन-मोहिनी शाक्य-वधुए 'भ्रष्ट' हो गई।

कितना कठोर और निष्ठुर शब्द है यह 'भ्रष्ट' और मैं इसे अपने ही आदि पुरुषों के लिए प्रयुक्त कर रहा हूं। न करूं, तो क्या इतिहास को झुठला दू ?

स्वकुल एव जातिघातक बन्धु-वर्ग, इन्द्रियसुख और भोग-लिप्सा—महापातक के प्रणेता बने। अपने ही कुलजनो का वे सहार करने लगे। सुरा, सुन्दरी और साम्राज्य से उनके विनाश का सगम बना।

जब शाक्यो की, शासको की यह दशा थी, तो शासितो की अवस्था का अनुमान सहज लग सकता है।

यों जब धर्म, कर्म, और मर्म की ग्लानि हो रही थी, तव जरूरी हो गया कि मै पुन धर्म की स्थापना करूं। ज्ञान की जोत जलाऊं। अज्ञान का तिमिर दूर करू। अविद्या के स्थान पर विद्या को और दानव के स्थान पर मानव को प्रतिष्ठापित करू।

तभी न सार्थक होगा मेरा नाम 'सिद्धार्थ' ?

3

शोघालिका कहने लगी—

"तब महाराज ने संकेत से अंगरक्षकों को परे कर दिया। और छन्दक से पूछा—'भद्र सारथि ! क्या कुमार उद्यान-भूमि की सैर कर चुका ? क्या वहां की शोभा से वह प्रसन्न हुआ ?'

आर्य छन्दक के मुंह से तो बोल न निकलते थे। किसी प्रकार मानो अपने को वश मे कर, वे बोले—

'कुमार सिद्धार्थ राजोद्यान की सैर को गए ही नही, कृपानाथ ! मार्ग-मध्य से ही लौट आए। मैंने बहुधा अनुनय-विनय की !.'

परम भट्टारक सोच मे पड गए।

उनके प्रशस्त ललाट पर उदित चिन्ता की रेखाएं स्पष्ट दीख रही थी। वंकिम भ्रुओं का सहज सकुचन सुलक्षित था। पूछा–

'भद्र ! जाते समय चिरजीवी सिद्धार्थ ने क्या देखा ?'

यह प्रश्न सुनकर तो, छन्दक असमजस मे पड़ गए ! कुमार, मै झूठ नही बोलूगी, न पिशुनवचन कहना मुझे आता है, न कभी रत्ती-भर 'इधर-उधर' करती हू।.. तो, छन्दक तो सन्न रह गये। उनके दुर्बल तन का कम्पन और मन का परिताप झलकने लगा !

आर्य छन्दक के मौन ने परम भट्टारक को व्यग्र कर दिया। तनिक रोष से पूछा—'बोलो ?'

और देव के श्री मुख से अचानक यह सुनकर मै चौक पडी। शरीर में ठडी लहर दौड़ने लगी। छाती धडकने लगी। देखो न, कुमार ! अभी तक कलेजा काप रहा है। जरा अपना हाथ लाओ—"

"रहने दे शैवालिका, फिर किसी दिन देख लूगा। तेरी धडकन ऐसी-वैसी नहीं कि सहज ही मर जायेगी। पर...तनिक संक्षेप मे कह !" मैने कहा।

"तो कुमार ! मैंने स्तम्भ का कोना कसकर पकड लिया और मुह पर वाम कर धर लिया, कही, डरकर 'ओह' न कह बैठू !..

भयभीत हो छन्दक ने निवेदन किया—'देवपुत्र ने एक जाते हुए वृद्ध पुरुष को देखा।'

'वृद्ध ?'—आर्य-अधिराज चौककर दो पग पीछे हट गए। बोले—

'छन्दक, सिद्धार्थ ने शेषनाग देखा होता तो कोई बात नही थी। छन्दक, सिद्धार्थ ने हिस्र-व्याघ्र का खुला मुख देखा होता तो कोई बात नही थी। भद्र, सिद्धार्थ ने महाकाल के कराल डाढ़ और ज्वालामुखी की गोद देखी होती, तो मै उसे बधाई देता।...किन्तु...किन्तु, हाय् रे अभागे छन्द, जानते हो, किसी वृद्ध भिखारी के दर्शन का प्रतिफल ?"

आर्य छन्दक ने सिर हिलाकर स्वीकार किया।

'तो फिर छन्दक, तुमने राजाज्ञा का उल्लघन क्यों किया ?' महाराज आवेश में थे।

'अपराध क्षमा हो शाक्येन्द्र !'

महाराज के सुतीक्ष्ण, सुसीप-लोचनों मे मुक्ताफल-से जल-दल झलके—'तुम और सिद्धार्थ मुझे समान हो। तुम्हें क्या कहूं छन्ना ?'

छन्दक सिर नवाए रहे।

तब महाराज ने कहा—'जाओ !'

अवसर देख, मै अलिजर की वारि-पूर्नि के मिस प्रकट हो गयी।

'कौन ?'—पीछे मुडकर परम भट्टारक ने मुझे देखा—'शैवालि, तू है ! सुरा तो ला री, बहुत दिन हुए तेरे कुटिल करों से विष की एक प्याली पिए !'

''मै तो कुमार, लजाकर रह गयी। अहो मेरे भाग्य ! . इतने दास-दासी और परिचारक हैं परन्तु महाराज को तो शैवालिका, शैवालिका की ही धुन।...

''जब मैंने पद्मराग मणि के महापात्र का आच्छादन हटाया तो कुमार, सच कहती हू, उसकी गध से मै बेसुध होने लगी। पर महाराज की सेवा की सुध थी, अत मैंने स्वत कहा—'शैवालिके क्या कर रही है ? आज तीस बरस से तू परम भट्टारक की प्रधान परिचारिका है। जिन अगम अन्त:पुरों मे सिन्धु देश की अश्विकाओ-सी प्रमत्त रानिया विहार करती है, उनमे भी तेरा अबाध गमन है। तेरे लिए राज्य के किसी गृह, अन्त:गृह, कक्ष मे प्रवेश निषिद्ध नही।. . यदि तू ही यो अपना कर्तव्य भूल जायेगी !''

''अच्छा, शैवालिके तू थक गयी होगी, शेप वृत्तान्त कल सुनेंगे''—मैने ऊब कर अन्तिम अस्त्र चलाया। शैवालिका को मृत्यु दण्ड स्वीकार पर अपना वाक्यभग नही। कहने लगी—''सचमुच, महामायाजात ! मै विस्तार के पार चली गई। तो, परम भट्टारक ने सागर पति के भेजे अभसार-पात्र से एक घूंट लेकर आदेशा—'नगर नायक !'

''मै दौड़ी-दौडी प्रहरियो के पास गई। उन्हे सूचना दी।

''नगर नायक तत्काल उपस्थित हुए। परम भट्टारक को यथाविधि प्रणाम कर, एक ओर दक्ष मुद्रा में खडे हो गए।

महाराज के हाथ मे पात्र था। क्या कहूँ कुमार, उस अभसार-पात्र मे लहराता सुरा का रग ! मानो किसी गोरी की उजली एड़ियो पर अलक्तक की परछाइया लहरा रही हों। दूसरे घूट पर श्रीमुख ने कहा—'भद्र ! नगर के अशुभ समाचार कहो !'

''वह गरीब चौक पडा। स्तब्ध रह गया।

'नायक, राजाज्ञा-द्वारा नगर मे किसी वृद्ध का प्रवेश वर्जित है। कल सन्ध्या को सिद्धार्थकुमार ने उद्यानभूमि जाते एक वृद्ध पुरुष देखा...वृद्ध ने कैसे प्रवेश किया ?'

नायक चुप रहे।

महाराज के नेत्र अरुण हो गये। रोष के आवेग में अधर फडकने लगे—'वह घृणित, दरिद्र, भिखमंगा वृद्ध राजमार्ग पर, कुलपुत्रों और कुलकन्याओ के लिए सुरक्षित पथ पर, किसकी आज्ञा से विचरण कर रहा था ?'

'अपराध क्षमा हो महाराज...अपराध क्षमा.. महामहिम !'

'अपराध क्षमा नहीं !—प्रहरी, महाबलाधिपति ?'

बलाधिपति के आगमन तक निस्तब्धता रही।...उसे जब महाराज ने विस्फारित आरक्त नयनो से देखा, तो सहम गया। वही कृशागौतमी का प्रेमी...

परम भट्टारक ने बलाधिपति से कहा—'नगर नायक को आजन्म कारावास। परिपद की सम्मति ले लेना।'

नायक को प्रहरी ले चले

तब महाराज ने मेरी ओर देखा। मै समझ गयी कि बलाधिपति से गुप्त मन्त्रणा करना चाहते है। मै टल गयी और स्तम्भ की ओट आ गयी।

परम भट्टारक ने आज पहली बार तीसरा पात्र खाली किया था। मै रह-रह कर काप जाती थी। उनकी चिन्ता और वेदना अधिक सघन हो उठी थी। गम्भीर स्वर में बोले—

रिपुदमन देवदत्त ! . कुमार के प्रासादों का पहरा एक योजन तक बढा दो। पूर्व राजाज्ञा का कठोरतापूर्वक पालन हो। राजमार्गों और राजोद्यानो के अतिरिक्त, कुलसम्बन्धियो के किसी आवास और उसके निकट भी किसी वृद्ध, पगु, कोढ़ी, रुग्ण, अपाहिज, दरिद्री की परछाई तक नहीं पहुचे, अन्यथा जानने हो परिणाम ?"

'मेरी मृत्यु।'

'ठीक।'

'और.. ' महाराज ने स्वर मद कर कहा—'हेमन्त-प्रासाद मे नृत्यों का आयोजन करो। आमोद-प्रमोद और क्रीडा-केलि से उसे गुजारित करो। उसके रस. रास, रमण की रेलमपेल से इन्द्रपुरी फीकी पड जाए ! परिषद की स्वीकृति से जितनी द्रव्यराशि ले सको, लो और सुरा-सुन्दरियो का समारोह मनाओ !...सिद्धार्थ का मन जिसमे रम जाय, वह, करो। कृशागौतमी...हा, मुझे स्मरण है, उससे तुम्हारा ब्याह हो जाएगा। ..कृशागौतमी को नचाओ। हास, लास, उल्लास और रास की रचना हो। तुम भी नाचो और कुमार का मन भी नाचे। खूब नाचो...ताक् धिन्...ताक् धिन् थेई थेई थाक्.. ।'

महाराज स्वय नाचने लगे।

सैन्य-अभिवादन कर रिपुदमन चले गये। मैने अन्य सेवको की सहायता से महाराज को शयन कराया। बडी देर तक मैं पद-सेवा करती रही। ऐसी उद्वेलित मनोदशा मे मैने महामहिम को आज पहली बार देखा था। मैं तो महाराज की चर्या से परिचित हू। .

फिर तन्द्रा मे उनके अधरों में स्पन्दन हुआ...'ऐसा न हो...महामाया... ऐसा न हो पार्षदो, कुमार राज्य न करे...घर से बेघर हो जाय...ज्योतिषी बम्हनों की वाणी सार्थक हो जाय.. ऐसा न हो कुमार घर छोड जाए, और कालदेवल का पूर्वकथन सच निकले...'

मैंने हौले से उनके आंसू पोछ दिये, कुमार !

फिर भी महाराज के श्रीमुख से रह-रहकर यही शब्द निकलते थे...'ऐसा न हो .ऐसा न हो...कि सिद्ध...मेरा सिद्धा....राज्य न करे . हे भगवान्. .!'

मैं आर्य सम्राट् की रजत केश-राशि सहलाती रही।

—वे तन्द्रावश हो गये।"

''तू जा शैवालिके''—मैंने उससे कहा, और वातायन मे आकर खड़ा हो गया।
दूर-दूर तक अधवा के भावी-ज्यो अन्ध तमस छाया था।

4

'मैं निश्चय से बुद्ध होऊगा'—लोक की दशा देख मैंने विचार किया—'मै निश्चय ही बुद्ध होऊगा।' मैंने अन्तस्सरोवर मे झाककर देखा और यही प्रण किया।

इन दिनों मैं तुपित नामक देवलोक में रहता था। तब एक दिन, भावी बुद्ध के जन्म का अनुकूल अवसर आया जान सुक्क (शुल्क), सुयाम, सतुपित, निम्मणिरति, सुनिम्मित, परिनिम्मित-वशवर्त्ती और महाब्रह्मा मेरे पास आए। ये दस हजार लोको के अधिष्ठाता देव थे। बोले वे—'भगवन्, आपने दस पारमिताओ की पूर्ति, इसलिए न की कि आप मार का अवतार लें या ब्रह्म बनें, या वसुधा के चक्रवर्ती सम्राट् कहलाए। लोक-परलोक में ऐसी तो कोई पद-प्रतिष्ठा नहीं, जो प्रभु को न प्राप्त हो। तथापि, नाथ, उठिए और लोक का कल्याण कीजिए।

'महामेदिनी का मगलकामी मन प्रजा के पाप-ताप से तप गया है। उसे पुण्य और शान्ति का अमृत दीजिए, दयामय, ! . मनुष्य मनुष्य का वैरी हो चला है ! पिता पुत्र से और भाई भाई से बिलग हो रहा है। मा आज बेटे को दूध पिलाने से मुकर रही है और भगिनी के दिए भोजन में भाई की मृत्यु फल रही है। और सहोदर की छाया मे ही सहोदरा कौमार्य व्यभिचरित है नाथ। पति की नजरो मे पत्नी देवी नही, नर-नारायण की जनेता नारी नहीं, मानवी नहीं, योनि मात्र रह गई है। उसे, करुणासिंधु, पुरुष ने अपनी नग्न-वासना का साधन समझ लिया है। और स्त्री भी विपथगामिनी हो चली है योगेश्वर। उसकी बाहों मे पुरुष ससृति को शरण नही। उसकी भुजाए सीमित हो गई है। उसके दूध मे विलास के रक्त की गध आती है। प्रभु ! उसकी प्रपुष्ट जघाओं पर राष्ट्र के रक्षक शूरवीर शिशु नहीं खेलते; निर्बल, कामुक और रुग्ण मनु-पुत्र अपनी तृष्णा का भार उतारते हैं।...

'अब विलम्ब न कीजिए लोकेश्वर ! पर्वतों की प्रलम्ब ऊँचाइयां प्रतिपल नीची होती जा रही हैं। देवभूमि के प्रहरी नगराज हिमालय की चोटी पर असुर अपना आसन जमाने का प्रयत्न कर रहे हैं।. .सरिताओ का जल सूखने लगा है और गंगा-यमुना की धाराए अपनी पुण्य-परम्परा की लीक छोडने लगी है। क्षमा हो नाथ, सुरसरि विपथगामिनी हो चली है। जब जगदम्बा ही अपने पथ का परित्याग कर देगी तो कपूत पुत्रों का भ्रष्ट होना असहज न रहेगा।. .

'कृपण धनिकों की भाँति वृक्षो ने फलदान देना वन्द कर दिया है। आर्यावर्त की शस्य-श्यामला पुण्यभूमि पर आज के मानव का मन बदल गया है। वह अपने से ही ईर्ष्या करता है और उसका द्वेष अपने ही प्रति है। वह शोषण की चरम सीमा

पर पहुच गया है। पृथ्वी, अनल, अनिल, वरुण और नभोमण्डल की सीमाए ओर अछोर-छोर दूषित हो चले हैं। दिवाकर का तेजस् उस दोप को भस्म करने मे असमथ हो चला है, भुवनेश्वर ! कि जब से दिवाकर ने कुमारी कुन्ती से छल किया, ओर उसकी असूर्यपश्या देही को अपने सकाम नेत्रो से देखा, तव से कुन्ती के शीलभग का अभिशाप देवलोक मे पाप की परछाइया लेकर मडरा रहा है।...

'और प्रभो ! लोक का कल्याण केवल तेज ओर शक्ति से ही नही होगा। भगवन् भक्ति और अनुरक्ति भी इसके निमित्त कम ही उतरेगी। लोक को सहार की नही रचना की आवश्कता है। संहार तो मर्यादा पुरुषोत्तम ने किया ही है। सहार का अनुष्ठान गोकुलवासी ने भी रचा था, सो कल की ही तो बात है। विश्व की नव रचना का यह विधान आपके हाथों के द्वारा ही सम्पन्न होगा तीर्थकर ! अपनी आपदाओं और व्यथाओ के बीच वसुन्धरा खोलते सागरो की मछली ज्यो तडप रही है। उसे अपनी सेवा का, अपने स्नेहाश्रु का एक बिन्दु दीजिए नाथ, उसका उद्धार होगा। जगत् का वर्तमान अमगल जितना भयकर है, उतना ही समीप है उसका मंगल। हमे विश्वास हे कि सृजन की शक्तिया विनाश की वृत्तियों को सदा के लिए बुझा देगी। हिसा का ताडव हो चुका। अब अहिसा के लीला लास्य से लोक का कल्याण कीजिए कृपानाथ ! सत्य, अहिसा और प्रेम की त्रिपथगा के संगम पर आर्य-सस्कृति की स्थापना कीजिए . देर न हो, करुणाकर ! कोटि-कोटि सन्तप्त आत्माओ की तडपन आपको पुकार रही है। अपने कमल-कोमल करुणाविलोचन खोलो.. खोलो. .खोलो हे महाप्रभु !

तुम्हारे बुद्धत्व का मुहूर्त्त और काल आ गया है सुगत !'

मै आखे मूदे बैठा था। देवो की अनुनय-विनय सुन मेरा हृदय भर आया । मेने कहा—'देवो ! तुम्हारी कामना पूर्ण होगी परन्तु उसके पूर्व मुझे पाच पुण्यफलो पर विचार कर लेना है। मैं देवलोक से प्रस्थान कर भरत-भूमि पर जन्म लेने के लिए व्याकुल हू। जानते हो, उस भव्य, भद्र भूमा के प्रति मेरा प्रेम। मै राम और सीता का साकेत देखने के लिए लालायित हूं। मैं उस मथुरा का दर्शन करूगा, जहा दनुज पछाडे जाते हैं, जहा नृशस कस के वंश का ध्वंस होता है। जहा जमुना-कछारो मे, करील के कुंजों मे अब भी उस सरस रसनदिनी बासुरियो के स्वर गूँज रहे हैं। मै राधा का गोकुल देखूगा। उस सेवा और करुणामूर्ति कुमारिका के विराग की लौ अपने मे जगा सका तो अपने को धन्य समझूगा।

'धन्य है, वह धरित्री जहा देवगंगा बहती है ! जहा सलिलवती क्षिप्रा के तट पर महाकाल का ताण्डव चल रहा है, जिसकी प्रत्येक पदथाप पर क्रातिमय भूगोल दबता-उछलता है और प्रत्येक पदचाप पर युगान्तरों के भूचाल आते हैं। जिसके प्रत्येक पद परिचालन पर रत्नाकरो का उद्वेलित हृदय ज्वार से भर जाता है। जरूर जन्म लूगा मै उस महादेश में, जहा के लोगों ने धन को नही, धर्म को अपना ध्येय माना है। जहा बारी-बारी से ऋतु-परिवर्तन आते हैं। जहां की अन्तहीन बहुरगिणी धरती पर नील वितान तना है। देवो, धन्य है वह देश, वहा जन्म लेकर मै अपना अहोभाग्य

ही समझूंगा. बडा उपकार होगा उस धरणी का जो मुझे झेलेगी। बड़ा आभार मानूगा उस जननी का जो अपने पयोधरो का अमृत पान कराएगी। उऋण कैसे हूगा उन शुद्ध नाम पिता से जो मुझे जीवन-दान देकर लोक-सेवा का अवसर देगे। जानते हो, देवगण ! सेवा का अवसर पाना ही. सबसे वडी वर प्राप्ति है।. और देवो, इस समय मनुष्य की आयु-अवधि क्या हे ?'

'एक सौ वर्ष।'

'ठीक है। अन्यथा मनुष्य का आयुकाल सहस्र वर्ष होने पर बुद्ध का जन्म लेना अनुचित है। क्योकि ऐसे समय मनुष्य जन्म, जरा और मरण को भूल जाता हे। भूलना मानव स्वभाव है और अपने स्वभाव की परिधि मे वह सुख और दु ख को समा लेता है। वह अपने पर किए उपकार को वहुत जल्दी भूल जाता है, तभी न मनुष्य की कृतघ्नता के समक्ष श्वान की कृतज्ञता आदर्श रूप में प्रस्तुत की गइ हे।'

'ज्योतिर्मय ! विश्व को ज्योति दो, मनुष्य का स्वभाव विस्मृति के गर्त में गिरे, न गिरे, उसका उद्धार कीजिए रूपनिधान ! जिस प्रकार एक हजार वर्ष अधिक है मनुष्य के समुचित उद्धार के लिए, उसी प्रकार सौ से कम वर्ष भी अनुपयुक्त हे, क्योकि ऐसे अल्पजीवी मृत्यु के अतिचारी होने की सभावना है। और प्रभो, किसी अविचारी, अतिचारी को दिया उपदेश सुचिक्कन घट की पेंदी पर गिरे जल के समान हे। पाषाणों की गोद में बोये बीज की तरह है। बधिर के सम्मुख बजी बीन की भाँति है। इसलिए, हे अमिताभ ! खोलो, खोलो अपने ये अमितप्रभ नेत्र और जरा वसुन्धरा की ओर देखो, उसकी गुहार का उत्तर दो, दयानिधे ! उत्तुंग शैल-शिखर पर खडा प्रज्ञाचक्षु पुरुष जिस भाँति चतुर्दिक् प्रजा को देखता है, उसी भाँति हे सुभद्र ! हे सर्वत्र नेत्रवाले ! धर्मरूपी प्रासाद की उत्तुग अटा पर चढकर सब जनता को देखो।'

पलक खुले। हाथ मे रखी गोल गुठली की तरह मैंने पृथ्वीतल को देखा। समस्त भूलोक, चर-अचर, पृथ्वी-पाताल, गिरि-निर्झर, वन-वनान्तर, पर्वत-उपत्यका और सप्तसिन्धु देखे, इस तरह देखे सप्तसिन्धु कि प्रात कालीन पद्म-पंखुरिया के एकान्त कोने पर जल की अकेली बूंद पडी हो। काल देखा। देश देखे। अपना भावी कुल-परिवार देखा, और देखी अपनी अम्वा, उसकी कालायु देखी...मेरी आंख में आंसू भर आए, यह तो मुझे जन्म देते ही लोक छोड, परलोक चली जाएगी कि जैसे कोई नित्य का पथी देस छोड परदेस चला जाता है।

देवगणो की पुकार फिर मेरे कानों में आई और मैंने उन्हे अपना निश्चय बता दिया—'ठीक है, सुर सपूतो ! बुद्ध भू-लोक मे जन्म लेगा, ताकि संसार का सम्यक् सत्पथ प्रदर्शित करे, लेकिन, नहीं जानते क्या तुम कि भरतखण्ड को छोड़ शेष तीन भूखण्डों में तो सम्बुद्ध का अवतार नही होता, केवल धन्य भूमिभाग भारतवर्ष मे ही उनका प्रादुर्भाव होता है। और इसमें भी मध्यदेश सभी पुण्य-प्राण पुरुषो की प्रिय भूमि है। यहीं उत्पन्न होते है बुद्ध, यहीं जन्म लेते है प्रधान-अप्रधान शिष्य और

अस्सी महाशिष्य। यहीं चक्रवर्त्ती का जन्म होता है। बडे-बड़े ज्ञानी, पडित, मेधावी, धुरधर, विद्वान् और साधक, सन्यासी, साधु, विरागी, तपस्वी और त्यागी यहीं जन्म स्वीकार कर मुक्ति और निर्वाण को प्राप्त होते है। इस लोक मे जन्म लिये विना, किसी को मुक्ति नही मिलती। देव, तुम अपने वर्ग को मनुष्य से बडा बखानते हो। संसार तुम्हें 'अमर' कहता हे, परन्तु तुम्हारी मुक्ति तो तभी सभव हे, जब तुम लोक मे जन्म लो। लोक-जन्मा जीव इस दृष्टि से तुमसे अधिक भाग्यवान है। सघर्ष रहित है तुम्हारा जीवन, किन्तु धन्य हैं वे लोग जिनका जीवन संघर्षमय है। और मधुर है वह फल, जो संघर्षोपरान्त प्राप्त होता है। व्यर्थ है वह सिद्धि जिसके पूर्व घोर-कठोर साधना न हो।'

फिर मैंने सोचा, इसी मध्य देश मे स्थित है महानगरी कपिलवस्तु। यही मुझे जन्म लेना है। और मैने अपने इस विचार को निश्चय की मुद्रा दी। यही होगा।

'तथावस्तु'—मैने कहा।

और देवगण हर्षित वदन-मन लौट गए।

फिर चित्र-विचित्र सुमनो की वहुरगी वर्षा हुई। मद-मद मारुत वहे। धरणी के अग-अंग मे आनन्द का कम्पन आया।

अन्धकार भयभीत होकर भाग चला और अत्याचार की गुहा के कृष्णनीड मे अपने अस्त्र तेज करने लगा।

भावी बुद्ध के जन्म-निश्चय का अभिनन्दन हुआ। दिशाओं ने अपने शंख बजाए। सरोवर मे सरोज ने अपने प्रसून सजाए। अम्बर से ज्योति-किरण छूटे। अवनी पर निर्मल कल-कल जल के उत्स फूटे।

चाद ढलककर विशाखा नक्षत्र में आ गया। कपिलवस्तु की राजरानी को जाने क्यो रोमाच हुआ।

'मै निश्चय ही बुद्ध होऊंगा'—मैने कहा।

फिर रात अधूरी बात की तरह जल्दी-जल्दी ढलने लगी।

5

बाल्यकाल की वह घटना कभी न भूल सकूगा :

'देव...ओ देव् अ्...

'देवदत्त ! बन्धु सुनो...बाण न मारो। इसे न मारो देवदत्त, मै तुम्हारे पैरो पडता हू। देव...हाय-हाय तुम न माने आततायि !...'

फिर मै सिसक-सिसककर रोने लगा।

बचपन की वह बात सदैव याद रहेगी। नन्हा विहग मेरे हृदय से लगा था।

उसक अगा से लहू की पतली धार बहकर उसकी श्वत देह का रग रही थी। मेर आसू उस रंग को न जमने देते थे। कपोत के निरीह नयनों मे वेदना और करुणा का अत्यन्त मर्मवेधक भाव था। प्राणो की सारी ममता उंडेलकर वह मेरी ओर देख रहा था।

देवदत्त समीप आया। खिलखिलाने लगा। उसकी छायाकृति देखते ही पछी ने अपने नयन मूद लिये और दुबककर मुझसे चिपक गया। मेरा मन गद्‌गद हो गया।

निरस्त्र, निस्सहाय पछियो और विहगो मे भी ममत्व और जीवन की जो पुकार है, वह भी इस हिंस्र मनुष्य मे नहीं।

मै सोचता बैठा रहा--दूसरों को मारकर व्यक्ति कब तक जीवित रहेगा ? जिन पक्षियो को देखने मात्र से मन का मोह उमड-उमड आता है, उन्हे कोई क्यो कर अपना लक्ष्य बना सकता है ? अपना भक्ष्य बना सकता है ? अवश्य, मानव-स्वभाव मे कही-न-कही दानवता का अंश शेष है। केवल विनोद और मृगया के नाम पर, कोई किसी जीव को क्यों मारे ? देश की सीमा बढाने के लिए समर क्यो ठाने ? तब तो ये योद्धा 'मनुष्य' को भी अपना शिकार बना सकते है। जो एक की मृत्यु को सहज मानता है, वह दूसरे मरण को असहज क्यो मानेगा ? तूणीर, बाण, निषग लिये फिरते है। इनके हाथ किसी नरभक्षी सिंह या भालू के पजे से कम है ?

व्यक्ति की प्रकृति को इस ओर से विमुख करना होगा। मानव-स्वभाव मे गति-परिवर्तन आवश्यक है।

अपने कधे पर कोमल कर का स्पर्श जान, मैंने पीछे देखा--छलाछल आखे भरे कृशा गौतमी खड़ी थी 'तुम जल ले आओ कुमार। तब तक मैं इसके घावो पर पट्टी बाध देती हूं। यह देवदत्त बड़ा कायर है।'

गौतमी ने नभचारिणी खगी को अपने वक्ष से लिपटा लिया।

देवदत्त क्रोध से उसकी ओर देख रहा था। मैं जानता था कि यदि मै यहा से टला तो देवदत्त गौतमी को पीड़ा देगा।

मैने कहा--'देव, तुम भवन चलो, हम आते है।'

'पहले मेरा कपोत दो।'

गौतमी के हाथों में कपोत देख, उसके मन में ईर्ष्या हो आई थी।

'तुमने अपना कपोत तो मार डाला।' गौतमी बोली।

'तू मत बोल री।'

'तुमसे कौन बोलता है कायर...दिन-भर चिड़ियो को मारता फिरता है। एक दो सिंह मारे तो जाने...तुझे...'

'अच्छा, फिर कह री।'

'फिर क्यो कहू ? मै क्या तेरी दासी हू रे। मैं अरिमर्दन रूपवर्मन की कन्या हू।'

'तभी तो तेरी बात सुनता हू। अब मै सिंह लेकर ही लौटूंगा।...अच्छा, मेरा

कपात द दे

'यह कपोत नही, मुक्ता-आहारिणी हसिनी हे। तुम बकदेव इसे लेकर क्या करोगे ? इसके प्राण ही लोगे।'

फिर वह मेरी ओर मुडकर बोला—'कुमार, यह पंछी मेरे बाण से विद्ध होकर गिरा है।'

मैंने कोई उत्तर नही दिया।

वह अपने दुराग्रह पर अटल रहा—'सुनते हो, इस हसिनी का शिकार मैंने किया हे।'

गौतमी बोली—'सिद्धार्थ, पंछी को यो अपने अक से न लगाओ। तुम्हारे रेशमी वस्त्र उसके बहते शोणित से लाल हो जाएगे।''

''कपडो का क्या है गौतमी, मुझे तो ऐसा लग रहा हे यह बाण मुझी को लगा है।'' फिर मैंने उस श्वेत-मेघवर्ण राजहसिनी के परो मे फंसा हुआ शर धीमे-धीमे निकाला। उसका फलक लहू से आरक्त था। हसिनी मेरी ओर भीगे नयनो से देख रही थी।

देवदत्त ने कहा—''कुमार ! क्षुद्र पछियो के प्रति ऐसी कातर करुणा तुम्हे शाभा नही देती। यह तो निरी कायरता है। मै देख रहा हू कि तुम्हारी आखो मे वही विलक्षण भाव छाया रहता है जो प्राय रण से विमुख क्षत्रियों की आखो मे होता है। आज तुम एक पछी पर शर-सधान देखकर इस प्रकार विचलित हो गए, सम्भव है कल समरांगण में किसी विपक्षी की मृत्यु तुम्हें अधिक अन्तर-बेधक प्रतीत हो। खैर, मे इस बहस मे नही पडूगा, मेरा शिकार मुझे दे दो।''

मैं चुप था, परन्तु कृशा से न रहा गया—''देव, तुममें इतनी भी शर्म नही कि कुमार ने जिस घायल पछी को अपना पछी माना, उसके लिए अभद्र शब्दो का प्रयोग करते लजाओ।''

''सिद्धार्थ, शिकार मेरे शर से गिरा है, मुझे दे दो, मैं चला जाऊगा।''

''मैने न कहा था कि, तुम अपने कपोत की हत्या कर चुके। अब कौन-सा शिकार माग रहे हो ? और, दूसरों को वीरता का उपदेश देने वाले ! शिकार क्या किसी से मागा जाता है ?'' गौतमी का रोष था।

तब मैं बोला—''तुमने देवदत्त, अपने पछी को मार दिया, गौतमी यह ठीक कहती है। माना कि शर तुम्हारा था, किन्तु पछी के प्राण तो मैंने बचाए।''

''तुम तो प्रतिदिन एक न एक पशु की जान बचाने का दम्भ दिखाते रहे हो। उस दिन हम आखेट के लिए गए थे। वन की पगडंडियों पर जब हमारे घोडे सरपट दौडे जा रहे थे, तुमने अचानक रुककर अपना अवलक्ष अश्व (काले रग का अबलक घोडा) खडा कर दिया ! बात सिर्फ इतनी ही थी कि तुम्हारे घोडे का श्वास चढ गया था। उस पर दया कर तुम रुक गए थे। और तुम्हारी इस अनोखी दया के शुभ परिणाम मे हमें अपने शिकार से हाथ धोना पडा।''

इस बीच गौतमी ने वह रक्तस्नात् बाण देवदत्त के हाथो मे थमाते हुए कहा—"लो अपना यह शर, संभालकर रखो इसे। फिर किसी हसिनी की हत्या के काम आयेगा।" ओर तनिक ईषत् स्मिति से उसकी अधरज-लालिमा और गहरी हो गई।

तर्क में देवदत्त कम न था। उसने कहा—"गौतमी, यदि मै अपने धनुप पर अपना वाण न चढाता, तो, कुमार के हाथों में यह हस कैसे आता ?"

मैने उत्तर दिया—"देव, विश्व के समस्त प्राणियो को देह और जीव प्रभु ने दिया है। याद है, उस दिन महर्पि असित ने क्या कहा था ? ईश्वर के दिए इस जीवन को नष्ट करने का अधिकार किसी को नहीं है। किसी को यह हक नही हे कि वह किसी की हिंसा करे। सीधी-सी वात है, तुमने इस भोले प्राणी को मारने का प्रयत्न किया, तुम इसके देह-प्राण पर अपना अधिकार खो चुके। अब यदि यह मेरी सुश्रूषा से स्वस्थ हो जाए, तो मेरा न कहोगे इसे ?"

चपल गौतमी वेचैन खडी थी। वह कभी इस पैर पर खडी रहती, कभी उस पैर पर खडी रहकर, दूसरे पैर की पगतली अपनी हथेली में लेती। उजली हथेली मे, उसकी अरुण एडी सुहावनी लग रही थी। फिर से उसके चेहरे पर चपल मुस्कान लहराई और मै जान गया कि वह फिर कुछ कहेगी। वोली—"महारथी देवदत्त ! ससार मे मारनेवाले से, बचानेवाला वड़ा होता है। ईश्वर तुम्हारा कल्याण करे 'पुत्र' ! अब तुम जा सकते हो।"

"मै अपना हस लेकर ही लौटूगा।"

"कह जो दिया, नही मिलेगा"—गौतमी झल्लाई—"अच्छा, तुम दोनो वहा दूर, सामने कचनार के तले खडे रहो। इधर से मै हंस को छोड़ती हूं, यह जिस के पास चला जाएगा उसी का हो जायेगा। किन्तु फिर बखेडा न करना पहले से बताये देती हू।" गौतमी ने अपनी नीलम-नगजडी-सुनहरी-ॲगूठीवाली उगली उठाकर, उसे अधरो तक छुआकर कहा।

और तब हम सबने विस्मयपूर्वक देखा—वह राजहसिनी अपनी मोहक मंद गति से चलती देवदत्त के निकट गई। दो पल रुकी, और 'कूँ-कूँ' के कलरव मे कुछ कहकर, तुरत मेरे पैरों से चिपट गई !

मै तो चुप रहा पर गौतमी ने बडे जोर से खॉसकर विजय की घोषणा की।

नीचा मुह किए देवदत्त चला गया। परन्तु हम दोनों उसे देखते सहम गये, क्योंकि उसके चेहरे पर कालिमा उभर आई थी, मन का अशुभ निश्चय जिसमें झलक रहा था !

कपोत के लिए कृशा ने अपनी ओढनी की पट्टिया बनाई।

हम उसे कुंजो की छाया मे ले गए।

गौतमी उसे अपने पतले ओठो से चूमती-पुचकारती रही। जब हम उसकी परिचर्या कर चुके तो कृशा बोली—'सुनो सिद्धार्थ।'

मेने उसक अनियारे लोचना की ओर देखा अतल सागर की मोन गभीरता उनमे थी। सामने की शिला पर वह बैठ गई। इधर-उधर उसने देखा। कपोत का अपने वक्ष मे और सुरक्षित कर लिया, फिर कहने को प्रस्तुत हुई।

मुझ भय था कि गौतमी वही कहेगी, जिसे सुनने को मै अप्रस्तुत हू।

पर वह तो कुछ और ही 'सदेस' लाई

'कुमार, अपने मन को मत मारना। मेरी सहेली को जानते हो। वही, जो नाग-नृत्य के दिन मेरी बाई ओर थी। वही इकहरी देहवाली। गोरी-गोरी। जिसकी नाक मे नीलम की कील थी। सुतीक्ष्ण, दीर्घ, नील नेत्रों में एक पारदर्शी पारस था, जिस पर चाहे तो कोई अपने मन का कचन परख सकता हे। उसी भोली बाला की विनती मैं तुमसे निवेदित करना चाहती हू सिद्धार्थ । अन्यथा जानते हो, कृशा गौतमी ने आज तक किसी का मुंह न जोहा।'

'जानता हूं गौतमी, तुमसे जो परिचय है वह न्यूनतम नही सनातन हे।'

कृशा मुस्करा दी। उसके अनमोल कपोल आरक्त हो उठे। कहने लगी—'मेरी वही सहेली तुम्हारे सपने देखती है।'

मै स्तब्ध था। ऐसी स्थिति पर क्या जवाब दू, यही सोचता रह गया।

मेने नजरें उठाई। कृशा गौतमी एकटक मेरी ओर देख रही थी। आंखे मिलते ही लजाकर उसने दृष्टि नीची कर ली।

अब मै उसे भली प्रकार देख सकता था। पन्द्रह वर्ष की वह बहुत ही चपल किशोरी थी। समस्त कपिलवस्तु, दूर और निकटस्थ जनपद नर्तकी के रूप मे उसका नाम जानते थे। विधाता ने उसके चरणो को नृत्य की सारी गतिया देकर जन्म दिया था। उसके अलक-पलक नाचते थे, नयन-नासिका नाचते थे, अधर, वाणी, अलक नाचती थीं, अगुलिया, बाहुमूल, कटि और चरण नाचते थे। उसकी गति मे नृत्य था। उसकी सारी काया मे नृत्य की माया थी।

किसी अज्ञात किशोरी का स्वप्न निवेदन सुन मेरा हृदय उद्वेलित हो गया।

जिस ससार मे साप और सपेरे बसते है, उसमे न रहने के मेरे निश्चय का क्या होगा ? शोषकों, शासकों, सामन्तो, पुरोहितों और श्रेष्ठियों के भेष मे विषधर सांपो के समुदाय जिस ससार में नि शक होकर विचर रहे हैं, उसमे साधु कैसे रहेगा ?

सापो का सम्बन्धी ही सर्प-लोक का वासी हो सकता है।

और ज्यो ज्यों...मै दुनिया मे दूर ध्रुवों की खोज मे जाना चाहता हू—नई ज्योति के नूतन आलोक के निमित्त दूर निकल जाना चाहता हूं, त्यो, त्यो यह धरती अपने लिए सोचने को मुझे मजबूर क्यों कर देती है ?

वयसधि के द्वार खडी वह तरुणी. । मैंने तो उसे यो ही देखा था. . यह मायाविनी गौतमी कौन-सी बला ले आई हे ?...

सहसा, मैने यों ही पूछ लिया : 'और उसका नाम क्या है ?'

'उसका नाम बड़ा मधुर है कुमार।'

'मधुर हो या तिक्त कहो भी ..'

सामने आचार्यवर आ रहे थे। मैंने अपना कपोत लें, चलना चाहा।

युवक-युवतियो का एकान्त सेवन हमारे यहां वर्जित था। आचार्य के पूर्वस्वर मेरे श्रवणो मे मुखरित हो उठे—'कुमार, इस जगत् मे मार के उपहार अत्यन्त मोहक है। तुम उनके वक्रचक्र मे न फसना। इस व्यूह मे प्रवेश सरल है, पर उपवेश दुष्कर है '

परन्तु, गुरुवर नही जानते थे कि उसी दिन मैंने इस व्यूह से 'निष्क्रमण' करने का प्रण कर लिया था।..

आर्य तब तक निकट आ गए थे।

गौतमी उठ खडी हुई। कपोत देते कहने लगी—'मेरी उस सगिनी कपोती का नाम है यशोधरा।'

'यशोधरा' नाम मुझे शोभन लगा।

नाग-नृत्य के दिन देखी उस शीतल, तन्वंगी, नील मीनाक्षी बाला की नृत्यमयी मुद्रा मेरे सम्मुख गतिमती हो गई।

और आचार्य के वचन 'प्रश्नचिह्न' बनकर दीर्घाकार धारण करने लगे। बढते-बढते उन्होने मेरे समक्ष-स्थित चित्रो को ढक लिया, ढक लिया...।

ओर एक दिन जब यशोधरा हमारे यहां निमन्त्रित थी। गौतमी भी आई थी। देवदत्त भी था।

देव ने सबको डरा दिया। वह आततायी न जाने कहां से सिह का एक शावक पकड लाया। मेरा मन सहम गया। मनुष्य के स्वभाव-मूल मे क्या क्रूरता ही है ?

और इन किशोरियो के मध्य, इन बालिकाओ के बीच कपोत, हिरन और मयूर के स्थान पर सिंह और शूकर ले आना, आर्य नारी की अवज्ञा नही तो उसके प्रति अभद्रता तो अवश्य है।

मैं एकान्त में जाकर आसू पोंछ आया। मेरे मन में आया कि देवदत्त को अच्छा पाठ पढा दू। पर वह हमारा सम्बन्धी जो ठहरा। यदि परिवार में विग्रह होगा तो कुल विभक्त हो जाएगे और कुलो की विभक्ति कपिलवस्तु के शत्रुओ के हर्ष का कारण बनेगी।

सामने जो देखा गौतमी के कधे पर अपनी गोरी बाह टिकाए एक अल्हड बाला खिलखिलाती आ रही थी। कोई बात रही होगी कि दोनों की हसी रुकती न थी। मुझे देखते ही किशोरी की वह चपल स्मिति पावसकालीन धूप-छाया की भाँति उड गई। तनिक वह लजा गई। पहले उसकी लाज लोचनो मे झलकी। फिर कपोलो पर उसकी परछाई निखर आई। और इन दोनो का रहस्य अधरसपुट में लालिमा की लहर

बनकर समा गया। फिर भी मुस्काने अमृत घोल गइ।

जब वे और निकट आई तो मैने देखा—अरे, यह तो यशोधरा है। वही, जो नाग-नृत्य के दिन जी-भरकर नाची थी।

और मुझे भान आया—उस दिन अम्मा इसी के लिए कहती थीं।. इसी यशोधरा को अपनी बहू बना लेने के लिए विकल थी। अब-जब मैने इसे देखा तो मा का वह चेहरा याद हो आया. यश की चर्चा से जो चमक उठा था। विचित्र है यह विश्व। मा को बेटा ही नही चाहिए, बहू भी चाहिए। बेटे से अधिक प्यार वह बहू को देना चाहती है। प्यार जो कालान्तर मे बहू के आचल का दीपक बनकर, घर मे उजेला करता है।

गौतमी आगे बढ़ी।

यश भी बढी। वह और समीप आ गई। फिर, ठिठकी, खड़ी रह गई।

मन-ही-मन तो कृशा गौतमी पर खीझ रही होगी, कि कृशा ने कहा लाकर खडा कर दिया। और अवश्य चिढी थी वह अपने जी में। तभी न उसके कपाल पर दो सल पड गए थे। नेत्र अरुणतर हो गए थे और कपोलो की लालिमा दुहरी हो गई थी।

लेकिन, उस दिन की अपेक्षा भी, आज मुझे यश अच्छी लगी। पीली साडी पर नन्ही-जामुनिया चोली उसने पहनी थी। गहन नील अन्तरीय की गोट साड़ी के नीचे झलक रही थी। उसकी हल्की कलाइयों में मोतियों की दो-दो चूडियां थीं ओर मुझे याद है उसके कमनीय कवरी—जूड़े पर शेफाली की वेणी महक रही थी। ओर हा. उसके पीत—आस्तरण पर कृष्ण-चित्तिया थीं। यशोधरा के इस परिवेश ने मुझे विमोहित कर लिया और एक ही पल में मानो मै किसी दूसरे लोक मे पहुच गया। यह वह लोक था, जिसमें सहस्रो वर्ष पूर्व मेरा अधिवास था .

गहन कान्तार। बासमती के क्षेत्र। सुदूर तक दूरिया। विस्तीर्ण नीलाकाश। नीचे अछोर हरी धरती। दृष्टि की सीमा से असीम धान के खेत। झरते निर्झर। कलकल गाती पर्यस्वनी सरिताए। सूनी पगडडिया। उत्तुग चट्टानें। विराट नगराज। ऊंचे-ऊचे पेड। लम्बे-लम्बे गाछ। हिंस्र पशु। पालतू प्राणी। गौ और चीते। सर्प और मछलिया।

इसी विकट वन मे मैं रहता था। करौदी की मदविह्वला झाड़ियो मे मेरी माद थी। अदूर ही कही से विचरण करती सिहनी वह मेरे गुहाद्वार पर आ खडी हुई। उसकी चाल और दामिनी-सी गति देखकर मेरा मन मोहित हो गया। मुख और ग्रीवा पर सूनी दोपहरी की आधी धूप पड रही थी और पृष्ठभाग पर छाया झलक रही थी।

गुफा के सामने आकर वह निरीह नीची नजरो से कुछ खोजती प्रतीत हुई। मैं अपने ग्रीवा के केश लहराकर खड़ा हुआ। मेरा बाहर आना था कि देखा, एक बडा-सा केसरी इसके पीछे, झाडियों को लाघकर, आ खडा हुआ है।

सिंहनी ने एक निरपेक्ष दृष्टि से उसकी ओर देखा और आगे बढ़कर मेरे पास

खडी हो गई।

सिहवाला का मेरे पास आना, आगतुक केसरी न देख सका और वाला पर झपटा, लेकिन मेरे एक ही थप्पड ने उसे वापिस लौटा दिया।

एक वनकन्या के सम्मुख अपना अपमान देख, वह दूने क्रोध से, दहाडकर उछला। मैं तो प्रस्तुत था ही, फिर भी वडी देर तक हमारा द्वंद्व चलता रहा।

बडा अच्छा खेल था वह। कभी-कभी अपने विरोधी को सन्मार्ग पर लाने के लिए, उससे द्वद्व भी आवश्यक हो जाता है। मेरे एक थप्पड और नाखून की चपेट से आगतुक केसरी लहूलुहान हो गया था और उसके क्षत धूल से सन रहे थे। उसकी वाई आख के करीब जो घाव था वह भयकर था, और इससे उसकी दृष्टि में अवरोध आ गया था। और जब किसी व्यक्ति की दृष्टि मे अवरोध आ जाता है तव उसका पतन और पराजय निश्चित है ।

हारकर, दुम दबाकर वह चलता बना। सिहनी मेरी ओर आई। पीपल की घनी छाया में हम बैठ गए और सकरुण, सतृष्ण लोचनों से मेरी ओर देखती हुई, वह मेरे घावो को सहलाने लगी।

यह स्नेहशील सिह कन्या यशोधरा थी और कहना न होगा, कि वह पराजित सिह, दूसरा कोई नही देवदत्त था।

फिर हम दम्पती बने और पूरा वह जन्म सुखपूर्वक बीता।

और आज मुझे देखकर विस्मय हुआ : वही वनराजकुमारी—नीलम देश की राजकन्या यशोधरा के रूप में मेरे सामने खडी है।

देवदत्त ! दे व द त्त ! सदा का मेरा परिचित। सदा का मेरा शत्रु। सदा का मेरा बन्धु और सदा का मेरा विपक्षी !

6

भरतखण्ड के मध्य प्रदेश मे जन्म लेने का मैने निश्चय किया। यह मध्यदेश आर्यावर्त के ठीक मध्य में है। पूर्व में कजगल नामक निगम है। उसके परे महाशाल वन है। ओर उससे भी परे प्रत्यन्त प्रदेश है। मध्य मे है यह देश, पुण्य सलिला सालवती सरिता के इस छोर पर बसा है, दक्षिण-पूर्व मे। और इस सालवतीय प्रान्तर से परे सीमान्त प्रदेश है। मध्य मे है यह देश, दक्षिण में सेतकन्निक नगर के इस ओर है। मध्य में है यह देश, ब्राह्मणों का गॉव थूण है इसके पश्चिम में, जिसके पार सीमान्त प्रदेश है। मध्य मे है यह देश, पर्वतकन्या उसीरध्वजा के इस ओर स्थित है, उत्तर मे। उसीरध्वजा के पार सीमान्त का प्रदेश आ गया है।

नगराज हिमाचल की गोद मे बसा है हमारा कपिलवस्तु ! श्वेत पाषाणनिर्मित देवप्रतिमा पर जैसे कोइ अरुण सुमन चढा हो ऐसा लगता है हिमगिरि की गोद में

यह कपिलवस्तु। यह सुरम्य नगरी नेपाल के दक्षिण मे है। वाराणसी यहा से, समीप ही है, दूरी कोई तीस योजन होगी। नगराज के निर्मल अन्तर से स्नेहधारा-सी निकली है पुण्यतोया रोहिणी नदी। यह हमारे कपिलवस्तु के बाहर-बाहर बहती है, या यो कहे, इसके किनारे-किनारे बसा है हमारा कपिलवस्तु। हमारा तात्पर्य मेरा अपना नही, शाक्यो का, क्योकि शाक्यो ने ही तो इसे बनाया-बसाया, सजाया-संवारा। मैंने तो कुछ नही किया, फिर भी मन मे एक अलगाव से भरा लगाव तो रहा ही कि कपिलवस्तु नगर है हमारा। आखिर, कोई पूछे, तो मे यही कहूंगा कि हम कपिलवस्तु के रहने वाले है।

कपिलवस्तु के एक छोर पर मगध देश और दूसरे छोर पर कोसल देश बसा था। इन दोनो देशो मे सदैव युद्ध होता रहता और दोनो के बीच वैर का विषधर अपनी फुंकार-द्वारा विष का प्रसार करता जाता था। दोनो परस्पर सम्बन्धी थे। एक दूसरे को अपनी दुहिता देते परन्तु, कोई पिछला वैर था कि बारम्बार उठ खडा होता था। मगध और कोसल दोनो हमारे सम्बन्धी और पड़ोसी प्रदेश थे। यद्यपि उनके बीच घमासान घिरता, पर कपिलवस्तु ने कभी उसमे भाग न लिया, क्योंकि हमारी नीति थी शाति, सहअस्तित्व और तटस्थता की। भला, इन दो प्रमत्त गजराजो के समर मे नन्हा-सा कपिलवस्तु क्यो पडे ? वह तो सुकोमल कमल नालवत् था। हमारे देश ने बहुतेरा प्रयत्न किया कि, ये उभय राष्ट्र सहअस्तित्व के सिद्धान्त को स्वीकार करे और शान्ति से रहें, और दूसरो को रहने दे। बडे देश क्या यह नही जानते, या वे भूल जाते है कि हमारे इस अकाण्ड ताण्डव से छोटे देशो को हानि पहुंचती है। सो, मै कह यह रहा था कि आयासपूर्वक कपिलवस्तु तटस्थ रहा। हमारी तटस्थता का एक कारण यह भी था कि कपिलवस्तु का राज्य अभी-अभी स्थापित हुआ था और हमे अपने देश और जनता की भलाई के लिए अनेक कल्याणकारी आयोजनो मे बहुत बड़ा भाग लेना था और सचमुच, कई योजनाए थीं हमारे पास, जिनके द्वारा जन-जन की हित-साधना का स्वप्न पूरा होता था। अतः हमने इन दोनो हाथियो को लडने दिया (जब वे न माने) और हम अपने निर्माण मे निरत रहे। फिर हमारे पूर्वजो के देखते-देखते मगध और कोसल युद्ध के प्रतिफल निर्जन और निर्बल होते गए। युद्ध से किसी का लाभ नही होता। दोनो ही पक्षो की अपार हानि होती है। तो, एक ओर कोसल-मगध निर्बल होते गए, दूसरी ओर कपिलवस्तु का राज्य दिन-दिन समर्थ और समृद्ध होता गया। क्योंकि हमारे लोग शान्त और श्रमी थे, सन्तोषी थे। धीरे-धीरे कपिलवस्तु और उसके परम प्रतापी शाक्यो के अनन्त वैभव की गौरवगाथा, कीर्ति कपोती के पंखों पर चढकर देश-देशान्तर और द्वीप-द्वीपान्तर तक पहुंच गई। समस्त जम्बूद्वीप कपिलवस्तु के प्रताप से प्रभावित, प्रकाशित हुआ।

मुझे उस दिन शैवालिका की मा आर्या ने बताया कि रोहिणी नदी के दूसरे किनारे जो देवदह नामक मेरी मातुल भूमि है वह भी कपिलवस्तु के समान ही रमणीय है मुझे ठीक-ठीक स्मरण है जब मैं छोटा था एक निशा नींद नहीं आ रही थी

यो ही विचारों में, भावनाओ में मन डोल रहा होगा, भ्रमण कर रहा होगा, जैसा आज किया करता है। मुझे सुलाते हुए आर्या बोली थी—"कुमार जो चुप सो जाओ तो हम तुम्हे रोहिणी नदी की दो राजकुमारियो की कहानी कहे।"

मैने कहा—"मै तो चुप ही सोया हू।" कहानी सुनने का लोभ मै सवरण न कर सका, यह तो मुझमे आज भी है, खासकर कोई अच्छी कहानी हो तो उसे सुनने-सुनाने की चाह मन मे उठ ही जाती है।

तब आर्या बोली—"यह तो जानते ही हो, रोहिणी के इस पार कपिलवस्तु ओर उस पार देवदह का राजनगर है। देवदह के राजा बड़े प्रतापी और सूरमा थे। उनके दो राजकन्याये थी—अति सुन्दर अति सुकुमारी। जिनके रूप की धूम शरदकालीन धूप की तरह समस्त धरती पर फैली थी। विगत कुछ वर्षो से कपिलवस्तु और देवदह के बीच इस बात पर विवाद चल रहा था कि—रोहिणी नदी का जल किसका हे ? इस पर किसका स्वामित्व है ? एक राज्य कहता रोहिणी हमारी हे। दूसरा इसका पूर्ण प्रतिवाद करता—नही, तुम्हारी नही हमारी है, क्योकि हम इतने-उतने वरसो से यहा रहते हैं। साराश यह है कुमार, कि दोनो राज्यो मे झगड़ा बढ़ गया और एक दिन दोनो ने एक-दूसरे को लड़ाई के लिए ललकार दिया।

बड़ी घनघोर थी वह लड़ाई। मैंने तो नही देखी, शैवालिका के पापा ने उसमे भाग लिया था ..."

मुझे याद है यहां आकर आर्या रुक गयी थी। उनका कण्ठ भर आया था और उन्होने आचल से आखें पोछी थी ।

"तो कुमार इस युद्ध मे सहस्रो वीर काम आए। रोहिणी नदी के ठंडे जल के लिए दोनो तीर के वीरवरो का उष्ण लहू बहा। रोहिणी नदी के जल की धाराओ का रंग पलट गया—पहले श्वेत थी। अब लाल होकर लहराने लगीं। कपिलवस्तु के शाक्य राजा ने देवदह के कोलिय राजा को हरा दिया। शाक्यो की जीत पर जीत हुई। अत मे उन्होंने हमारी शर्तो पर शाक्य राजा से सधि कर ली। और कुमार, क्या तुम्हे नीद आ गई, मे कहती हूं सधि ही नहीं की गई, नदी की जल धाराओ का समस्त अधिकार भी कपिलवस्तु की जनपद को मिला। कोलिय राजा ने अपनी उन दोनों सुन्दर, अति सुन्दर राजकन्याओं का विवाह शाक्यराज से कर दिया...और जानते हो, कौन थी वे राजकन्याये ?"

"नही, तुम्ही बताओ ।"

"कोलिय राजा की उन राजपुत्रियों का नाम है, महामाया और प्रजापति गौतमी।"

"महामाया तो मेरी मॉ थी ना आर्या ?"

"हां"

"और प्रजापति देवी ?"

"वह भी तुम्हारी मा है सिद्धार्थ।"—कहते, एक छाया मूर्ति ने भीतर, हमारे कक्ष मे प्रवेश किया। आर्या उठ खड़ी हुई। मैंने रत्नदीप के झिलमिल प्रकाश मे मा

प्रजापति की इकहरी छाया देखी। उनक श्वेत-रक्त वदन पर मधुर मुस्कान थी।

उन्होंने मुझे अपने अक मे भर लिया और मेरी देह सहलाने लगीं। फिर मुझे नीद आ गई होगी।

7

फिर एक दिन मैने छन्दक से यो कहा—

"भद्र सारथि। अच्छे-अच्छे, उत्तम रथों को जोतो। आज मै उद्यान-भूमि की छवि देखने जाऊगा। सब साथी भी चलेंगे। देवदत्त और कृशा गौतमी को भी बुलाओ और गौतमी की वह जो सहेली है न...क्या नाम है उसका,...अजी, वही महाराज दण्डपाणि की पुत्री.. हा . याद आया, यशोधरा। उसे भी बुलवाओ। हम सब राजोद्यान की शोभा का दर्शन करेगे।"

कुछ देर से छन्दक लौट आया—"देव। राज परिवार के उत्तम रथ तैयार हे, अब आप जो उचित समझे, आदेश दीजिए।"

"और साथी क्या सब आ गए ?"

"दीर्घायु हो देव, वे सब प्रतीक्षालय मे कुमार की प्रतीक्षा कर रहे है।"

"अच्छा जाओ, उन्हें हमारा सधन्यवाद कुशल कहो।"

"जो आज्ञा देव।"

"जरा सुनो तो, कुमारी यशोधरा भी आई हें न ?"

"अवश्य, वे भी प्रस्तुत है, अभी राजमाता प्रजापति के कक्ष मे गई हैं।" और जाते-जाते छन्दक एक मुखर मुस्कान छोड गया। मैं अविलम्ब ही तैयार हुआ। परिवेश पहनते समय मेरे मुंह से गीत की वह कड़ी गूज-गूज जाती थी, जो यशोधरा ने उस दिन सुनाई थी।

प्रशस्त राजपथ पर अपार भीड थी। सांध्यकालीन सुबेला में हमारे स्वर्ण-रथ शनै-शनै. बढ़ रहे थे। मेरे रथ का वाहक अश्वराज बलाहक था। बलाहक नभचारी था। आकाश मे उड़ना उसके लिए साधारण बात थी। रंग उसका पूर्ण अवदात, बिलकुल उजला था। सिर उसका श्याम था और मुज-जैसे उसके अयाल थे। कहते है जब से अश्व रत्न बलाहक कपिला मे आया, तब से समस्त नगरी की ऋद्धि-सिद्धि मे वृद्धि हुई।

सुमन्द बयार का स्पर्श पाते हुए, कपिलवस्तु की शोभा निरखते हुए, पारस्परिक व्यग्य-विनोद के बीच हम बढ रहे थे कि देवदत्त ने पूछा—"छन्दक, हमारा यह पुर-पट्टन कितना लम्बा-चौड़ा है ?"

"देवकुमार, चारो दिशाओं पर विजय-पताका फहरानेवाले मूर्धाभिषिक्त नरराज शुद्धोधन की यह नगरी पूर्व से पश्चिम तक लम्बाई में बारह योजन है। उत्तर से

दक्षिण तक इसकी चौडाइ सात योजन है यह सर्वथा समृद्ध समुन्नति शील और सुन्दर है। दवो का नगरी आलाफनन्द। इसके सम्मुख प्रभाहीन है। कुमार, पाटपुरी कपिला प्रति याम दस शब्द-ध्वनियों से गुजित रहती है। तभी न, सुन रहे हो यह कोलाहल। इन दस ध्वनियों मे है हाथी के चिग्घाड, अश्वो का हिनहिनाना, सुवर्ण रत्न रथों का वेगवन्त खर् खर्, भेरि-रव, मृदग की मेघमन्द्र ध्वनि, वीणा की तान गीत के बोल, झॉझ की झकार, नाल की तट्ट-पट्ट, शंख का निनाद और 'खाओ-पीओ' के उल्लास भरे आमन्त्रण।''

बीच में मैं बोला-

''और भूल गए क्या छन्दक, उस वृद्ध भिखारी को ?—'एक कासापन दो बाबा, इस जीव को रोटी का टुकडा मिले बाबा।' ये शब्द तुम्हारी दस ध्वनियो की सूची मे सम्मिलित नही ? इन्हे क्या कपिलवस्तुवासी शब्द नहीं मानते ? या राजपरिषद द्वारा बहिष्कृत है ये ?'' सुनकर देवदत्त खिलखिला उठा, मैं भी मुस्करा दिया ओर मेरा मुख-देखता छन्दक भी हंस दिया। शायद उसे इस बात की अधिक खुशी थी कि आज मै प्रसन्न हू। देव से वह बोला, जैसे, भिखारीविषयक मेरी स्मृति को बहा ले जाना चाहता हो—''देवदत्त, इस नगरी के चारों ओर सात प्राचीर है। आज तक किसी दस्यु आक्रामक का कभी साहस न हुआ कि इन्हें लांघता। इन सात प्राचीरो जैसे ही सप्त प्राकार है राज-भवन के चहुं ओर। इनमें एक है सोने का, एक चादी का, एक वैदूर्य का, एक स्फटिक का, एक पद्मराग का, एक मसारगल्ल का और एक विविध प्रकार के रत्नो का।''

रथ को एक धक्का-सा लगा और वह रुक गया। सामने एक अधी महिला अपनी किशोरी कन्या का सुकर थामे पथ को पार करने का प्रयास कर रही थी। वह तनिक आगे बढ़ती कि एक न एक वाहन देखकर किशोरी उसे रोक लेती। दोनो दो पल रुक जातीं और महिला फिर से आगे बढती कि दूसरी ओर से पुन: वाहनो की अभगमाला उन्हें पंथ से परे रहने की पुकार मचाती। इस डांवाडोल स्थिति मे मा-बेटी पड़ी थी कि तीसरी दिशा से उस चौराहे पर हमारा रथ, पीछे से पहुंचा। बलाहक के गुजित टापो का शोर सुन दोनो ने चौंककर, मुडकर पीछे देखा और छन्दक की कथा मे अवरोध आ गया।

रथ रुका। और फिर चला। और फिर से चली छन्दक की चर्चा—''राजधानी के चार चतुरंगी द्वार हैं। उनमें एक द्वार है कचन का, एक रजत और एक वैदूर्य का। चतुर्थ द्वार स्फटिक का है।''

''लो, यह आ गया शिशिर-प्रासाद का राजोद्यान—देवदत्त का एक साथी बोला—''आज यहीं की सैर की जाए।''

सारथी ने वेगवान अश्वों की वल्गा खींची और धीमे-धीमे वे रुक गये। हम सब नीचे उतरे। अन्य साथियो के उतरने की प्रतीक्षा में मै पथ पर खड़ा था कि मैने देखा, यशोकुमारी अपने रथ से उतरने के प्रयत्न मे, रुककर रह-रह जाती है।

रथ का पायदान तनिक ऊंचा था और पथ तनिक नीचा था मैंने तुरन्त बढ़कर अपना हाथ बढ़ाया और उसे सहारा दिया। मेरी हथेली में अपना हाथ दे वह नीचे उतरी और मुंह से 'धन्यवाद' न कहकर, केवल अधरों मे मुस्कराई। स्थिति के उस माधुर्य को मेरे प्राण स्पर्श भी न कर पाए थे कि चौराहे से एक आर्त्तनाद उठा—"बचाओ, कोई दोडो ये आततायी प्रहरी मुझे लिये जा रहे है।"

मै आगे बढा, यशोधरा भी बढी ओर शेप साथी भी चले। हमने देखा एक मेली-काली-कुरूपा स्त्री को प्रहरी पीट रहे है। उसकी नग्न पीठ पर वे निर्दयतापूर्वक कोडे मार रहे हैं। उसके क्षत से लहू की धारा बह रही है। और अब तो लाल लहू के बीच श्वेत मज्जा की रेखा दीखने लगी हे। उस अभागिन के बाल बिखरे हुए थे। आखो से आसू बह रह थे और वह अपनी उस 'हाय पुकार' से राहगीरो का ध्यान खींचती थी, जो अब अधिक भारी पर धीमी पड गई थी !

मैने पूछा—"छन्दक, यह अभागिन कौन है ?"

"यह एक अन्त्या है कुमार, चाण्डाल के घर की है। कल रात, पूजा-प्रसाद के प्रलोभन से ब्राह्मणो के देवमंदिर में घुस आई थी, उसी के दण्ड-स्वरूप, इसे राजराह पर कोडे लगाए जा रहे है। ताकि दूसरे लोगो को भी शिक्षा मिले।"

देवदत्त ने प्रहरियों को रोक दिया। मैने देखा कि कृशा की आखें छलाछल भरी है और यशोधरा कुमारी तो सिसक-सिसककर रो रही है। मैने उसे न रोने का सकेत किया तो वह कृशा के कधे पर अपना माथा ढालकर और फफक-फफककर रो पडी।

मैने पूछा—"छन्दक, ब्राह्मणो के मन्दिर का देव क्या केवल ब्राह्मणो को ही दर्शन देता है ?"

"क्षमा करे कुमार, मै क्या जानूं।"

"मैं जानती हू"—कृशा बोली, "ब्राह्मण कहते हैं कि ब्राह्मण-वर्ण श्रेष्ठ है दूसरे वर्ण छोटे है। ब्राह्मण ही शुक्ल वर्ण है और अन्य वर्ण कृष्ण है। ब्राह्मण ही शुद्ध है, अब्राह्मण नही। ब्राह्मण ही ब्रह्म के पुत्र है, ब्रह्मा के मुख से उत्पन्न हुए है। ब्रह्मज, ब्रह्म-निर्मित है, ब्रह्म के दायाद है।"

"यह मात्र मिथ्या दम्भोक्ति है।" मैंने कहा।

"लेकिन, सिद्धार्थ क्या ब्राह्मणों की ब्राह्मणियां ऋतुमती और गर्भवती नही होती...?" कृशा बोली।

सहसा हमने उस अन्त्यजा के पीडन से मर्माहत यशोधरा को बेसुध होते देखा। कृशा ने उसे थाम लिया और छन्दक के साथ दूसरी लड़कियो ने सहारा देकर उसे रथ मे लिटाया।

ब्राह्मणों के इस अतिचार से मेरा मन विक्षोभ से सुलग उठा। उनमें से कुछ निर्लज्ज तो वही खडे, कोडे की सजा का तमाशा देख रहे थे। मैंने कहा—"ब्राह्मणो, तुम्हे अपने इस अनाचार पर लज्जित होना चाहिए। एक निरपराध अबला पर ऐसा क्रूर अत्याचार !"

"कुमार देव, यह राज्य का विधान है। इसमें हमारे अत्याचार का प्रश्न ही नही उठता।"

"विधान तो विप्रवर तुम्हीं ने बनाए है ? और सभी सुविधाए अपने लिए रख ली है।"

"सुविधाए हमे कोई दान मे नही मिली, हम वर्ग-वर्ण मे सबसे श्रेष्ठ है। हम ब्रह्माजी के मुख से उत्पन्न हुए है।"-उनमे से एक ब्राह्मण ने गर्व से छाती फुलाकर कहा।

"तो क्या, तुम्हारी स्त्रियां अब गर्भवती नहीं होती ? और क्या ब्राह्मण-वर्ग योनि से उत्पन्न नहीं होता ?" इतना कह, मै रोषपूर्वक वहा से हट गया और अपने रथ मे आ बैठा।

इसी प्रसंग में देवदत्त ने कहा—"वर्ण तो दो ही होने चाहिए। स्वामी और सेवक, यानी आर्य और दास।"

देवदत्त के इस कथन ने मेरे रोष को भडका दिया—"यह स्वार्थ-प्रपंच है। मनुष्य सभी समान हैं। यह बात अलग कि सामाजिक सुविधा के लिए हमारे पूर्व पुरुषों ने काम का बटवारा कर दिया। काम के छोटा-बडा होने से उसका कर्ता छोटा-बड़ा नही हो जाता।"

इस पर छन्दक बोला—

"किन्तु नाथ, मैं सारथी सदैव सारथी हू। मेरा बाप भी सारथी था और मै भी सारथी रहूगा। आप क्षत्रिय राज-वश मे उत्पन्न कुमार है, राज-पुत्र है और आप सदैव राज-पुत्र रहेगे।"

"छन्दक ठीक कहता है, कुमार।"

"छन्दक ठीक नही कहता। इसकी नसो मे भी वही खून है जो इसके बाप-दादा की शिराओं मे था, पीढियो की गुलामी से जिसमे कीडे पड गए है। इस कारण, वह गुलाम-लहू विचार-दृष्टि मे अवरोध ला रहा है और ऐसे वातावरण मे पला हुआ मनुष्य कुछ सोचने और कुछ न सोचने के लिए मजबूर है। उसी तरह देवदत्त के, हम क्षत्रियो के रक्त मे भी दोष आ गया है, तभी न वह स्वामी और सेवक का विभेद करता हे। भला, जिनके पास मस्तिष्क है, जिनके पास हृदय है और जिनकी प्रपुष्ट-प्रलम्ब भुजाओ में ओर-छोर सहित धरती को अपने मे समा लेने का सामर्थ्य हे, उनकी दृष्टि में कौन शूद्र और कौन श्रेष्ठ है।..

"ईश्वर ने सबको समान बनाया है। सबको समान रूप से, समान ढंग से, समान तरीके से पैदा किया है। सबको समान रूप से प्रकृति का अपना वैभव प्रदान किया है। यह नहीं कि राजकुमारी के लिए ही धूप और आभा बनी हो और शूद्र-कुमारी के लिए उसका अभाव हो। यह तो मनुष्य के मन की कुरूप कायरता और कृपणता हे कि उसने प्रभु प्रदत्त उपादानो पर भी पहरा बिठा दिया है और मनुष्य-मनुष्य के बीच द्वैत की दीवार खड़ी कर दी है, ऊच-नीच और अधिकार-अनधिकार की

रेखा खीच दी है

कुमार, यह समाज-विरचित विधान है और सर्वमान्य है।

"लेकिन छन्ना, विधान बदल भी जाते है, बदले जा सकते है और बदले जाएगे। आज ब्राह्मणो ने भले ही अपने और अपने गुट्ट के हेतु स्वार्थमय विधान बना लिय है परन्तु वह दिन भी आएगा जब विधान वे लोग बनाएगे जिन्हे शूद्र और सेवक कहा जाता है। जिन्हे मनुष्य कहते उच्च-जन्मा ब्राह्मणो, क्षत्रिय, और वैश्यो की जिह्वा लजाती है। किन्तु यह तथ्य नहीं भूला जा सकता है कि सुकर्म ही मनुष्य को बडा बनाता है और कुकर्म ही उसे गिराता है। क्या गौओं के लिए सुरक्षित घास के गजहर मे आग लगाने वाले निष्ठुर ब्राह्मण की अपेक्षा वह शूद्र श्रेष्ठ और सुकर्म नही, जो उस आग को बुझाता है ? छन्दक सेवा सबसे बडा धर्म है और सेवक का सबसे बडा वर्ण और पद है।"

"कुमार का कथन यथार्थ है, धन्य हैं आप, जो ऐसा सोचते हैं, किन्तु मरी यह विनती है कि आप ऐसा न सोचा करें। यह तो ससार है, इसकी गति यू ही चलती रहेगी। ईश्वर ने आपको अनन्त ऐश्वर्य दिया है, उसका उपभोग कीजिए और महाराज के मन को शान्ति दीजिए।"

"क्यो भाई छन्दक, अब हो चुका न तुम दोनो का दर्शन-विवेचन ?"-देवदत्त कृशा की ओर लुब्ध नेत्रो से देखता हुआ बोला। वह उतावली मे था। मै समझ गया उद्यान के एकान्त निकुंजों की ओट वह चाहता है। वरना इस सदा के हिसक तरुण के मन मे शान्त उपवन के प्रति अचानक यह प्रेम कहा से उमड आया ?"

छन्दक ने हमे, एक-एक कर उद्यान के समस्त लता-वल्लरी और द्रुम-पादपो का परिचय दिया—

"देव, यह अमरवल्लरी है, इसे अम्बरवल्लरी भी कहते है। देखिए राजकुमारी यशोधराजी, भारतीय नारी की तरह यह वल्लरी निरन्तर उत्थान की ओर अग्रसर है। अशोक के इस विशाल वृक्ष का प्रश्रय पाकर, यह अपना समस्त भार उसे सौप चुकी है और इस अशोक की ओर देखो गौतमी, सुन्दरियो के पदाघात से जो खिलता है।"

"तुम भी क्या किसी के पदाघात से खिले हो, भद्र सारथि !"

छन्दक गौतमी की बात पर केवल मुस्कराया।

"और इस अगारवल्ली को जरा देखो कुमार ! विद्रोहियों के तप्तमानस की तरह इसकी शिरा-शिरा लाल हुई जा रही है। हरित पल्लवों के मध्य इसके फल ऐसे प्रतीत होते है मानो नन्हे अगार दहक रहे हैं।"

"क्या इसी से अगारवल्ली कहते है इसे ?" यशोधरा ने पूछा।

"ठीक कहती हैं कुमारि ! ऐसा ही एक वृक्ष भी होता है, वह देखिए, उधर छोटे सरोवर के पास जो अति अरुण फूलो वाला गाछ दीखता है न, उसका नाम

हे अगारपुष्प

बीच म ही गोतमी बोली– तो छन्ना, तुम्हारी अगारवल्ली का विवाह हमारे अगारपुष्प के साथ कर दो न।''

''जरूर।''–उत्तर देवदत्त ने दिया–''दहेज मे क्या रहेगा ?''

''कोई सद्पात्र हो तो मे स्वय चली आऊगी।''

''पात्र का सद्-असद् बनाना तो हमारे हाथ हे।''

''हूं।'' और वह यश की ओर देखकर मुस्कराई। अब छन्दक की बारी थी—''यह पारिजात है।''..

''पारिजात हे।'' देवदत्त उत्सुकतापूर्वक बढा।

''हा, और यह यूथिका है। अज्ञात यौवना की हसी-सदृश इसके पुष्प देखो कुमार। कितने निर्मल और निष्पाप लगते है।''

''तो अभी किसी मधुकर से इसका परिचय नहीं हुआ है।''

''मधुकर क्या सभी, पाप के वितरक हैं ?'' गौतमी ने पूछा।

''यह कौन जाने, पाप मुकुल मे है अथवा मधुकर मे ? लेकिन बंद कली के अक मे रात-भर रहकर, जब भोर में भ्रमर बाहर आता है तो वह काफी बदला हुआ लगता है।''

ऐसी बात सुनकर गौतमी जवाब न दे, यह तो आज तक न हुआ—''सम्भव है, कमल कली ने भ्रमर को अमृत-रस दिया हो, किन्तु भ्रमर के छलिया हृदय-पात्र मे गिरकर वह कुछ और बन गया हो।''

''सम्भव है।''

''सम्भव नहीं, निश्चय ही यही बात है–विष के पात्र में गिरने वाली दूध की प्रत्येक बूद यदि हलाहल मे परिवर्तित हो जाती है, तो दोष उस बूद का तो नही, उस पात्र का यानी मधुप का है। कली तो अपने वृंत पर ही रही, किन्तु भ्रमर ने जाने कितने लोक-परलोक देखे ! जाने कितनी कलियो का रसपान किया ? और विस्मय तो इसमे है कि वह प्रति अवसर नई कलिका का परिचय चाहता हे।''

कृशा गौतमी की जीभ जब चलती, तो किसी के रोके न रुकती। और तर्क-वितर्क मे उसे पा लेना सदा के तर्की देवदत्त के लिए भी कठिन था।

छन्दक बोला–''अंगारवल्ली के सजातीय इस इन्द्रायण को देखिए। इसके लाल-लाल फल जितने मनोहर हैं, उतने ही कडुए है। यह है कदम्ब, यशोदा मैया के मोहन का प्रिय तरु।''

''जाने कितने रास रचाए होंगे मोहन भैया ने इसके नीचे।''

''सच है।'' मैने कहा।

''और यह रसाल का वृक्षराज कितना मनोज्ञ है–'' देवदत्त, ने अपनी उगली से पेड दिखलाते हुए कहा। यशोधरा ने उसे टोक दिया–''कुमार, रसाल को उगली न दिखाओ, उसकी बाढ रुक जाएगी।''

"यश का मन बड़ा ही कोमल है—" गौतमी बोली—"द्रुम-लताओं और पशु-पक्षियों के मरने-जीने की चिन्ता मे भी दुबली हुई जाती है यह।"

"अब इधर आइए। जरा सावधानी से, इधर बाई ओर पैर न दीजिए, माली ने कल ही नए पौधे उधर रोपे हैं.."

"और ये नए पौधे नई नवेलियों की तरह तनिक-सी आहट पाकर लजाते-शरमाते है और बाहर की बयार छूते ही कुम्हलाते है।"

"शिरीष और शेफाली का वह जोडा देखिए। शिरीष कितना मुक्त और उदारमना हे। वह धर्मप्राण धनिक की तरह अपनी प्रसून-राशि दोनों हाथों से लुटाता हे—ये जो शाखाए बाहर निकली हैं, शिरीष के दो हाथो जैसी ही तो हैं। देवी यशोधरे, इस दुबली-पतली शेफाली को देखो न, जिसके फूल और जिसकी गध तुम्हे सुहाती हे। रात-भर झरती है यह। आर्य सुहागन के समान समर्पण ही इसका इष्ट है। नम्र-निवेदिता यह चिर-विरहिन निशीथनी की बीतती बेला में चुप-चुप झरती रहती है। युगान्तर आए और गए। कल्प उदय होकर अस्त हो गए। अनेक ज्ञानी और संत धरती पर विचरे, लेकिन देवि, इसके आसू किसी ने न पोछे। मनुष्य के नेता ने यानि मनुष्य ने मनुष्य के दुःख को तो देखा, परन्तु कितने ऐसे हुए, जिन्होंने पशु का, पंछियों का और इन अबोध लता-द्रुमो का दुःख देखा-परखा हो ? इनकी पीर पहिचानी हो ? यह गुलाब है, पाटल है, कवियो ने जिसकी उपमा कामिनी के कपोल से दी है। यह करबीर, कांचनार, सिन्धुवार और यह करण्टक है। यह है लाल कनेर। यह, उद्यान की शोभा-समान जो द्रुमवर दीख रहा है, गाधार से यवनराज का भेजा गुलेअब्बास है. अनन्त रस की विधात्री यह अगूरलता है। इसी नाम राशि की यह दूसरी वल्लरी है अगूर-शेफा, इसे हिमवान के गहनवनों से लाया गया है..."

"बेचारी का मन यहा कैसे लगता होगा ? इस अपरिचित प्रदेश मे, उद्यान के सभी साथी जहां नए है। देखिए न, तभी तो यह ऐसी सकुचाई शरमाई है।" यशोधरा ने शेफा के प्रति अपनी सहानुभूति व्यक्त करते हुए कहा। उसकी बात सुनकर हम सब सहम गए, मानो शेफा को हिमगिरि के आगन से यहा ले आने का सारा अपराध हमारा ही है ।

"अब आप लोग, जल्दी-जल्दी आगे बढ़िये। वह जो छः हाथ लम्बा प्रहरी जहा पहरा दे रहा है, वहां सुनहरी क्यारी में अमृतमूरि-संजीवनी बन्द है।"

"बन्द क्यो ? इसे खाकर कोई मरेगा तो नहीं। अमर ही होगा। लोक-जीवन की रक्षा और अभिवृद्धि ही तो राज्य का ध्येय है ?"

"किन्तु यह मूरि केवल राजपरिवार के लिए रक्षित है। यदि साधारण-जन भी इसे पा लेंगे तो फिर राजा-प्रजा में अन्तर ही क्या रह जाएगा ! राजा राजा है, प्रजा प्रजा है। उसका काम शासन करना और इसका काम शासित रहना है।"

"झूठ है, गलत है। प्रजा में यह मिथ्या प्रतारणा और भ्रांत धारणा किसने उत्पन्न की है ? स्वार्थी-समाज-शास्त्रियो ने ही तो ? राजा प्रजा एक है। दोनो एक ही इकाई

के दो पहलू हैं। प्रजा से राजा उत्पन्न होता है। प्रजा म से उसका निवाचन होता हे। इसलिए प्रजा जो कि निर्वाचक-निर्णायक है, बडी है। राजा अपने निर्वाचकों द्वारा शासित है। इसलिए, विधान की दृष्टि से यद्यपि उसे सम्मानसूचक शब्द 'शासक' मिला है, तथापि वह सबका 'सेवक' है और जो सेवक है वह राजा कहलाने का दावा न करेगा।" मैने कहा।

"यह अर्जुन-वृक्ष है—सफेद कनेर। अविवाहिता माणविका (ब्राह्मण कन्या) की मुस्कानों-सी है इसकी कलिया और इधर इस ओर सभी प्रकार की गधलताए है—धनिया, अजगधा, यवानिका, अगरु, अजवायन, अरण्य और आर्द्रक हैं। नवमालिका और चम्पक की यह तरुराजि इन गंध लताओ का पहरा दे रही है। मा के क्रोड़ मे शिशु-सदृश रक्षित हैं ये लताएं। सामने वह अश्वत्थ है। गोपीजनवल्लभ वासुदेव ने शैशव मे इसी के पल्लवो पर शयन किया था। यह निकुंज—कुटीर है। बंस के अंकुरो से यह बनाया गया है। इस पर अशमतक (एक छोटी घास) का आच्छादन है। इसी से तो कुज-कुटीर मे सदैव छाया, सदैव शीतलता और सदैव अधेरा रहता है।"

देवदत्त ने गौतमी की ओर देखते हुए धीमे-से कहा—"चलोगी कृशा, कुटीर देखेंगे।"

गौतमी ने आमत्रण अस्वीकार नहीं किया।

"यशोधरे, तुम्हे मल्लिका के गजरे बहुत पसन्द है न ! यह रही, उसकी लता। अपने अलिद मे खडी, किसी आगतपतिका-सा है इसका परिवेश। इसकी शाखा-शाखा, टहनी-टहनी और डाल-डाल पर कलियों और फूलो का ज्वार आ रहा है, यह अपने पूरे यौवन पर है। सरोवर मे खिले इन विविध कमलो की शोभा देखिए राजकुमारी ! पद्म, सरोज, नीलोत्पल, पुण्डरीक, पंकज, जलज आदि की छवि का अवलोकन करो। सरोवर की तटीय-भूमि पर आम्र और महाशाल की यह सघन वनराजि नगर की किसी सभा-सी प्रतीत होती है। नारिकेल का यह एकान्त पादप इस तरह शून्य मे खोया है मानो कोई विजनवासी, अचेल निर्ग्रन्थ समाधिस्थ हो। अश्वगंधा की क्यारियो के आसपास अपराजिता की गध इस प्रकार वायु में वितरित है, जैसे किसी पर्यकवासिनी, प्रमत्ता के मुंह से उलझे-उलझे बोल निकल रहे हों और उसके साथ निकलती उसकी मुख-वास वायुमण्डल में फैल-फैल जाती हो और उस पर भी, पास मे खडी यह जपावल्लरी जैसे अपनी स्वामिनी को मद की रीती प्यालिया भर-भर कर दे रही है।"

मैने पूछा—"यशोधरा कुमारी, तुम्हे राजोद्यान की कौन-सी द्रुमवल्लरी प्रिय है ?"

"मुझे तो सभी इष्ट हैं।"

"फिर भी ?"

"यो, मंदार, मल्लिका, यूथिका, कचनार और पुण्डरीक मैं यथासमय मंगवाती हूं।"

"मुझे तो अश्वत्थ या न्यग्रोध अच्छा लगता है, उसकी छाया में मन को जेसे शान्ति मिलती है।"

-"लेकिन उस पर तो फूल नहीं लगते -

"फूलों से क्या ? उसके सुकोमल पल्लव और शीतल छाया अन्यत्र कहां उपलब्ध है ?"

"यदि आप, अकेले अश्वत्थ के प्रति इतना राग रखेगे, तो क्या उपवन के शेषान्य पादप-वल्लरियो का मन न दुखेगा ? यह विभेद कैसा ?"—यशोधरा के अधरो पर स्वल्प स्मिति आई।

"बात भेद की नहीं। पसन्द की है। प्रत्येक व्यक्ति की अपनी दृष्टि और अपनी पसन्द होती है। वैसे, मै तो सभी पेड-पौधो और लता-वल्लरियो मे प्रवाहित प्राण-शक्ति को देखता हू। मै मानता हू कि ये सभी गाछ उसी प्रकार जीव और जीवन-लीला से परिपूर्ण है, जिस प्रकार मनुष्य-जाति। किन्तु मनुष्य-जाति की अपेक्षा ये अधिक क्षमाशील और विनयवान है। हम इन्हे अपने स्वार्थ की पूर्ति के निमित्त, काटते-छॉटते, और तोडते-मरोडते हैं। इन्हें अपने परिजनों से दूर ले जाकर अनजाने भूमिक्षेत्र मे रोप देते है, किन्तु क्या कभी ये कोप करते देखे गए हैं ?

"तुमने यूथिका के गुच्छो से अपनी घुंघराली अलको का मधुर शृगार तो कर लिया, किन्तु क्या कभी सोचा—यूथिका की इन कलियों के बिछुड़ जाने पर, इनकी मा, वह लचकी हुई वृद्धा शाख आसू बहा रही होगी। दुनिया कहती है कि कमल के पत्ते और और फूल जल मे नहीं डूबते। उसके पल्लव-दल इसीलिए बाहर रहते है कि पुष्प-चयन करने वाले अपने नयन खोलकर देख लें कि पंखुरियो पर अश्रु-बिदु चमक रहे है। तुम चाहे उन्हें ओस, नीहार या शबनम कहकर बिसरा दो, लेकिन किसी को बिसरा देने से उसका अनस्तित्व तो प्रमाणित नही होता। लोक जब अपने ही हित-साधन में रत रहता है तो वह अपने मन को भ्रम के मायाजाल मे लुभाए रहता है। यो, नास्तिक बन जाता है।"

"अब लौट चले कुमार।" छन्दक ने कहा—"कृशा और देव भी सैर से लौट रहे हैं।"

हमने देखा, दोनों अदूर ही आ गए है। देवदत्त बुझे हुए दीप-सा मुरझाया हुआ है और कृशा गौतमी वृन्त-च्युता मुकुल की भॉति अस्त-व्यस्त है। अवश्य, दोनो जी भरकर लडे-झगडे है। लेकिन, कृशा की वेणियां खुली हैं और उसकी प्रलम्ब केशराशि उसके स्वरूप की तरह बिखरी-बिखरी है।

वे और समीप आ गए। यशोधरा से आखें मिलने पर कृशा मुस्कराई—परन्तु, हम सबने देखा, उसकी मुस्कान बहुत धुधली और फीकी-फीकी थी।

8

मां ने मेरा मुह देखा था और मैंने मा का मुह देखा था—मा के विषय मे बस मुझे इतना ही याद है। वह तो मुझे सात दिन का छोडकर चल वसी थी। कितना अभागा हू मै कि मा को सुख न दे सका, उसके स्नेह का वरदान न पा सका। किन्तु, एक ही सप्ताह पय-पान कराकर, वह मुझे जीवन का अमृत दे गई ओर बदले में मेरे जन्म ने उसे क्या दिया—मृत्यु ।

फिर प्रजापति गौतमी देवी ने मेरा लालन-पालन किया। और लोग कहते है कि वे मेरी सोतेली मा हैं परन्तु मैने उन्हें सदैव अपनी मा से बढकर पाया। सौतेली मा भी ऐसी हो सकती है, मुझे आज तक विस्मय है । ज्यो-ज्यों उनका प्यार मिलता गया, त्यो-त्यो मेरा अचरज बढ़ता गया ।

मेरे जन्म की कथा वे अच्छी तरह जानती है। उन्ही से मैंने समस्त वृत्त सुना था।

एक साँझ, जब ग्रीष्मकालीन ऊष्मा कपिलवस्तु के राजमहलों पर मडरा रही थी और मेघ-भरे साँवरे-अनियारे बादल धरती से दूर बहुत दूर थे, मुझे व्यजन झलती हुई वे वोलीं—

"कुमार, ग्रीष्म के उपरान्त, कुछ ऐसे ही दिन थे। नवमी का शशि, अपनी बकिम झाँकी नभोमण्डल मे एकत्र तारिकाओ को दिखला रहा था। गोकुल में रास के लिए एकत्र गोपिकाओ-सी नक्षत्र-कन्यायें अम्बर के आगन मे उपस्थित थी। नगर मे समारोह मनाया जा रहा था। हम सब खान-पान और राग-रग मे विह्वल थे। आपान-गृह में 'मुझे दो, मुझे पहले' का कोलाहल था। सुरा और स्वर का अरोक प्रवाह वह रहा था, किन्तु महामाया जाने क्यो विरत प्रकृति लिये मौन थीं। वे समस्त लास-उल्लास से दूर अपने कक्ष मे लेटी रही। लेकिन जब आषाढी पूनम का चाद मधुमक्खी के छत्ते की तरह आकाश की डाल पर झूल आया तो वे जाने कैसे अमित उत्साह से भर उठी। गधित जल से उन्होंने स्नान किया। उसके पश्चात् दासियो ने उनका शृगार किया। उस बेला वे हिमगिरि के प्रागण से भूलोक मे उतरती देव-गंगा-सी लग रही थी। परिधानसज्जा के उपरान्त जब वे बाहर आई तो उन्होने चार लक्ष सुवर्ण मुद्राओ का दान दिया। उनके इस दान से लोकजन तुष्ट हो, आशीष देते हुए, अपने-अपने घर लौट गए।

आज महाराज भी स्वाभाविक हर्षातिरेक मे थे। हम सबने शैवालिका के निरीक्षण मे बनाए गए विविध व्यजन ग्रहण किए और जनपद कल्याणी अम्बिका का नृत्य देखा और चांद जब गिरे हुए सुरा-पात्र-सा ढल गया, तो हम अपने-अपने शयन कक्ष मे लौट गए। मुझे याद है उस दिन मायादेवी ने आठ अनुव्रत लिये थे।

दूसरी भोर जब हम प्रातःकालीन जलपान के लिए राजभवन मे एकत्र हुए तो देखा मायादेवी की पलके कुछ भारी थी। पूछने पर ज्ञात हुआ कि उन्होने रात एक

सपना यो, देखा है—

"मुझे ऐसा लगा कि चार देव-दूत आए है। वे अपने पख समेटकर मेरे पर्यक के चारो कोने खडे हो गए और उन्होने मुझे पर्यक सहित उठा लिया। क्या देखती हू कि मेरा पर्यक हिमाचल के एक रमणीय स्थल पर रखा हुआ है। उस स्थल का नाम मनोशिला है। मेरे सिरहाने एक विशाल शाल वृक्ष खड़ा था। उससे परे देव-दूत एक ओर खडे हो गए और तव उनकी पत्नी देवियां आई और वे मुझे अनवतप्त (मान) सरोवर पर ले गई। मुझे उन्होने स्नान कराया और अमरो के विचित्र वेश पहनाए और स्वर्गीय सुमनों से शृगार किया। अदूर ही एक रजत पहाडी थी। चादनी मे उसकी चादी दुगुनी शोभा दिखा रही थी। उस झिलमिलाती उपत्यका की चोटी पर सोने का एक सुरम्य प्रासाद था। उसके एकान्त कक्ष मे सुहावनी सेज बिछी हुई मेने देखी। तूलिक पूरव दिशा की ओर था। मुझे उसी पर लिटाया गया। धीमे-धीमे मै निद्रा लोक मे चरण करने लगी। क्या देखती हू कि एक अति विशाल श्वेत गजराज आया है उत्तर के द्वार से। उसने अपनी रुपहली सूड से पुण्डरीक का एक सुनिर्मल सफेद सुमन तोडा और अति उल्लासपूर्वक उद्‌घोष किया मै कुछ सहमी, मै कुछ प्रमुदित हुई। उसने आकर मेरे पर्यक के चारो ओर तीन बार परिक्रमा की, मुझे नमन किया और अपनी दाहिनी बाजू शय्या की ओर रखे, समीप आ गया। तब मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि मानो वह सुगौर गजराज मेरी कोख में प्रविष्ट हो रहा है। आगे मुझे सुध न रही और जैसे निद्रा में ही मैंने परिचायिका को पुकारा। देखती हू, भोर हो गई है और गेहू की पकी हुई बाली—सुनहरा सूरज सफेद अम्बर मे ऊचा चढ आया है।"

कुमार ! राजमहिषी का यह स्वर्गीय स्वप्न सुनकर हम सव विस्मय में पड गए परन्तु सहसा मेरी बाई आख फड़कने लगी। शुभ शकुन होने लगे। रह-रहकर कोकिला की टेर सुनाई पडने लगी। मलय-मरुत् मद-मंद गति से चला। मैंने जलपान से बीच मे ही उठने के लिए उपस्थितो से क्षमा मागी और महाराज को एकान्त मे ले जाकर अपना शुभ संदेह सुनाया।

महामत्री को बुलवाकर हमने विचार-विमर्श किया। उन्होने तत्काल वेगवान चर भेजकर शाक्य कुल के राजपुरोहितों और चौसठ तपस्वी महाब्राह्मणो को निमन्त्रित किया।

अन्तःपुर में हम सब स्त्रियां ब्राह्मणो की अगवानी के लिए विविध तैयारियो मे जुट गई। दास-दासियों और सेवक समुदाय के इधर-उधर आने-जाने से काफी शोरगुल हो रहा था। चौसठ ब्राह्मणों का एक साथ आना साधारण बात न थी। समस्त कपिलवस्तु आनन्द की तरग पर रमने लगा। तभी मै चौकी, सब साथी और परिजन, अनुचर चौके ! एक अनन्त आलोक से लोक आलोकित हो उठा। कोटि-कोटि सूर्यो का प्रकाश भी जिसके सम्मुख जुगनू के प्रकाशवत् प्रतीत होता हो, ऐसा विराट प्रकाश भुवन भर में भर गया। दस सहस्र लोक धातु—ब्रह्माण्ड कांपने लगे। धरती रह-रहकर हिलने लगी। मै एक परिचायिका के सग बाहर अलिद मे आ गई, तो

देखती हू कि आकाश से दो जल-धाराए छूटकर धरती की ओर बढी आ रही है। मायादेवी भी बाहर थी। वे अपने उपवन के सुमनो का चयन कर रही थी। जब तक छाया मे आएं-आए तब तक वे पूरी तरह भीग गई। मानो उनका उदककृत्य, प्रक्षालन हो गया। कहने लगी गगन-गगा-सी ये धाराए दो प्रकार की थी एक शीत ओर दूसरी उष्ण जल की।

तभी वासन्ती ने आकर कहा—"देवि, परमभागवत ब्राह्मण सिहद्वार तक पधार गए है।"

अभिषद्-गृह मे मै और मायादेवी महाराज के पीछे-पीछे आई। वहा हमने इस बात की स्वय जाच की कि विप्रवरो के लिए सभी प्रबन्ध यथोचित तो है न। नीचे सद्यस्नाता भूमि पर पल्लव बिछाए गए थे और उन पर चौंसठ चौकिया लगी थी। आगे बढकर हमने ब्रह्म-समुदाय को नमन वन्दन किया। गगोदक से पाद-प्रक्षालन किया और आसन ग्रहण करने का निवेदन महाराज ने किया, तब स्वर्ण रजत थालियो मे खीर आदि व्यंजन परसे गए। अनेक प्रकार की दान-दक्षिणा द्वारा महाराज ने ब्राह्मणो को परितृप्त किया और तब उनके पैर दबाकर कष्ट के लिए क्षमा मागते हुए बोले—'परब्रह्म, धन्य है मेरे भाग्य, आज आपके पुन दर्शन हुए। एक लघु निवेदन है। उस पर आपका विचार हम सब जानना चाहते हैं।'

ब्राह्मणगण से अनुज्ञा प्राप्त कर महाराज ने मायादेवी का सारा सपना कह सुनाया। सुनकर ब्रह्मराज विचारपूर्वक अपनी अभिज्ञा से कहने लगे—'राजन्, चिन्ता न कीजिए ! महारानी मायादेवी गर्भवती हुई है। शुभ मुहुर्त्त पर वे एक अति तेजस्वी पुत्र रत्न को जन्म देंगी। एक ऐसा पुत्र—जो यदि गृहस्थाश्रम मे प्रविष्ट होगा तो, आसिन्धु-वसुन्धरा का चक्रवर्ती सम्राट् होगा और यदि वह इस असार ससार से विमुख होकर विरागी हुआ, तो मुक्ति उसके चरणों में शरण लेगी—वह सम्यक् सम्बुद्ध होगा। विश्व के समस्त ताप-शाप का शमन करेगा और युगान्तरों तक धरित्री उसके पुण्य प्रताप से चमत्कृत हो शान्ति प्राप्त करती रहेगी, राजन् वह पुण्य का प्रचण्ड-पावन प्रवाहित करेगा और पाप की मेघमाला तथा अज्ञान के अमोघ अंधकार को नष्ट करेगा।'

महाराज ने अपनी शका का निवारण किया—'प्रियवर ! भावी शिशु की महत्ता के प्रमाण मे अपने दिव्य चक्षुओ से आप कोई लक्षण भी देख रहे है ? मेरी धृष्टता क्षमा करें योगीश्वर।'

बोले वे सन्यस्त—'हम ही नहीं देख रहे हैं। सारी धरती और उसके प्राणी देख रहे है। जरा मेरे पीछे प्रासाद के वातायन मे आकर देखो।' हम अनुगामी बने। वातायन मे आकर देखा, विस्मित रहे। फिर से विप्रवाणी गूँजी—

'देख रहे हो राजन्, राजकुल परिजन। बत्तीस मगल शकुन अपनी आंखों अच्छी तरह देख लो—समस्त जम्बूद्वीप और वसुन्धरा मे अनन्त ज्योति प्रकाशित हो रही है। नेत्रहीन अंधे भी देखने लगे है, मानों उनके मन मे भावी बुद्ध के दर्शन की अभिलाषा

जगी है, और उसके कामना-वेग से उनके लोचन खुल गए है। देखो राजन्, बधिर जन सुनने लगे है, मानो करविक पंछी-सा उसका कलरव सुनने को ये आकुल है। गूँगे बोलने लगे है। कुबडे आनन्दोल्लास के अतिरेक से तनकर सीधे खड़े हो गए है। और विस्मय है पगु-जन गहन गिरिवनो पर चढने लगे हैं। धरती के समस्त बदियो की शृखला-कडिया रज्जुवत टूट गई है। तुम तो नही देख सकते शाक्य परिजन, परन्तु मे देख रहा हू नरक की समस्त ज्वालाएं बुझ गई है और नारकीय प्रहरी भयभीत है। महाराज, पाप अपने पलायन मे शरण स्थल खोज रहा है। क्षुधा और तृषा का शमन हो रहा है। बनैले पशुओं का पशुत्व ढल रहा है। देखो-देखो ! शाक्यधन, तुम्हारी प्रजा के रोग-शोक गल रहे है। सभी मनुष्यो के मन में करुणा की किरण कोर जगी है। तुम्हारे आलयो मे गजराज चिघाड़ रहे हैं और घोडे अपने खुरो से भूमि को खोदते हुए हिनहिना रहे हैं। इनकी भाषा तुम नही समझते। वे भावी मंगल के शुभागमन पर अपना उल्लास प्रकट कर रहे है।'

तभी दो परिचारिकाए दौडती हुई आई और बोली—'क्षमा हो देव, राजकीय वाद्य-यत्रालय सूना है, परन्तु वहां रखे समस्त वाद्य स्वत मधुर सुरो मे बज उठे है। ढोल और मृदग अपना गम्भीर घोष प्रकट कर रहे हैं और तत्रियो के तार-तार से स्वर्गिक झकार उठ रही है। विराम लेती हुई राज-नर्तकियो के मुखर पायलो ने अचानक बजकर, उन्हे जगा दिया है। वे कहती है, हमारे पदों मे नृत्य की गतियां भर गई है, नाच लेने को मन अकुला रहा है।'

'देखते हो राजन् ! इन महिषियों और सेविकाओं के आभूषण स्वय मुखर हो उठे है। ककण का रन्-रन् किंकिणियो की रिन्-रिन् और नूपुरो की रुन-झुन, यह भावी चक्रवर्ती के जन्म की द्योतक है। मै देख रहा हू, स्वर्ग और धरा मे ऋतुराज पधारे है, सुगधित मलय बह रहे है और आज अचानक देखो मेघपरिया अवनी के आगन मे उतर आई है। भूमि की गहन परतो के नीचे बहता हुआ जल मिट्टी की सारी सघनता को छेदकर, धनुष से छूटे बाण की तरह बाहर निकल आया है। कितने-कितने स्रोत बह रहे हैं ! पंछियो ने उड़ना बद कर दिया है और नदियो का प्रवाह रुक गया है। तुम्हे कैसे प्रतीति हो महाराज, सागरों ने अपने जल का स्वाद बदल दिया है। उन्होंने अपना सारा खारापन छोडकर मधुरता अगीकार की है। यह अन्तहीन धरती पंचरंगी पद्म प्रसूनों से महक उठी है। जल-थल की सभी कलिया खिल गई हैं। वृक्षो के धड पर उगने वाले कमल और शाखा कमल प्रस्फुटित हो गए है। अंगूर कमल की वल्लरिया पुष्पो से, मूल से शिखा तक, भर गई है। कठोर चट्टानों को भेदकर गहन पातालो से सुगंधित कमल बाहर आ गए हैं। वह देखो, सामने की पथरीली उपत्यका के ऊपर सात-सात के गुच्छों मे वे लहरा रहे है। गगन-मण्डल से भी कमल-कुसुमो के वृन्त वायु में झूल रहे हैं। दिशा-दिशा मे पुष्पो की वर्षा हो रही है। मै सुन रहा हू स्वर्गीय सगीत और दस सहस्र लोक सुमन-वर्षा से परिपूरित और सज्जित ऐसे प्रतीत होते हैं मानो दिव्य और भव्य प्रसूनों का अति

उच्च गिरिवर हो। फूल...फूल...फूल .गध-परागमय फूल, ये केसर कुसुम, ये कमल कुसुम।'

"और कुमार ब्राह्मणो के वचन कई दिनो तक हमारे श्रवणो मे गूँजते रहे।"

इतना ही बोलीं उस दिन महामाता प्रजापति देवी।

कथा है कि जब मै बोधिसत्व, मा की कोख मे आया तो चार देवपुत्र चारो दिशाओ के प्रतिनिधि रूप मे, मा की रक्षा के लिए आए। वे रात-दिवस पहरा देते कि कोई मनुष्य या अमनुष्य माता को पीर न दे। लक्षण है कि जब बोधिसत्व कोख मे रहते है तब माता प्रकृति-रूपेण शीलवती होती है। हिसा उसे छूती नही। दुराचार उसकी ओर देखते नही। मिथ्या भाषण से वह मुक्त रहती है। मादक पदार्थो का सेवन उसे सुहाता नही। परम शीलवती होती है वह कि परपुरुष की ओर उसका अन्तर आकर्षित नही होता और वासना के स्वप्न उसके चित्त को भ्रमित नही कर सकते। परन्तु वह पाच पुण्य भोगो से समर्पित और सेवित रहती है। उसे कोई रोग-शोक उत्पन्न नही होता। वह पूर्ण स्वस्थ रहती है और चाहने पर बोधिसत्व को यानी भावी बुद्ध को—सभी अग-प्रत्यग (अहीनेन्द्रिय) सहित देख सकती है, जैसे उत्तम जाति की, अष्ट-कोण वाली शुद्ध, अमल और सर्वाकार सम्पन्न वैदूर्यमणि हो और किसी कुशल कारीगर के हाथो उसमे उजला, नीला, पीला, अरुण या श्याम सूत्र डाला जाए और उसे कोई पारखी अपने हाथ में लेकर देखे, कहे, यह वैदूर्यमणि है, इसमे अमुक रग का सूत्र है—यों, देखती है भावी बुद्ध की माता अपने पुत्र को। लक्षण है कि बोधिसत्व के जन्मोपरान्त माता मरकर तुषित देवलोक मे उत्पन्न होती है।

और जैसे अन्य स्त्रिया बैठी या सोई रहकर प्रसव करती है, वैसे बोधिसत्व की माता नही करती। वह पूरे दस महीने बोधिसत्व को कोख मे रखती है और समय पर खडी-खडी प्रसव करती है, कोख से बाहर आने पर भावी बुद्ध को पहले देवता झेलते हैं, पीछे मनुष्य अपने हाथ मे लेते है। और यह तो सब जानते हैं कि बोधिसत्व कोख से निकलकर पृथ्वी पर गिरने नही पाते, चार देव पुत्र उन्हे झेल लेते है। और जनेता के सम्मुख रखकर यह निवेदन करते है—'प्रसन्नता आपकी सौगुनी हो धन्यभागे ! बडे ही भाग्यवान् पुत्र का प्रादुर्भाव हुआ है।' जब बोधिसत्व जननी की कोख से बाहर आते हैं तब सर्वथा शुद्ध होते हैं। किसी प्रकार के जलीय, द्रव या तरल पदार्थ से लिप्त नहीं होते, अलिप्त रहते हैं। जल से अलिप्त, कफ से अलिप्त, रुधिर से अलिप्त और सभी अशुचियो से अलिप्त रहते है वे। कहते हैं, जैसे काशी के सुन्दर वस्त्र मे कोई मणि-रत्न लपेटा हुआ हो, तो, न तो, वह मणि-रत्न वस्त्र मे चिपट जाता है, और न वस्त्र ही उस मणि मे चिपट जाता है, इसी प्रकार बोधिसत्व माता की कोख मे रहते है और निकलकर भी अलिप्त रहते है। ऐसा क्यों ? कारण शुद्धि है।

मैंने यह भी सुना है—'जब बोधिसत्व जन्म लेते हैं तो, मां की कोख से उत्पन्न होते ही सासारिक मनुष्यों की तरह नहीं रहते। वे तो तुरन्त पैरों पर खडे हो जाते हैं और उत्तर दिशा की ओर मुह करके सात कदम चलते हैं अन्तहीन श्वेत अवदात

छत्रछाया के नीचे, सभी दिशाओ का दर्शन करते हे और इस पवित्र वचन की घोषणा करते है–

"इस लोक मे मैं सर्वश्रेष्ठ हू। इस लोक में मै सर्वाग्र हू। इस लोक मे मे सवज्येष्ठ हू। और यह मेरा अन्तिम जन्म है। अब मेरा पुनर्जन्म नही होगा।"

9

ग्रीष्म की देवी के पुनरागमन की वेला थी। सघन अमराइयो मे, कोयल विगत दिवसो की याद मे कुहुक-कुहुक उटती थी और ज्यो-ज्यो पिछले स्वप्न मुखर हो उठते थे, त्यो-त्यो उसके कठ का पचम अधिक बेचैन और सुरीला बनता जाता था। प्रजापति देवी उसी दिन कहने लगी–

"कुमार, कपिलवस्तु के आसपास वनो-उपवनो मे वृक्ष-वृन्दो पर मानो अभिनव वसन्त लहरा रहा था। मेरी खिडकी के नीचे, मदार वल्लरी नये फूलो से दुल्हन की तरह सजी थी। नीम के पेड पर नव पल्लव फूट रहे थे, जिस प्रकार आश्विन के मेघ-रहित अम्बर मे तारक अकुर फूटते है ! बरगद अपनी विशालता की सीमा को भूलकर छाया का सर्वस्व समेट लेना चाहता था। पीपल, पलाश और पाकर के पेडो ने पुराने पत्ते छोड दिए थे, जैसे ज्ञान उदय होने पर मनुष्य पुराने सस्कार और सताप छोड देता है उसका मन मुक्ति की प्रत्याशा में खिल उठता है और वह अपनी एकाग्र तन्मयता मे बाह्य को भूलकर अन्तरस्थ हो जाता है। बिल्व फलकर पक्वावस्था को प्राप्त हो रहा था, जैसे विद्या के फलने पर साधक ज्ञान की परिपक्वता पाता है।

गहरी गोलाई, सफेद तना, घने-घने हरे पत्ते और उनके समूह में झांकती सफेद-सफेद शाखाए–जैसे हरित साडी मे किसी गोरी का गौर बदन झिलमिला रहा हो, ऐसा था वह जामुन का पेड़। फल उसके पकने लगे थे, पर अभी गहरा श्यामल रग न चढा था, हा गहरे लाल जरूर हो चले थे वे, जैसे सुहाग की प्रथम मिलन रात्रि में नवपरिणीता का रोम-रोम खिलता है और अंग-अग रस से भरकर, लाज से भीगकर, लज्जारुण हो जाता है।

इन दिनो तुम मायादेवी के गर्भ मे थे और वह अपने भावी सुत को गर्भ मे इस प्रकार धारण किए हुए थी, जिस प्रकार किसी पात्र मे तेल रहता है। दस-महीने पूरे होने आए थे। कुछ दिवस पश्चात् उन्हें अपने मायके की याद आई और वे नेहर लौटने के लिए व्यग्र हो उठी। महाराज से बोली–"स्वामि, मै देवदह जाना चाहती हू।"

"अवश्य जाओ रानी–महाराज ने उत्तर दिया–अपने शरीर का ध्यान रखना। तुम सदैव ही अपने स्वास्थ्य के विषय मे अचिन्त रही हो, तुम्हारी अनुपस्थिति मे मेरी फिक्र बढती जाएगी। ईश्वर तुम्हारी मनोकामना पूर्ण करे।"

इस वार्तालाप के कुछ दिन पश्चात् अन्त पुर की स्त्रिया नगर बाहर तक पटरानी को पहुचाने गई थीं। महाराज ने देवदह तक सारा मार्ग नए सिरे से बनवा दिया था और उसके दोनो ओर छबीले छायादार वृक्ष लगवा दिये थे। ऐसे वृक्ष जो साधुजनो की क्षमा और करुणा के समान सदैव, प्रतिकाल छाया देते रहे। ठोर-ठोर पर धातु ओर मिट्टी के कलशों मे कदली-गाछ लगाए गए थे और स्थान-स्थान पर तोरण तथा ध्वज-पताका फहरा रहे थे।

जब नगरोद्यान के निकट मैंने महारानी मायादेवी के सग विदा ली, तब पूर्व दिशा में उषा अपने रतनारे नेत्र खोल रही थी। उनकी कचन पालकी के पीछे राजपरिवार के एक सहस्र अग-रक्षक योद्धा थे। उनके भी पीछे पदाति सेना के पांच सहस्र सशस्त्र सैनिक थे।

कपिलवस्तु और देवदह के मध्य एक अति रमणीय और मनोहारी उपवन हे। लुम्बिनी उसका सुनाम है। दोनों नगरों के मध्य स्थित होने के कारण दोनों के नागरिक उस पर समान अधिकार रखते है। इस उद्यान की शोभा का वर्णन मेरी शक्ति से बाहर है। उसका दिग्दर्शन तो तुम्हें अपना कवि मित्र जनश्रुत ही करा सकता हे। यहा विशाल-शालवन है। उस वेला लुम्बिनी का कोना-कोना फूलो से लदा पडा था। धरती से लेकर तरुराजों के शिखरो तक पुष्पों की लडिया झूल रही थी। दल के दल मधुकर उन पर मडरा रहे थे और समस्त उपवन-क्षेत्र पंछियो के सरस स्वरो से गूज रहा था। मंजरियां महक रही थी। विहग कन्याएं चहक रही थीं।

इस सुरम्य स्थली की छवि से रानी विमोहित हो चली और मुझसे बोलीं—'प्रजा, मै कुछ देर यहा विराम लूगी।' मैने उत्तर दिया—'जीजी, जैसी तुम्हारी इच्छा, मै अभी पालकी रुकवाती हू और संघ के अधिनायकों को आदेश-सवाद भेजती हू।' मैंने पालकी के रूपहले, सुनहले और लाल रेशमी पर्दे हटाकर परिचारिका शैवाली को पुकारा। वह बैठी दूसरी पालकी मे ऊंघ रही थी या जाने दिवास्वप्न देख रही थी...इतना कह प्रजापति देवी सांस लेने को रुकी। अब तो उनकी आयु भी काफी हो गई थी ओर स्वास्थ्य ने भी साथ छोड दिया था।

दो-एक गहरे श्वास लेकर वे बोली—कुमार, शैवाली को ऊंघती देख, मैने दूसरी दासी को बुलाया। किन्तु तुम शैवाली से यह सब न कह देना, वरना वह मेरे सिर हो जाएगी। जितनी ही वह अकपट है, उतनी ही वह टेढ़ी भी है।

लुम्बिनी के इस शालवन में विराम लेती माया दीदी ने एक महाशाल तरुवर की सुकोमल टहनी थाम ली और वह शाख भी इस प्रकार झुक आई जैसे उसे पहले से ही किसी ने पढा रखा है। डाली का छूना था कि उन्हें दोहर की पीडा होने लगी। हम जान गई कि कपिलवस्तु के सौभाग्य का प्रादुर्भाव होने वाला है।

दासियो में दौड मच गई। परिचारिकाओ ने आवरण की ओट की। आकाश से अजस्र पुष्प-वर्षा होने लगी और आकाशवाणी हुई...क्या हुई। सो तो, मुझे स्मरण न रहा।

मैं जानता हू, प्रजामाता आकाशवाणी का कथन जानबूझकर टाल गई, क्यों कि वह मेरे भावी से सम्बन्धित था। उस भावी से जो राजपरिवार के लिए अवांछित था।

फिर कहने लगी—'कुमार वडी देर हुई, कुछ खा-पी लो।'

मैंने मना कर दिया। वे मेरी कथाप्रियता जानती थी सो उन्होंने अधिक आग्रह न किया और यों प्रसग-भंग भी न हुआ–

तब नन्हे-मुन्ने मेरे हाथो मे आए ! ओह कितने कोमल, कितने भोले, कितने प्यार। मैं तो वार-वार अपने वेटे का मुंह चूमती रही और मानो दुनिया को भूल गइ। . वेचारी माया कुछ थक गई थी। उसका चेहरा फीका पड गया था और होंठ कुछ सफेद होकर सूख चले थे। लेकिन, जव उन्होंने करवट बदली ओर पहली वार तुम्हारा मुख देखा, तो पल-भर मे वदन की विगत अरुणिमा लोट आई ओर अधर भी उतने ही अरुण हो गए जितने कि हमारे व्याह के दिन थे !

वेग मे विद्यु को लजाने वाले अश्वो पर सवार होकर संवाद-वाहक कपिलवस्तु की ओर दौडे। आन की आन मे महाराज के कान पर कपिलवस्तु के युवराज-जन्म की वार्ता पहुची। परम भट्टारक राजसभा मे बैठे थे, उसी वेश-भेष में दौड़े आए। राजधानी के उछाह का पारावार अपार था।

और मै तो भूल गई कुमार ! जानते हो, जन्म-उपरान्त तुम सात पग चले थे, और जितने नटखट अभी हो उतने ही तब थे। उसी दिन तुमने पुकारकर कहा था, मानो विश्व-विजय की घोषणा कर रहे हो—'मैं समस्त ससार मे प्रमुख हू। मैं मुक्त हो, मुक्त करूगा।' लोगो ने कहा, ऐसे शब्द तो महौषध और वेस्सन्तर ही पहले वोले है। और उस दिन चौसठ ब्राह्मणो ने जो प्रकृत लक्षण प्रत्यक्ष दिखलाए थे, आज पुन उसकी पुनरावृत्ति हुई।"

इस सवाद को सुने आज कितने युग वीत गए, पर मुझे तो अक्षरश याद है। बेचारी प्रजामैया ! कितनी निरीह, निरामय और स्नेहशीला थी वे !.. अपनी कथा की समाप्ति के पूर्व दो-एक वाते ये भी उन्होंने बतलाई थीं—'सिद्धार्थ, तुम अपनी मा के जैसे हो। वैसा ही रूप-रंग आकार-प्रकार। तुम राजा वेटा बनना, और वडे होकर जब सिंहासन पर वैठो तो सवका समान रूप से पालन करना।'

शैवालिका ने इसके बाद की बाते मुझे बताई थी—'कुमार जिस दिन तुम्हारा जन्म हुआ था ठीक उसी दिन यशोधरा कुमारी भी जन्मी थी। छन्दक और कालउदायी का जन्म भी उसी मुहूर्त मे हुआ था। अश्वराज कन्थक, जो तुम्हारा सबसे प्रिय अश्व है, उसी वेला में प्रकट हुआ। और वोधि महावृक्ष तथा महाकोष भी उसी शुभ दिन प्रकाशित हुए थे।'

कहते है, कपिलवस्तु और मेरे ननिहाल देवदह के निवासी दोनों मिलकर, मुझे और अम्मा को आनन्द-उत्साह के साथ लुम्बिनी से राजधानी के प्रासादो मे ले गए थे। परन्तु मा का जी तो उसी दिन से खराब रहने लगा, स्वास्थ्य उनका गिरने लगा।

आज मै सोचता हू, मेरे जन्म लेने से मेरी जनेता को क्या मिला ? मन मे आज भी एक आवसाद है कि मैने जीवन मे सब कुछ किया, परन्तु एक मां की सेवा न कर पाया।

10

तेजोदीप्न वदन। लम्बे श्वेत केश। घुटनो तक प्रलम्ब बाहु। एक हाथ मे कमण्डल। पैरों मे खड़ाऊ। ललाट पर प्रचण्ड तिलक। रोम-रोम सफेद हो चला है। आयु का हिसाब न तो इसके पास है और न देवो को ही ज्ञात है। भूत, भविष्य, वर्तमान, पृथ्वी, पाताल और अतरिक्ष मे से ऐसा कोई काल और लोक नही जहा इस तपस्वी की गति न हो। विश्व के वृन्त पर शताब्दियों के सुमन झरकर गिर गए, किन्तु काल का कोई झझानिल इसको उड़ा न सका।

मृत्यु इससे भयभीत थी। काल इसका क्रोध देख, कांपता था। जीवन इसकी शरण मे सुरक्षित था। जिस प्रकार सहस्राव्दिया बीत जाने पर, वटराज के विशालकाय पर नवीन जड़-मूल झूलते है। उसी प्रकार इस सिद्ध पुरुप के सिर पर मटमैली जटाए झूम रही थी।

इसका नाम है कालदेवल। मनुष्य और देवता दोनो इसके साथी है। मनुष्यो का राजा शुद्धोधन और देवों का राजा शक्र दोनों इसके मित्र है।

देवों की नगरी। महर्पि का भोजन हो चुका था। दोपहर की झपकी जब लेने लगे, तो नूपुरो और मृदंग की ध्वनियों ने कालदेवल के विश्राम में विघ्न पहुंचाया। ऋषि उठ खडे हुए और एक देव से पूछा—'क्यो रे, यह शोर कैसा हो रहा है ?'

'नही जानते महाराज, मृत्युलोक मे, नरो के राजा शुद्धोधन की रानी देवी ने एक पुत्र का प्रसव किया है।'

'तो इसमे हमने-चिल्लाने और गाने-बजाने की क्या बात है ? प्रतिदिन ऐसे प्राणी पैदा होते है।

''नही महाराज ? यह बालक असाधारण हे। भविष्य मे वह बोधिवृक्ष की छाया मे बुद्धत्व प्राप्त करेगा और ससार के समस्त प्राणियो को सत्य और अहिसा, क्षमा, शाति, मैत्री और करुणा का सन्देश देगा। वह प्रथम बार मनुष्य के स्वरूप को बदलकर हिंसा से अहिसा की ओर ले जायेगा। मनुष्य तब यह स्वीकार करेगा महाराज कि जीवन इसी का नाम नहीं कि आप स्वयं जीवित रह ले, प्राणीमात्र के जीवन की रक्षा और उसके प्रति करुणा-भावना, मैत्री-भावना और प्रेम-भावना रखना भी आवश्यक है। उसकी गति मे, उसके प्रत्येक पद से भूलोक मे क्रांतिया जन्मेंगी और परिवर्तन के भूचाल आएगे। उसकी दृष्टि से करुणामृत का वर्षण होगा और उसके प्रत्येक सकेत से शांति का स्रोत बहेगा। वह बहुजन के कल्याण और बहुजन की शाति के

निमित्त विचरण करेगा लोक जीवन वैराग्य साधना और सिद्धि साफल्य के क्षेत्रों मे वह नव-नवीन परिवर्तन लाएगा।

सक्षेप मे वह आसिन्धु-वसुन्धरा पर धर्मचक्र परिवर्तन करेगा। उसके द्वारा प्रवाहित मुक्तिधारा युग-युगान्तरों तक मानव-मन के कल्मप का प्रक्षालन करती रहेगी, पाप के प्रपचो से और काल के वक्र-चक्र के कारण भले यह धारा दुवली होकर ओझल होती प्रतीत हो परन्तु कभी मिट न सकेगी। समय पाकर जिस प्रकार तरुवर फलते-फूलते है और जीर्ण-शीर्ण पत्तो को तजकर नवाकुर उपजाते हैं, उसी प्रकार देव और मानवो के इस सिद्ध-अर्थ तरुण की मुक्तिधारा प्रतिफल नवजीवन और शक्ति पाती रहेगी।'

'अरे देव, तू आज मुझे इस दोपहरी मे भी विश्राम न लेने देगा। अब मुझे कपिलवस्तु जाना पडेगा, ऐसा प्रतीत होता है।'

जल्दी-जल्दी महर्षि कालदेवल ने अपना उत्तरीय संभाला। कमण्डल उठाया। मुह पर पानी के दो छीटे दिए। और मुह और दाढ़ी के बालो मे उलझे जल-बिन्दु पोछे बिना ही वेगपूर्वक वे हिमगिरि के आगन मे उतर पडे। हिमवान के पहरुओ ने और उस अन्तहीन प्रदेश मे तपस्या करने वाले साधुओ ने कालदेवल को यो बिखरे-बिखरे, भागे-भागे जाते देख अनुमान लगाया कि हो न हो आज धरा पर दाल मे कुछ काला है। हिमगिरि के शृगो की बर्फानी चोटिया पिघलकर जैसे किसी देव शिशु के चरण धोने को आकुल, चल पड़ी हैं।

साधुओ ने, पहरुओ ने पूछा—"अरे महाराज, जरा सुनिए, ऐसी जल्दी मे कहा जा रहे है?"

लेकिन कालदेवल को इतनी फुरसत कहा थी कि इन बेकार के लोगो की बातो का उत्तर देते। उत्तर न पाकर पीछे से धीमे ये लोग बोले—"बुढवा सठिया गया है। देखो न, इस भरी दोपहरी में ऐसे भाग रहा है, जैसे कहीं आग बुझाने जा रहा हो।"

खडाऊ की खट्-खट् सुनते ही शुद्धोधन के दरबारी, सभासद, प्रहरी, मन्त्री, रानिया और दास-परिचारक चौके। सम्राट् ने पैरो मे पडकर कहा—"राजर्षि, वडे अच्छे अवसर पर आए। मै बारम्बार तुम्हारा ही स्मरण कर रहा था।"

हर्ष-विभोर राजन्य को पुत्र-जन्म का सवाद देने की सुध न रही।

तब महामत्री ने आगे बढकर कहा—'महर्षि, आज पट्टमहिषी मायादेवी के महलो मे युवराज का जन्म हुआ है।'

'मैने सुना है, तभी तो, मै इस असमय आया'—

कालदेवल का सास चढ़ रहा था—'मै शिशु को देखूगा, जल्दी करो।'

मन्त्रीगण दौडे। अन्त पुर में सवाद गया। रानियो ने आरती के थाल, पत्र-पुष्प, कद-मूल सजाए। लेकिन जब ऋषि आए, तो सबको परे हटाकर, अपना पथ बनाते निकल गए—'अभी समय नहीं है।'

नवजात शिशु को स्वयं महाराज शुद्धोधन ने लाकर तपस्वी के चरणो मे रख

दिया। परन्तु, बालक के पैर, अपनी ओर झुके हुए तपस्वी की दाढी पर जा लगे। तुरन्त ही तपस्वी उठा और हाथ जोड, गद्गद कण्ठ से जय-जय और धन्य भाग्य पुकारता हुआ शिशु के चरणो को बार-बार सिर माथे पर लगाने लगा।

ऋषि के बहते हुए अश्रु, शिशु का पैर उठाना और तपस्वी-वन्दना का यह दृश्य देख राजा और परिजन चकित हो गए।

'क्या बात है महाराज ?' राजा ने हाथ जोडकर पूछा—'आप इतने विह्ल हो रहे है ? और इस शिशु की यह वन्दना !'

'अरे शुद्धोधन, तू नही जानता तो चुप रह। मै इसे प्रणाम न करू, तो क्या अपने सिर के सात टुकडे करवाऊ ?'

इसके पश्चात् कालदेवल ध्यान मग्न हुए। उन्होने पूर्व के चालीस, और भावी चालीस—ऐसे अस्सी जन्मान्तरो का वृत्त और इतिहास दिव्य दृष्टि से देखकर, जान लिया, अवश्य यह छोकरा बुद्धत्व को प्राप्त होगा। मुक्ति इसकी चरण-रज लेगी। निर्वाण हाथ बाधे इसका अनुचर होगा। अप्रकट उन्होंने कहा—'कैसा सौम्य व्यक्तित्व है इसका !'

और कालदेवल अपने पोपले मुह से मुस्कराया, जिसमे नए दंताकुर आ रहे थे।

उपस्थितजन शिशु और कालदेवल पर अपनी दृष्टि लगाए थे। कालदेवल की दृष्टि शिशु पर थी और प्रजा की दृष्टि कालदेवल पर थी। कालदेवल ने सोचा—'यह शिशु बडा होकर बुद्धत्व प्राप्त करेगा। परन्तु तब तक क्या मैं भी जीवित रहूगा ? काल कब से मुझे खाने को आतुर है। कई बार छल-कौशल से उसने यत्न किए। कई बार प्रार्थना की उसने। शरीर का धर्म, तो मुझे निभाना ही पडेगा। आज नही कल ! परन्तु क्या एक लम्बी अवधि तक मै जी सकूंगा। जबकि यह शिशु बुद्ध बनेगा ?'

त्रिकालज्ञ तपस्वी ने ध्यान से जाना—अरे, तब तक तू जीवित न रहेगा। यात्रा की समाप्ति निकट आ गई है। पथ का अन्त समीप है। चलते-चलते आज मंजिल अशेष हो गई है। सब रहेंगे, अरे, तू अकेला न रहेगा !...

सहस्राब्दियो की आयु व्यतीत करके भी कालदेवल के मन मे 'कुछ ही वर्ष' और जीने की ललक, पिपासा बन गई। हाय रे अभागे मनुष्य ! जितना जीता है, उतना मरने से मुकरता है। शताब्दिया देखी, पर तेरे मन मे दो-तीन दशाब्दियां देखने की प्यास अपूर्ण रह गई। अब यही प्यास लेकर मरना पड़ेगा, और मरते-मरते प्यास जो रह जाएगी तो मुक्ति कैसे मिलेगी ?'

बालक के बुद्ध बनने से पूर्व ही, अपनी अवश्यम्भावी मृत्यु का चलचित्र देख कर, तृषा, ग्लानि, निराशा, पश्चात्ताप और प्रलोभन की पीर से कालदेवल का हृदय-रत्नाकर उद्वेलित हो उठा। उनकी आखे मिचमिचाई, होठो मे स्फुरण हुआ, हाथ-हथेलियां कांपी, जटा और श्मश्रु के केशो मे प्रकम्प छाया और फफक-फफक कर वे रो उठे। महाराज शुद्धोधन घबराकर, उनके चरणों मे बैठ गए और धीरे-धीरे

उनके पैर दबाने लगे। रानियां व्यग्र हो उठी। प्रस्तुत जन-समुदाय चित्र लिखित-सा रह गया।

कालदेवल का यों फूट-फूटकर रोना असाधारण बात थी। देव, गधर्व, यक्ष, किन्नर, असुर, जड, चेतन, नर, नारी, किसी ने उन्हें आज तक विसूरते नही देखा था। आज वही महामानव इस मगल-वेला में, इस उल्लास के आयोजकों की भावना का ख्याल न कर, यों, शकुन विगाडनेवाली कर्कशा की तरह बिलख रहा था। दुर्मना व्यक्ति मन-ही-मन कहते थे, यह बुढ़ऊ अभी तो पोपले मुंह से मुस्करा रहा था, अभी फूटी आंखो से आसू बहाने लगा।

'देवर्षि, कुछ कहिए तो। शिशु को कोई अशुभ होगा ?'

'नही राजन्, स्वय काल भी इसका वाल-बाका नही कर सकता। नि.सदेह यह बुद्ध बनेगा।'

मत्री बोला—'यह तो प्रसन्नता की वात है, कि यह बुद्धि का धनी होगा। फिर आपकी आखो मे अश्रु क्यों आए ?'

'मत्रिगण ! भोले हो, जब तक यह बुद्ध बनेगा, तब तक मैं इस भाग्यशालिनी भूमा पर न रहूंगा। दर्शन-लाभ न ले सकूगा। अपनी इसी हानि का खेद मुझे रुला रहा है।'

राज-समाज की समझ में कुछ न आया।

'अधिक भू-देव ब्राह्मणों से पूछो।'—इतना कह, कालदेवल अपने लोक चले गए।

मैने यह कथा, जब मैं वारह-तेरह वर्ष का था तब सुनी थी। मुझे सोया जान, शैवाली की मा एक नई सेविका को पिछला हाल सुना रही थी।

शैवाली की मां से नई सेविका ने जब पूछा—'कालदेवल के यह कहने पर कि अधिक ब्राह्मणों से पूछो। सम्राट् ने क्या किया, आर्ये ?'

शैवाली की मां बोली—

'कालदेवल के जाने पर महलों मे राग-रग का वातावरण छाया रहा। पाचवा दिवस नवजात शिशु के नामकरण का दिन था।

बड़ी भोर ही राजप्रासाद का प्रक्षालन किया गया और अनेक सुगन्धित द्रव्यो का छिडकाव हुआ। स्थान-स्थान पर आम्रतोरण और पुष्पहार सजाए गए। पचपुष्पो की वह सज्जा देखते ही वनती थी। स्वादिष्ट व्यंजन भू-देवों के लिए तैयार करवाए गए थे, इनमें सुस्वादु खीर प्रमुख थी। नियत समय पर एक सौ आठ वेदज्ञ ब्राह्मणो की अभ्यर्थना की गई। ब्राह्मणों ने शिशु कुमार के शरीर के लक्षण देखे। ज्योतिष और काल विचार किया। गणना देखी। इसके उपरान्त ब्राह्मणो मे श्रेष्ठ आठ ब्राह्मणों—राम, धज, लक्खन, मती, भोज, सुयाम, सुदत्त, और सबसे छोटा कौंडिन्य, बोले—राजन्, प्रसन्न हों। आपका पुत्ररत्न वडा ही भाग्यवान् है। बड़े ही पुण्यात्मा

और धर्मात्मा कुल में ऐसा पुत्र उत्पन्न होता है।

देव, आपको अनन्त-लाभ है, धर्म-लाभ है, ज्ञान-लाभ है, लक्ष्मी-लाभ है और कीर्ति-लाभ है। इनमें उत्तम पुरुषों के बत्तीस लक्षण है। इन बत्तीस लक्षणों से युक्त महापुरुष की दो ही गतिया है, तीसरी नही।'

'नई सेविका सुन रही हो न।'

'हा आर्ये, सुन रही हू। इस महापुरुष की दो ही गतियां है, बम्हनो ने कहा था।'

'हां, परन्तु उन्होने यो ही नही कह दिया। उनमे से जो सबसे छोटा था, वह मौन बैठा था। शेष सात बम्हनो ने दो-दो अगुलियां उठाकर संकेत किया दो गतियो का। पूछने पर पहले कहा आशीर्वचन दिया। तत्पश्चात् जब मन्त्रीजनो ने आगे प्रश्न किए तो सातो भू-देव बोले—

—'महाराज, आपका यह पुत्र विश्व के इतिहास को नई दिशा देगा। सहस्रो वर्षो तक राजनीति को नया रुख देगा। मानव-स्वभाव को नया रूप देगा। हे सम्राट् यह होनहार शिशु मानव-सस्कृति की प्रगति को अभिनव-गति देगा और समस्त ससार के प्रतप्त प्राणियो को नया धर्म देगा। महाराज, इस देवपुत्र शिशु की दो ही गतिया है, तीसरी नही। यदि यह राजमहल में टिका रहा, तो, अपनी तलवार की नोक से सारी धरती नाप आएगा, अपने वेगवन्त रथ के चक्र से पृथ्वी का चप्पा-चप्पा छान लेगा। जहा-जहा सूर्य का प्रकाश है, और जहा-जहा अंधकार है, वहां-वहां इसकी राज्य-सीमा और विजय-पताका पहुचेगी। लेकिन' .

नई सेविका सुन रही हो न । बम्हनो के कहने-कहते रुक जाने पर, परम भट्टारक ने चौककर पूछा, पूज्यवर, 'लेकिन' कहते आप मौन क्यो रह गए ? वे बोले—'हा, विधि का विधान है, इसमे मनुष्य की पहुच नही है। सारांश है कि महाराज यदि यह घर मे रहा तो यह धर्मराज, चतुर्दिक् विजय पानेवाला, शाति-प्रस्थापक और सात रत्नों का स्वामी चक्रवर्ती सम्राट् बनेगा। स्पष्ट है राजन् कि इसके पास चक्र-रत्न, हस्ति-रत्न, अश्व-रत्न, मणि-रत्न, स्त्री-रत्न, गृहपत्नी-रत्न ओर सातवा पुत्र-रत्न, रहेगे। और तुम्हारी तरह यह धरित्री को शस्त्रास्त्र से नही जीतेगा, यह सागर पर्यन्त इस भूमा का दण्ड और शस्त्र के बिना ही धर्म से जीत लेगा। परन्तु राजन्, यदि यह देवकुमार घर छोडकर बेघर हो गया, प्रव्रजित हो गया, तो संसार में माया के इस आवरण को हटा देगा, मार के प्रहारो पर विजय पाकर सम्यक्-सम्बुद्ध, अर्हत् होगा। यदि यह राजमहल की रानियों और काम की पुत्रियो के रूप-सौंदर्य का वन्दी न वना, तो, अपनी ज्ञान-ज्योति से अज्ञान का अन्त कर, विज्ञान को अनन्त विकास देगा। और क्षत्रियों के दिग्विजय के स्थान पर, धर्म-विजय करेगा। कल्प-कल्पान्तरो तक इसके धर्म की शरण में व्यक्ति और समाज, राज्य और राष्ट्र, शान्ति और सुरक्षा ग्रहण कर, अभय होगे। महाराज इस रूप कुमार की दो ही गतियां हैं, तीसरी नही।'

इतना कहकर, ये सप्तब्राह्मण चुप ही थे कि उनमे से जो आठवां और सबसे

छोटा पर सबसे विलक्षण और तेजस्वी ब्राह्मण था वह अपनी शिखा बांधते हुए खड़ा हुआ जैसे सिंह-सुवन उठा हो, जैसे जनकपुर मे सीता के स्वयवर में परशुराम को ललकारने लक्ष्मण कुमार उठा हो। कुछ वैसी ही छवि-भगिमा थी इसकी। कहती हू इसका नाम कौडिन्य था, इसने सभा और ब्राह्मणों के बीच खड़े होकर, अपनी एक ही उगली उठाकर कहा—'महाराज शुद्धोधन, इस देवपुत्र की एक ही गति है दूसरी नही, तुम धन्य हो राजन् ! तुम्हारा यह शिशु बड़ा होकर धरती को नया धर्म देगा। यह निश्चय ही सम्यक्-सम्बुद्ध-अर्हत् होगा। मै इसके प्रमाण मे बत्तीस लक्षण प्रस्तुत करता हू।. .

'राजन् और ब्राह्मणो ! इस कुमार की दिव्य देह को देखो—इसके पदतल मे सर्वाकार-परिपूर्ण नाभि-नेमि युक्त सहस्र आरोवाले चक्र है। यह सुप्रतिष्ठित-पाद है, अर्थात् इसका पैर धरती पर समान पडेगा। यह आयत-पार्ष्णि है। दीर्घ-अगुल है। मृदु-तरुण हस्तपाद है। जाल-हस्त-पाद है यानी उगलियो के बीच कही छेद नही दिखाई देता। यह उस्सखपाद है। यह एणी-जघ है। यह बिना झुके अपने दोनो घुटनो को हाथ के तलवे से छूता है, अर्थात् महाराज यह आजानुबाहु है। यह सबसे बड़ा लक्षण है। इसकी वस्ति-गुह्य कोषाच्छादित है। विप्रवरो, जरा इसका काचन वर्ण देखो, इसकी सुवर्ण त्वचा देखो। इसकी काया पर धूल और मैल नही लग सकता, क्योकि यह सूक्ष्म छवि है। इसके एक-एक रोम कूप में एक ही रोम है, इसलिए यह एकैकलोम है। यह ऊर्ध्वाग्र-लोम है। लम्बे अकुटिल शरीरवाला—ब्राह्म-ऋजु-गात्र वाला है। सप्त-उत्सद है। इसके वक्ष-स्थल का ऊपरी भाग मृगराज केसरी की भाति विशाल है, राजन् ऐसे भाग्यशाली को सिह-पूर्वार्द्ध-काय कहते है। यह स्पष्टतया चितान्तरास, न्यग्रोध-परिमडल, समवर्त-स्कन्ध, रसग्ग-सग्ग, सिह-हनु, चव्वालीस-दातों से युक्त है। इतना ही नही समदत है, इसके दातो के बीच कहीं कोई छेद नही रहेगा। सु-शुक्ल दाढ, प्रभूत-जिह्व है। जन्मोपरान्त उस दिन तुमने इसका मधुर स्वर नही सुना नरेन्द्र !

'इसका स्वर ब्रह्म स्वर है। यह अलसी के फूलों-जैसी आंखोंवाला और गाय-जैसी पलक वाला—गो-पक्ष्म है। देव, इसकी भौंहों के बीच श्वेत और कोमल कपास सी रोमराजि है। यह उष्णीषशीर्ष है—यही इसका बत्तीसवां लक्षण है ..

'और मै समस्त ब्राह्मणो और कालगणनाकारो को चुनौती देकर कहता हू, इस कुमार की एक ही गति है दूसरी नही। यह तुम्हारे महलों मे, तुम्हारी रगशालाओ मे और रगवन्ती बालाओं के बाहुपाश मे बंध न सकेगा। यह अवश्य घर छोडकर बेघर होगा।. .

'राजन्, जिस प्रकार गुहा से निकले सिह का गर्जन निश्चित है, जिस प्रकार गर्भस्थ प्राणी का प्रसव निश्चित है, जिस प्रकार प्रभाकर का प्रकाश निश्चित है और जिस प्रकार आर्द्रा के उदय होने पर पावस-वर्षा निश्चित है, उसी प्रकार कालज्ञ सतो की वचन पूर्ति निश्चित है और उसी प्रकार सम्यक्-सम्बुद्ध होना निश्चित है। महाराज शाक्य कुमार की एक ही गति है, दूसरी नही।'

आलि सेविके, कौंडिन्य का इतना कहना था कि राज-सभा में तुषारपात के पश्चात् पत्रहीन पेडो पर जैसी स्तब्धता छा जाती है, वैसी आशाहीन निस्तब्धता छा गई। किन्तु बडे धीर है, हमारे महाराज, उन्होंने अपना धीरज न खोकर, कौडिन्य से पूछा—'भू-देव, किन कारणों से मेरा बेटा घर छोडकर बेघर हो जाएगा ? हम अपने जान उसकी अरक्षा न होने देगे।'

'भूपेन्द्र, कथन आपका यथार्थ है। प्रथमत: यह वृद्ध पुरुष देखेगा। जरा की दशा से दुखी होगा। उसके बाद, रोगी को देखकर इसका मन करुणा से छलाछल भर जाएगा। फिर यह मृतक को देखेगा और क्रमशः इसके मन का द्वन्द्व बढ़ता जाएगा। मे आयु की अवधि को मिटा दूगा, मै भूख और जरा को मिटा दूंगा। मैं रोग-शोक और भव-बाधा का निवारण करूगा। मैं मनुष्य से मनुष्य की दूरी को भर दूंगा।' राष्ट्रो की अनाक्रमक एकता और सन्धि पर जोर देकर यह कहेगा—'तथागत कहता हे, अखिल विश्व एक परिवार है।'

'लेकिन राजन्, तुम धन्य हो और मै कौडिन्य धन्य हू। क्योकि हम दोनो और ये सब सभासद् इसके प्रताप को देखेंगे। मै कालदेवल की तरह रोऊगा नही। मे भावी बुद्ध का शिष्य बनूगा। और ये त्रिकालदर्शी ब्राह्मण भी समय पाकर इसके शिष्य बनेगे'—इतना कहकर कौंडिन्य अपने आसन पर बैठ गया।

सो, सुमुखि-सेविके ! ब्राह्मणों को विपुल दान-दक्षिणा देकर विदा कर देने पर, परम भट्टारक ने मन्त्रियो, कुल-परिजन—अस्सी सामन्तों और पुर-रक्षको की एक सभा अपने निजी कक्ष मे निमन्त्रित की। इस बैठक मे सर्वसम्मति से यह निर्णय निकला कि शाक्य कुमार की सर्वप्रकारेण रक्षा की जाए। उसे कदापि प्रव्रजित न होने दिया जाए।

कहते है उस सभा मे महाराज बडे उदास होकर बैठे थे और यह कहते-कहते कि, मैं अपनी आखो सिद्धार्थ को मध्य-मण्डल के राजमार्गो पर, गृह-द्वार-हीन, जटा बढाए, भिक्षा-पात्र के लिये, भीख मागते नही देख सकूगा, उनकी आखों मे आसू भर आए।

मन्त्रियों और मतदायकों ने राजा को आश्वासन दिया और सभा विसर्जित हुई।

अपने विषय में यह संवाद और घटनाएं जानकर मेरी उत्सुकता इसी प्रसग मे कुछ विशेष जानने की हुई, सो कई दिनों तक मैं रात्रि मे अपनी शैया पर झूठ-मूठ ही आंख बंद किए सोता रहता। कई दिनो की प्रतीक्षा के बाद जब नई सेविका की सेवा नियुक्ति मेरे कक्ष में हुई, तो एक साझ प्रकोण-प्रदीप सजोते हुए उसने शैवाली की मा से अग्र-कथा कहने का अनुरोध किया।

आर्या ने कहा, सेविके यदि किसी ने देख-सुन लिया कि हम युवराज के महलो मे ऐसी चर्चा करते है तो हमे सीधे स्वर्ग पहुचा दिया जाएगा। इस पर सेविका बोली अम्मा, पुरुष तो सब सो गए हैं। दासिया पास के कक्ष में उनिद्र है। गोप अभी सुरा मे मत्त हो मेरा पीछा करते-करते थककर सीढियों पर पडा ऊंघ रहा है। ले,

अब तू ही कह किसका भय है !

नई सेविका का कथा-रस देख, शैवाली की मा भी अपनी चपल-वाचालता पर अकुश न रख सकी—

''कालदेवल के मन का पश्चात्ताप कुछ कम हुआ तो उसने बार-बार यह सोचा कि उसे भावी बुद्ध के दर्शन करने का सौभाग्य तो, दुर्भाग्यवश न मिलेगा, किन्तु उसके किन सम्बन्धियो को यह अवसर प्राप्त होगा ? और उसने अपनी दिव्य शक्ति से देखा कि उसका भानजा नालक—भावी-सम्यक् सम्बुद्ध की बुद्धि-विभा का दर्शन कर कृतार्थ होगा।

कालदेवल को चैन कहा ! वह जो काम एक बार ठान लेता है उसे पूरा करके ही छोडता है। सम्भवत. इसी दृढता ने उसे महर्षि बनाया। देवल अपनी बहन के निवेश की ओर लम्बे डग बढाकर चल दिया।

उसकी बहन भद्रा आगन में दासियों के साथ बैठी धान साफ कर रही थी, और अपने एक छोटे मुन्ने को बहलाने के लिए अपने भाई की—मुन्ने के मामा की विरुदावली बखान रही थी।

तभी सचमुच मामा आन पहुचा।

भद्रा ने उठकर देवल का स्वागत किया—'बड़े दिनो में आए भैया।' वह दौडी-दौडी भीतर गई और पैर धोने के लिए जल-पात्र ले आई। लेकिन कालदेवल को इतना धैर्य कहां ! उसने व्यग्रतापूर्वक प्रश्न किया—'नालक कहां है ?'

'वह अभी ही शाला से लौटा है, और यवागू का भोजन कर रहा है।'

इतना सुनते ही कालदेवल आधी की तरह रसोई-घर में गए—'नालक, बेटा नालक, कहा है भो नालक ?'

मामा को देखकर नालक अति प्रसन्न हुआ। क्योंकि जब-जब मामा आते हे एक न एक नई गाथा या घटना उनके पीछे लगी रहती है, नालक को आशा थी कि इस बार भी मामा एक न एक नया संवाद लाए होगे। वह मामा के चरण छूने के लिए थाली से उठने लगा पर मामा ने उसे रोक दिया। भद्रा भी पीछे-पीछे आ गई।

मामा कालदेवल ने कहा—'नालक, भो नालक, तू बडा भाग्यशाली है रे, तू बडा भाग्यशाली है।' इतना ही कह पाए थे कि महर्षि फूट-फूटकर रोने लगे। भगिनी ने पूछा—'दादा, कुशल तो है ?'

'सब कुशल है। कालदेवल के कुल पर अपनी परछाई डालते हुए अमगल और अकुशल की काया कापती है।'

'फिर भैया ये आसू कैसे ?'

'भद्रे, शुद्धोधन की रानी माया ने एक पुत्र-मणि को जन्म दिया है, मेरा भविष्य-विज्ञान कहता है कि आज से पैंतीस वर्ष पश्चात् यह राजपुत्र बुद्ध बनेगा यही भावी बुद्ध है

'धन्य है भाग भैया जो उसके दर्शन करेंगे।'

कालदेवल ने अपने उत्तरीय से आंखें पोंछत हुए कहा—'मुझे तो, उसके पूर्व ही जाना पडेगा। लेकिन इस नालक के लक्षण कहते है कि इसे भावी बुद्ध की सेवा का अवसर मिलेगा।...नालक, भो नालक, अरे तेरा ध्यान किधर है ? नालक उठ खडा हो, अपूर्व बेला है यह। उठ, इसी क्षण संन्यास ले।'

नालक थाली छोडकर उठ खड़ा हुआ। थाली मे परसा—अधखाया भात, थाली मे रह गया। मां देखती रह गई। 'भैया. .भैया' . उसके मुंह इतना ही निकला और वह मुर्च्छित होकर गिर पड़ी।

भानजे का बाया हाथ थामे, कालदेवल अपनी प्रचण्ड गति से प्रागण पार कर रहा था। द्वार, झरोखो, गवाक्षों से दास-दासियां, परिचारक, परिजन झाक रहे थे। और भद्रा के भवन से भी ऊचा कालदेवल का विजय उद्घोष उठ रहा था—'बुद्ध शरण गच्छामि।'

और उस दिन शाक्यो की राजपुरी में ही प्रथम बार भी बुद्ध की शरण का माहात्म्य गीत उठा।

वातायन मे खडी भद्रा की दासी ने कहा—'सत्तासी कोटि के अधिपति इस बालक को कौन-सी कमी थी, जो वन मे पूरी हो जाएगी ?'

हाट-बाट मे आकर देवल ने नालक के केश काट दिए, पीत चीवर पहना दिया और हाथ मे मिट्टी का भिक्षा-पात्र दे, इस बाल संन्यासी की छवि देखने लगा।

फिर जिस दिशा मे भावी बुद्ध थे उस दिशा मे नालक ने हाथ जोडकर—'बुद्ध शरणं गच्छामि' कहा। इसके पश्चात्, उसने अपने कन्धे पर लटकती झोली में भिक्षा-पात्र रख दिया और उत्तर दिशा में हिमाचल पर्वत की ओर तपस्या के हेतु चल पडा।''...

नई सेविका ने पूछा—'और अम्मा, उन आठ ब्राह्मणों ने अपने लिए क्या निर्णय किया ?'

'सेविके, कौडिन्य तो पूर्व जन्मो मे बुद्धो का शिष्य रह चुका था और यह उसका अन्तिम जन्म था। वह अपने भविष्य के विषय में निश्चिन्त था कि उसे भावी बुद्ध की शरण मे जाना है। परन्तु शेष जो सात ब्राह्मण थे वे अपने-अपने आवास लौट आए और पुत्रो को बुलाकर बोले—'तात, हम तो वृद्ध हो चले। मरण-पर्व समीप आ गया है। और हम भले जीवित रहे या मृत्यु के मंदिर मे जाए, शाक्य कुमार बुद्ध होगा। उस पावन-वेला के आगमन पर कम-से-कम तुम तो प्रव्रज्या ग्रहण कर, जीवन-लाभ लेना। तुम्हारा कल्याण होगा।'

ब्राह्मण कुमारो ने अपने-अपने जनक की बात ध्यानपूर्वक सुनी और वचन दिया कि वे अवश्य उस महाज्योति की कृपा-किरण प्राप्त करेंगे।

11

छन्दक के साथ खेलता-खेलता, एक दिन मैं उसकी कुटिया पर पहुंच गया था, जो प्रासाद के एक छोर पर बनी हुई थी।

छन्दक की मा अन्ना उस समय राजकीय अश्वों को दाना-पानी दे रही थी। मुझे आया जान वह प्रसन्न हुई, और दौडी-दौडी एक चौकी ले आई—'बैठो कुमार।'

'हा अन्ना, अच्छी तो हो ?'

'अच्छी हू, तुम्हारी छाया मे कौन सुखी नही है ?'

'एक वृद्ध, जो मैने छन्दक के साथ, एक दिन राजमार्ग पर देखा था। जानती हो अन्ना, वह तुमसे भी अधिक वृद्ध था। उसके सारे केश सफेद हो गए थे और वह तो, दो पग भी कठिनाई से चल रहा था..'

बीच में छन्ना बोला—'छोडो भी कुमार'...और...प्रसग बदलने के लिए उसने कहा—'अब तो, अम्मा, कुमार के लिए हेमन्त के बाद, दूसरा ग्रीष्म-प्रासाद भी बन गया है। इन गर्मियो मे अम्मा हम वहीं रहने वाले है।'

मैने हसकर कहा—'सामन्तो और श्रेष्ठियो के इन भवनो के निर्माण में जाने कितने लोगो का शोषण होता है। हजारो व्यक्ति बेघर-बार होते है, तब जमीन मिलती हे महलों के लिए। और लाखो भूखे-प्यासे, पीडित प्राणियों का परिश्रम और पसीना बहता है, तब कही जाकर प्रासादो की मजिले ऊची उठती है ! ठीक है न छन्दक ?'

'कुमार, आपको तो बस, जब से उस भिखमंगे को देखा, यही धुन लग गई है। आखिर कोई श्रमिक काम न करे, तो क्या करे ?'

'कुछ करे, न करे यह समाज-विधायको की चिन्ता का विषय है। इसका तात्पर्य यह तो नही कि व्यक्ति का श्रम उसे मात्र दो जून की रोटी जुटा दे ?'

'यह तो बेटा, अपना-अपना भाग है।' अन्ना ने नन्हे अबलक को हरी घास डालते हुए कहा।

'भाग्य कहती हो इसे। मनुष्य स्वयं अपना भाग्य बनाता है। हेमन्त और ग्रीष्म प्रासादों मे रहने वाले कब आए थे भवन बनाने ? फिर भी वे इन भवनो मे गर्व और दर्पपूर्वक रहते हैं और उन श्रमिको का क्या हुआ, जिन्होने आंधी और अधड, तूफान और तुषार के बीच महल की नीवो में अपनी हड्डिया गलाई हैं और दीवारो को अपने खून से चमकाकर लाल किया है। यदि उनके वे लाख-लाख हाथ न उठते तो, कहा से आते ये अट्टालिका-भवन और रेशमी वस्त्र। ये स्वर्ण और कचन के आभूषण क्योकर बनते.. जानती हो अन्ना, तुम्हारे और तुम्हारे वर्ग के इन हाथो का चमत्कार ?...भोली अन्ना सिर क्या हिला रही हो ? तुमने दिन देखे हैं, तो दिन को दिन और रात को रात क्यो नही कहती ?...ये इन हाथों का ही चमत्कार है कि खदानो से, धरती की तहों से धातुए प्रगट हुई। इन हाथो को छूकर मिट्टी सोना हो गई जो आज उच्चवर्गीय किशोरियों के कानों मे कुण्डल बनकर लहरा रही है।...इन हाथो

ने खेतों को हरियाली और पौधों को फूल दिए हैं। ज्ञान और विज्ञान का विकास श्रमिकों ने किया है, श्रेष्ठियों सामन्तों ने नहीं। तुमने कभी सुना अन्ना, कि किसी सेठ ने किसी यान या यन्त्र का आविष्कार किया ? तुमने कभी सुना, अमुक सामन्त ने अमुक औषधि की खोज की है। उन्होंने क्या दिया, जो सर्वस्व ले लेते हैं। छन्ना, अन्ना वे परोपजीवी हैं, अब अधिक दिन उनका यह छल-बल नहीं चलेगा आज आदमी की पलकों से नींद उचट गई है और उसकी करवटों में शताब्दियां अंगड़ाई ले रही हैं। वर्ग और वर्ण के ये भेद जल्द मिट जाएंगे अन्ना, तुम्हारे देखते-देखते मिट जाएंगे, जरूर मिट जाएंगे।'

'परन्तु मनुष्य का क्या भरोसा कुमार, यदि फिर किसी ने भेद की खाइयां खोद दीं तो ?'

'मनुष्य फिर विद्रोह करेगा और उन खुदी हुई खाइयों को पाट देगा। मनुष्य की संघर्ष-परम्परा का अन्त नहीं। उसके बार-बार के प्रयत्न पर उसकी विजय होगी और तब न रहेंगी खाइयां और ऊंचाइयां और न रहेंगे उन्हें खोदनेवाले..

'अम्बा जानती हो, महाराज ने कुमार के इन नए प्रासादों में कितना खर्च किया है ? सौ कोटि।'

'सौ कोटि, क्या हजार से भी अधिक होता है लल्ला !'

'हजार क्या, लाख से भी अधिक होता है।'

मेरी बलाइयां लेती हुई वह भोली वृद्धा बोली—'कितने अच्छे हैं हमारे महाराज ! कुमरा के प्रति कितना अगम अनुराग है उनका ! और प्रजा की भी उन्हें रात-दिन चिन्ता सदैव घाट, कूप और भवन, सरोवर बनवाकर लाखों लोगों को रोजी-रोटी देते हैं वे। छन्ना, वासन्ती के ससुराल से लौटने पर अगले शनिवार तक हम भी ये नए प्रासाद देखने चलेंगे रे ! फिर जब कुमार रहने लगेंगे तो चौकी-पहरे में हमें कौन जाने देगा ?'

'अन्ना, मैं तुम्हें सच कहता हूं, मैं न रहूंगा इन महलों में। मैंने प्रजा मां के झरोखों से देखा है, जब ये महल बन रहे थे, कैसी चिलचिलाती धूप और लू में मजदूर पत्थर ढो रहे थे ! जब धरती लावा उगल रही थी और आसमान शोले बरसा रहा था, तब भी वे नंगे-भूखे श्रमिक अपने काम में लगे थे ! मैंने उनकी नंगी-काली पीठ पर कड़कते चाबुक सुने हैं.. अन्ना मैया आज भी उनकी सड-सड मेरे कलेजे के कोने-कोने को काटती है, सालती है उनकी चुभन। ढीले नूपुरों और नंगे गीतों की गूंज में राजकक्षों के यक्षों को इन सडसडाते चाबुकों की मार नहीं सुनाई देती ! परन्तु, एक दिन आएगा जब ये अभागे उठ खड़े होंगे और नूपुरों की छनछनाहट नृत्य पूरा होने के पहले रुक जाएगी और वारुणी के पात्र अधरों से लगने के पूर्व ही स्थिर रह जायेंगे ! तुम नहीं जानती अन्ना, तुम नहीं जानते छन्दक, कुल-कान्ताओं के उन प्यालों में जिस दिन उन्हें इन मजलूमों के विद्रोही चेहरे की परछाईं दिखाई देगी उस दिन धरती में पहली-बार मनु-पुत्र नए विधान की रचना करेगा तब न

रह जाएगा चन्द सामन्तो और श्रेष्ठियो के हाथों मे लाखो-लाखो लोगों का भाग्य।. छन्ना तुम कितने भोले हो सकते हो, यदि तुम यह कहते हो कि ये आभिजात्य इसी प्रकार अनन्तकाल तक जनता का यों ही भक्षण करते रहेंगे। क्या तुम्हारा ख्याल है, जनता सोती ही रहेगी ? क्या लोग भूखे ही रहेंगे ?.

'क्या शोपण चलता ही रहेगा. पाप फलता ही रहेगा ? भोले हो, बहुत भोले हो. यदि तुम्हे अपनी सन्तानो के सुन्दर भविष्य की आशा नही ! पाप का घट भरता है। बूद-बूद का प्रयत्न उसकी सीमा का अन्त कर देगा। और जिस दिन अभिनव घट-विस्फोट होगा, आज के ये स्वामी नही रहेगे, जनता अपनी जय का नारा उठाएगी और आकाशवाणी कहेगी ..'प्रजा बदल गई है, लोक मे क्रान्ति हुई है !'

'कुमार आज शाला नही गए ? असित गुरु स्वस्थ तो है न ?'

'आजकल शाला महलो मे ही लगती है। असित की बातो मे अब मेरा मन नही लगता। वे बार-बार एक ही बात दुहराते हैं—ईश्वर सर्वशक्तिमान है। ईश्वर यों है, त्यों है। राजा परम पवित्र है। ब्राह्मण सर्वश्रेष्ठ है।. लेकिन मैं पूछता हू अन्ना, ईश्वर सर्वशक्तिमान् है, तो यह अन्याय क्यो कर सह रहा है ? राजा पवित्र है तो प्रजा पवित्र है। राजा की पवित्रता प्रजा के अस्तित्व पर है। ब्राह्मणों की श्रेष्ठता, शूद्रों के होने से है। शूद्र के अभाव मे श्रेष्ठ की उपमा कैसे और किससे दी जाएगी ?...

'तुम यह रामनामी कठी कहा से उठा लायी, अम्मा ! किस धूर्त्त ने तुम्हे ठग लिया है ?'

'ऐसा न कहो कुमार, मा को यह कठी एक तपस्वी ने दी है।'

'यह सब ढोग है। वर्ग-संघर्प को रोकने का जाल है। अपनी उदरपूर्ति का प्रपच है।...ईश्वर को सर्वशक्तिमान् स्वीकार करते हो पर वह तुम्हारे कौन-से काम आता है ! क्या वह तुम्हारे लिए खेत जोतता है, बगीचे बोता है, तुम्हारी रोटी की चिन्ता करता है ? तुम्हारी पीठ पर पडते एक कोडे से तुम्हारी रक्षा नही कर सकता, तो क्यो कहते हो उसे सर्वशक्तिमान् ?

'अन्ना, मनुष्य स्वय अपना स्वामी है। वह स्वय अपने वर्तमान और भविष्य की रचना करता है। मनुष्य ही ईश्वर का विधाता है। क्या तुमने देखा है, ईश्वर को मनुष्य बनाते ? लेकिन सारी दुनिया जानती है कि मनुष्य ने ईश्वर को बनाया। छन्दक, यह तो, तुम भी जानते हो कि कार्य-कारण का सम्बन्ध कैसा है ? हर एक कार्य का एक न एक कारण अवश्य होता है—ऐसा ईश्वरवादी पडित कहते है—वे कहते है कार्य-कारण के नियमानुसार संसार का कोई भी कारण अवश्य होना चाहिए और वह कारण है परमेश्वर। किन्तु इन पंडितों से कोई पूछे कि ईश्वर किस प्रकार का कारण है। क्या ईश्वर संसार पर निर्भर है ? क्या उभय परस्पर आश्रित है ? ईश्वर क्या उपादान कारण है ? जिस प्रकार सुघट-घट का कारण मिट्टी है, अलकार का कारण सोना या चांदी है सो यदि ईश्वर इस संसार का उपादान कारण है तो अर्थ यही हुआ कि ससार परमेश्वर का रूपान्तर मात्र है, जैसे मिट्टी बदलकर घडा

बन गई। घडा गल कर पुन मिट्टी बन गया। साना ढलकर अलकार बना। और अलकार गलकर पुन सुवर्ण बना। यदि यही कारण-प्रकार है, तो अन्ना यह कहना होगा कि इस दृष्टि-जगत् मे जितना सुख-दु:ख है, वह सब ईश्वर में है, ईश्वर के कारण है, और ईश्वर का रूपान्तर है।

यदि ईश्वर इस जगत का उपादान कारण है, तो वह निर्विकार कैसे हो सकता है ? यदि हम ईश्वर को निमित्त कारण मान ले, तो यह प्रश्न फिर भी रह जाएगा कि वह क्या बिना किसी उपादान कारण के संसार की रचना करता है। जिस प्रकार कुम्भकार घडे को बनाता है। स्वर्णकार आभूषण बनाता है।

यदि हम बिना उपादान कारण के सृष्टि रचना मानते है, तो मानना होगा कि अभाव से भाव की उत्पत्ति होती है। इसमे भला, ईश्वर की जरूरत कहा रह जाएगी। अब तो, कार्य कारण का सिद्धान्त भी चल न सकेगा और यह आवश्यक न रह जाएगा कि ससार का कारण हम ईश्वर को माने। ईश्वर ने संसार को कुम्हार की भाति जगत से अलग रहकर बनाया या उसमे व्याप्त होकर ? यदि वह अलग है, तो फिर हम उसे सर्वव्यापक कैसे कह सकते है ? और जब वह सर्वव्यापक नही है तो अवश्य ही उसने सृष्टि-रचना के लिए अन्य सहायकों का सहयोग लिया होगा। और अवश्य वह अन्य साधनों पर निर्भर रहा होगा।

अन्ना, यह ठीक समझ लो कि यदि ईश्वर ससार का स्रष्टा है और मनुष्य उसके हाथ का खिलौना है, उस पर निर्भर है, उसके आश्रित हे, तो चलो छुट्टी मिली। तो, सारा दायित्व ईश्वर पर रह जाता है। फिर तो सारे शोषण और अत्याचार का भार ईश्वर को अपने बूढे कधो पर उठाना होगा ?

यदि सृष्टि का आदि नही, तो उसकी रचना भी अनादि है। फिर यह बीच मे ईश्वर कहा से आ टपका ? क्योंकि कार्य के समय उसके कर्त्ता और कारण का भी होना सिद्ध होना चाहिए।

एक चीज चुन लो छन्दक, मनुष्य को ईश्वर के अधीन मानते हो, तो यह नही हो सकता कि अपनी इच्छानुसार अपना निर्माण करे। फिर यह कैसे कहोगे, मनुष्य अपना स्वामी है ? और जब मनुष्य अपने ही अधीन नही है, तो उसे कोई भी काम या प्रयत्न करने की छूट और सुविधा कहा ?...

वहां से जो लौटा, तो पूरी राह में इसी चिन्तन मे तल्लीन रहा। प्रासाद पहुचते-पहुचते मेरे मन ने यह साक्षी दी कि मनुष्य अपना स्रष्टा आप है। वह अपने ही कर्म-फल स्वरूप, अपनी वर्तमान अवस्था में है। और उसकी भावी अवस्था भी अपने कर्मो पर निर्भर है। मनुष्य को अपने कार्य-कलाप की स्वतंत्रता रहेगी, तभी न वह सत्पुरुषों के बताए सद्मार्ग पर चल सकेगा। जो स्वय दूसरे का दास है, वह कैसे करेगा अपना कल्याण ?

सिद्धकाम और पूर्णकाम बनने के लिए मनुष्य का स्वतंत्र होना आवश्यक है। स्वतंत्रता ही मुक्ति है !

12

तब महाराजा ने पूछा—

'कालदेवल, किन कारणों से कुमार राग को छोडकर विराग की शरण जाएगा ? किस प्रकार वह गृह-त्याग कर अनिकेत हो जाएगा ?'

'शुद्धोधन, तेरा बेटा पहले एक वृद्ध जीवधारी देखेगा। उसके कारण मन मे करुणा और वृद्धावस्था के प्रति विराग उत्पन्न होगा। उस गत वह इतना उद्विग्न हो जाएगा कि कोई उसे विराम न दे सकेगा।'

'तो उसे कैसे बाधा जाए ? कालदेवल, तुम मेरे मित्र हो। मेरे मन-प्रागण की गति जानते हो। सिद्धार्थ मेरे बुढ़ापे का एकमात्र सहारा है। वह मेरी माया की एकान्त धरोहर है। कालदेवल, जरा योग साधो, मन को एकाग्र करो मेरे मित्र, और अपने इस बूढे बन्धु को बतलाओ कि सिद्धार्थ का भविष्य क्या है ?'

'तुम बडे दुराग्रही हो शुद्धोधन। तुम क्या महाकाल की पीठ पर सवार होना चाहते हो ? इस बुढापे मे भी विजय-प्राप्ति की तुम्हारी लालसा नही मिटी राजन् ! कुछ भी करो, कुछ भी कहो, कुमार वृद्ध प्राणी को देखेगा, अवश्य देखेगा। यह कालभोज कालदेवल की भविष्यवाणी है, किसी बनिए की बानी नही।'

'कालदेवल, तुमने शुद्धोधन की तलवार का पानी देखा है। उसकी तलवार धधकती आग के दो टुकडे कर सकती है। उसकी यह तलवार जल-प्रवाह को काटकर दो धाराओं में बहा सकती है, तुमने इसे शोणित-धारा बहाते, तो अपनी आंखो अनेक बार देखा है, कालदेवल !...कौन है ? बन्धुमान्, नगरनायक से कहो कि आज से सिद्धार्थ कुमार के महलो का पहरा आधे योजन तक बढा दे। इस पहरे की परिधि मे कोई भी प्राणी मेरे आदेश के बिना प्रवेश न करे हा. .हा.. हा, ठीक है न कालदेवल ! देखता हू अब तुम्हारे विधाता का वृद्ध कैसे दिखलाई पडता है ?'

'शुद्धोधन, तुम मनुष्य हो और मनुष्य की शक्ति और योजना की सीमा होती है। जो अदृश्य है उसे तुम नहीं देख सकते।'

'एक वृद्ध बेचारे की क्या बिसात ! स्वय शुद्धोधन शाक्य कुमार के प्रासादो का प्रहरी बनेगा। फिर वृद्ध तो क्या, स्वय काल की परछाई भी कुमार के प्रासाद तक नही पहुंच सकेगी।'

'एक वृद्ध नहीं शुद्धोधन, तेरा यह बेटा रोगी को भी देखेगा। रोगी की ही बात नही शुद्धोधन, तेरा यह रत्न बड़ा होनहार है, यह एक मृतक भी देखेगा। एक मृतक मानवी से क्या होगा, इस भ्रम में न रहना, सिद्धार्थ कुमार एक सन्यासी के भी दर्शन करेगा।..

'वृद्ध को देखकर उत्पन्न हुआ उसके मन का आश्चर्य, रोगी को देखने पर करुणा मे बदल जाएगा। मृतक के दर्शन-मात्र से वह जीवन की क्षण-भंगुरता पर विचार करेगा, उसकी अनन्त और अबाध चिन्तना उसे सृष्टि के समस्त पदार्थो

मे नश्वरता देखने के लिए बाध्य कर देगी और तब देखूगा तेरी तलवार का जौहर शुद्धोधन ! तेरी तलवार मनुष्य को मार सकती है, आग-पानी को काट सकती है, परन्तु कुमार के विचारो का विनाश नही कर सकेगी। तूने कभी तलवारों से विचारो का हनन देखा है ?'

'ठीक कहते हो कालदेवल, तुम स्वय बताओ, मैं क्या करू ? कालदेवल, काश तुम अचेल, दिगम्बर सिद्ध न होकर मेरी तरह एक विधुर होते ! काश, तुमने पिता का हृदय पाया होता ? काश, तुम्हारी अन्तरात्मा मे ब्रह्म के बजाय किसी शिशु की तुतली बोली समायी होती ? तुम्हारी आखो-आगे युगो का अंधकार प्रत्यक्ष होता ओर दूर पर यदि कही आशा का एकमात्र प्रदीप झिलमिलाता होता, तो बताओ ब्रह्म क जिज्ञासु, तुम क्या करते ? तुमने परलोक तो देखा कालदेवल, लोक नही देखा। तुमने वैराग्य की गोद बसाई, परन्तु गृहस्थाश्रम मे रहकर, मा का अपने लाल को दूध पिलाना तुमने नही देखा, कालदेवल ! इसी से इस निष्ठुर वैराग्य और निष्काम-ज्योति की बाते बघारते हो।

'बन्धुमान्, नगरनायक को स्पष्ट कह दो कि आज से कुमार के किसी मार्ग मे वृद्ध-भिखारी, नगा-भूखा, कोई रोगी-दरिद्र, कोई मृतक, कोई संन्यासी न आ सके। और ऐसा कुछ करो कि कुमार राग से विराग की ओर न जा सके। हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा-प्रासादो में सुरा और सुन्दरियों का प्रबन्ध चौगुना ..नही सौ गुना कर दो ..अभी वहा कितनी नर्तकियां हैं बन्धुमान् ! क्या कहा, बीस हजार ? तो, चालीस हजार और बढा दो। महल के प्रांगण मे पचशायक की पुत्रियों का शुभागमन हो, इस निमित्त एक रस-यज्ञ की तैयारी की जाए। कालदेवल कहता है, कुमार किसी बधन मे बंध न सकेगा ? अब देखा हू बन्धुमान् अग-अनग के रग खेलती अगनाओ की गोरी बाहुओ के बधन मे मेरा बेटा बधता है या नहीं ?...और यहीं मुझे न रोको बन्धुमान्, आज के रात्रि-भोज मे महाराज दण्डपाणि को आमत्रित करो, क्या नाम हे उनकी सुन्दरी बेटी का वह जो नाग-नृत्य के दिन नाची थी ? .यशोधरा, हा, वह साक्षात् माया का अवतार है ! माया के सम्मोहन में, तो तुम्हारा ब्रह्म भी बंधा है, कालदेवल ! एक बार यदि कहो कि कुमारी यशोधरा के रतिदुर्लभ रूप-रस से युवराज आकर्षित न हो सकेगा तो मैं तुम्हारा दिगम्बरत्व अपना समूचा साम्राज्य देकर खरीद लूगा। हा.. हा. .हा, मै तो कहता ही रहा कालदेवल, विराग से राग बडा है। ब्रह्म से माया बडी है, लेकिन तूने मेरी बात न मानी और रूप की सुरा को छोड़ ज्ञान के पीछे भटकता रहा ! इस ओस को चाटे तेरी प्यास अब तो बुझी कालदेवल ? आखिर, कब तक यो अलख जगाता रहेगा, कब तक यह धूनी रमाता रहेगा, कब तक यो नंगा घूमता रहेगा ?

'कालदेवल, दुनिया जीवितो के लिए है, मुर्दो के लिए नही—और वे सब मुर्दे हे जिनका मन मर गया है, जिनकी तृष्णा बुझ गई है और जिनकी तृषा मिट गई है। योग के महाकूप में पहुचकर मुक्ति का अमृत पीने के पूर्व, भोग की सीढिया

उतरनी पड़ेगी कालदेवल वैसे तुम स्वय ज्ञानी ओर तपस्वी हो मेरे दस सहस्र हाथियो ने आज तक जितनी धूल नही उडाई, उतनी तुम अपनी इकलोती काया पर लपेट चुके हो, मृत्युजयि ।

'बन्धुमान् ! महाराज दण्डपाणि को सन्देश भेज दिया है न ? शैवालिके, गान्धार स आया वह नया पात्र तो लाओ, जरा उसका आच्छादन धीरे हटाना। उसकी मदिर गन्ध से भीगकर कालदेवल का मुक्तिकामी-मन, काम-कामी न बन जाए, बरना उसके याग्य शंखिनी सारे कपिलवस्तु मे ढूढे ने मिलेगी।. अरे, वह बूढा कहा गया ?'

'गया कहां ? वारुणी का पात्र खुलने से पूर्व ही, नूपुरो का छम् बजने से पूर्व ही मत्रबल से ओझल हो गया। गया होगा, उसी देवलोक मे जहा सदियो पुरानी अप्सराए ऐसे-ऐसे नगे-भूतो की बाट जोहती है।'

'तेरी बानी झूठ होते हुए भी सच है शैवाली, क्योकि तू मेरे शब्द पर अपने शब्द की मुहर लगा रही है ।''

'हम गुलाम का यही काम है, अन्नदाता ।' शैवालिका ने झुक-झुककर कहा।

यह बात मुझे वर्षो उपरान्त किसी ने बताई थी, आज प्रसंग आने पर याद हो आई।

और आज मैं सोचता हू उन सामन्तो और श्रेष्ठियो ने अपने क्षुद्र स्वार्थो के लिए क्या-क्या न किया ? ब्राह्मणो, पडितो और पुरोहितो ने सत्य के मुह पर किस निर्लज्जतापूर्वक कालिख पोती ? धन ने धर्म को सरे बाजार खरीदा। और उसकी अर्धांगी सत्य की देवी, सत्या का चीर हरण कर उसे दिनदहाडे, उन राजपथो पर कि जिन पर न्याय की रक्षा का स्वाग भरनेवाले सम्राटो के जुलूस निकलते है ओर न्याय-मत्रियों की सवारिया चलती है और परम्परा के पोषक ब्राह्मणो के स्वर्ण-रथ दौडते है—विवसना किया ।

उच्च वर्णो की, वर्गो की इस अभिसधि ने मेरे रोम-रोम मे विद्रोह की वह्नियां सुलगा दी है।. .अब तो सुनो हे शाक्यों के साम्राज्यो की शृखलाओ के बंदीजनो, या तो तुम्हारी शृखलाए चूर-चूर होगी या राजकुमार भरत की इस पुण्य-भूमि पर सिद्धार्थ नाम का कोई मानवी दृष्टिगोचर न होगा आज से मुझे अपने ही कुल-रक्त की शपथ है, अन्धकार के विरुद्ध मेरा सग्राम अन्तिम सांस पर्यन्त चलेगा। मौत को जीवन की शरण आना ही पडेगा। देव-सृष्टि की कल्पना पर मानव-सृष्टि की सचाई विजयिनी होगी।

आज से मे अन्याय के विरुद्ध सतत संघर्ष करूंगा—मैने अपने अटल निश्चय को चुनौती दी।

13

आपाढ मास का पहला दिन। कपिलवस्तु के जन-सागर में उल्लास की उमग-तरगे हिल्लोलित थी। आनन्द का ऐसा ज्वार चढा था, चढकर जो न उतरे।

आज हलोत्सव था। वर्षागमन पर हम शाक्यो के राजा और प्रजा-जन अपने-अपने खेत की जुताई करते रहे है। युगो से यह पर्व-प्रणाली हमारे जनपद की परम्परा बन गयी थी।

राजा जनता द्वारा निर्वाचित लोक-प्रतिनिधि है। जनता के जीवन का एकमात्र आधार कृषि-कार्य है। वाणिज्य और व्यवसाय भी रहे, परन्तु उन्होंने वणिकों का एक वर्ग विशेष बना दिया। जनता के शोषण की एक वृत्ति व्यवसायियो मे पैदा कर दी। तभी न मै कहता रहा हू कि निगण्ठ नाथपुत्त ने जो तथाकथित नया धर्म दिया, वह धर्म नहीं वर्ग है। नाथपुत्त ने सामन्तवादी वर्ग के समानान्तर शोषको का एक नया वर्ग रच दिया—पहले जो वैश्य बेचारे खेती करते थे, पशु-पालन जिनका धर्म था—नाथपुत्त ने कर्महीनता की ऐसी रट लगाई कि इस जाति ने कर्म को छोडना आरम्भ किया और कर्महीन परोपजीवियो की एक नई जाति बन गई। कर्म जब न रहा, श्रम जब न रहा, तो इन निगठवादी वणिको का काम रह गया—खाद्य का क्रय-विक्रय, लाभ पर वस्तुओं को बेचना, वस्तु-सचय और पदार्थ-संग्रह। अपरिग्रह का जितना शोर इन्होने किया, उतना ही परिग्रह इनमे था, और भी बढता गया। इसीलिए तो मै कहता रहा हू—ब्राह्मणो की सभ्यता मे सहयोगी हैं नाथपुत्त। एक ओर पुरोहितो का वर्ग, दूसरी ओर वणिको का सम्प्रदाय। फिर भी निगण्ठ नाथपुत्त क्रांतिकारी कैसे ? वह तो सुधारक है सुधारक। उसके सुधार मे भी, अवैज्ञानिकता है, फलस्वरूप समाज की नव रचना तो नही हुई, उसके आगन मे दरारें पड गई और नई दीवारे खडी हो गई, जिन्होने व्यक्ति को व्यक्ति से अलग कर दिया। अभिनव समाजवादी समाज की रचना के बजाय उसने व्यक्तिगत, कर्महीन समाज की रचना की।

उस दिन पिताजी भी हल-बैल लेकर अपना खेत जोतने आए थे। साथ मे राज्य के सभी पदाधिकारी और अंत पुरो की महिलाएं भी थीं। परम-भट्टारक का हल चादी-सोने का था। उसके आगे स्वर्ण-शृंखलाओं में जुते गोडापारी वृषभ थे। इन वृषभराज के सीग सोने से मढ़े हुए थे—मुझे इतनी ही धुधली-सी याद है।

सहस्रों नर-नारी इस उत्सव मे आए थे और एक मेला-सा लग गया था। मुझे भलीभाति स्मरण है नाथपुत्त के अनुयायी जीव-हिंसा के भय से हलोत्सव मे भाग नही ले रहे थे। उनमें से कुछ तो अनुपस्थित भी थे, उन्हें भय था कि यदि दूसरे कृषकों को वे कृषि-कर्मनिरत देखेंगे तो उन्हें भी, देखने मात्र से जीव-हिंसा का दोष होगा। खैर।

एक जम्बु वृक्ष की छाया मे खड़ा-खडा मैं पिताजी को हल जोतते देख रहा था। धरती मां से उसके बेटे का यह स्नेह-सम्बन्ध मुझे अच्छा लगा। यो हम धरती

के कितन निकट आते है जितना गहरा होगा धरती से हमारा सम्पर्क उतनी गहरी होगी हमारी सामाजिक शक्ति और एकता। धरती जीवन देता है। ऐसी धरती के सम्पर्क में जीव-हिंसा मानने वाले निगण्ठवादी का भविष्य क्या होगा—यही मेरी चिन्ता का विषय था।

मैं तो अपने इन्ही विचारो मे खोया रहा। मुझे मालूम नही कब मै पद्मासन म आसीन हुआ और कब मेरे पास की परिचारिकाए समारोह के दर्शन की उत्सुकता मे आगे बढ गई। हां मेरे कानों मे रह-रहकर बैलों की पीठ पर पडते कोडो की आवाज आ रही थी और आ रही थी सजी-बसी बालाओ की खिल-खिल—बालाए जो गजरे और वेणी गूथने के लिए बेरहमी से फूलों को तोड रही थीं। आज मैं सोचता हू बालाओ की वह निर्दयता उनकी आयु के कारण थी, नवयौवना तो वे थी ही, मन मे उमगते काम-विलास का प्रवाह-वेग था वह, जिसमे बहती वे कोमल कलियों और पुष्पो को एक झटके मे तोड लेती थी, उन्हें छेदती-बेधती थी या मीज-मसलकर फेक देती थी। उनके कण्ठ से सुरीले गीत उठ रहे थे। गजरो और मालाओ से वे अपना शृगार कर रही थीं, माथे पर उनका मुकुट रखती, कानो मे उन्हे पहनती और अलसाए केशो में उन्हे खोस लेती।

कैसे है ये लोग—कोई वृषभों को यन्त्रणा दे रहा है, कोई हरी-हरी घास को काट रहा है और ये रमणिया और ये बालिकाए हैं कि मूक कलियो को, पल्लवो और प्रसूनो को अपने वृन्त से विलग कर रही है।

जब मानव-मन का आह्लाद या अवसाद बड़ा, बहुत बडा हो जाता है, तो दुनिया बहुत छोटी हो जाती है। और तब उसे भूल जाना साधारण हो जाता है। मैं अपनी तन्मयता का अवगाहन करता रहा।

इस पवित्र हलोत्सव में एक सौ आठ प्रधान हल थे। इनमे एक सौ सात चादी के और एक हल जो परम-भट्टारक का था, सोने का था। उसकी सभी चीजें लाल स्वर्ण की थीं। मैंने देखा था पिताजी बडे रस और कौशल से हल चला रहे थे। एक सौ आठ हल एक साथ चल रहे थे और यों धरती माता की पूजा कर रहे थे। खेती से बड़ी धरती मां की पूजा और क्या होगी ! महाराज कभी अपना हल राजकीय खेत के इस कोने से उस कोने तक चला ले जाते, कभी इस ओर से उस ओर तक वेगपूर्वक पहुंच जाते। उनका हस्त-लाघव दर्शनीय था। वैसा ही उनका शुद्ध स्वरूप भी था। शाक्यो की आनुवशिक परम्परा में सम्भवतः वे सर्वाधिक सुन्दर थे। ओर इधर जब से उनके केश श्वेत हो चले थे और दाढ़ी के बाल भी चवर की तरह सफेद हो गए थे—उनके वदन की दीप्ति वर्द्धमान हो गई थी।

इस वेला हलोत्सव पर्व का समारोह अपने सर्वोच्च विन्दु पर था। जनोल्लास, मनोल्लास और रसोल्लास का अखण्ड पारावार बह रहा था। उस पारावार से अछूता कोई बचा था, तो वह मैं ही था,। परिचारिकाए इतस्ततः थी। उन्हें तो पर्वानन्द और सुरानन्द के कारण अपनी ही सुधि न थी और नख से शिख तक वे बास मे बसी

थीं । फिर भला क्यों कर उन्हे मेरी सुध रहती ।

पहाडी ढाल से उतरती भीलनी की तरह साझ ढलने लगी थी और छायाए घनीभूत होकर पूर्व की ओर फैल रही थीं। शेष छायाए सिमटे या प्रसरे। जम्बु वृक्ष की छाया अपने स्थान पर अचल थी। उसकी गोलाई और परिधि का चक्र अभग था। मै उसकी उपमा-उपमान के आधार पर जन्मान्तर के चक्र की गति को समझने का प्रयत्न कर रहा था। जीवन और मरण मनुष्य की निर्भयता की कसौटी है। जब मनुष्य जीवन के सभी रहस्यो का भेद जान लेता है और जीवित जगत् की कोई भी समस्या शेष नही रह जाती, तो उसके मन मे मृत्यु की लालसा उत्पन्न हो जाती है, क्योकि मृत्यु और कुछ नही एक उलझी हुई गुत्थी है, एक बेसुलझा, बिन बूझा रहस्य है।

इस बीच दाइया और दासिया आई होगी। उन्होने मुझे विचारस्थ देखा होगा। लोग कहते थे। यह मुझे तो कुछ मालूम नही।

दासिया दौड़ी-दौडी महाराज के पास गई और बोली—'देव की जय हो। राजकुमार जहा विराजमान है, उस स्थल पर जम्बु वृक्ष की गोल छाया अब तक अपनी परिधि मे अचल है, मानो वह अपनी गोलाई मे युवराज की परिक्रमा कर रही है।'

महाराज ने प्रसन्न होकर कहा—'धन्य है भो, मेरा कुमार।'

दासियो के साथ महाराज जम्बु-द्रुम के नीचे आए और मेरे कधे पर धीमे अपना हाथ छुआकर बोले—'बेटा, ऐसी नन्ही आयु मे बहुत-बहुत सोच-विचार करना ठीक नही। तीसरा पहर ढल गया, उठो, जरा देखो, कितने-कितने लोग उत्सव मे भाग ले रहे हैं और तुम हो कि यहां यों मौन-मौन बैठे हो।'

मैने उठकर पिताजी को वन्दन किया और आसन छोडकर, एक ओर खडा हो गया। वे बोले—'देखो कुमार, रोहिणी नदी के पार पादप-पुंजों में मयूरो का सुन्दर नृत्य। वृक्षो की शाखाओं पर विरमते पछीगण कैसा मधुर कलरव कर रहे हैं। तुम्हारे साथी बालक भी विविध लीलाओं मे भाग ले रहे है, अकेले तुम्ही यो उदास क्यो बैठे हो।'

'मै उदास नही था पूज्यवर, मै इस छाया चक्र के समान गोल-गोल घूमते जन्मान्तर और आवागमन के चक्र की गहराई पर विचार कर रहा था।'

महाराज की आखे विस्मय से फैल गयी—'इस आयु मे ऐसे विचार। अभी तो तुम निरे अबोध बालक हो बेटा। सखा-सगियो के साथ खेलो-कूदो, शोर मचाओ। मै तो तुम्हारी चचल चुहुल-छेड़छाड़ की शिकायत सुनने को उत्सुक हू, और तुम यो साधुओ की तरह मौन साधे बैठे हो!'

'साधु क्या होता है पिताजी?'

महाराज चौंक उठे। उन्हें अपनी भूल ज्ञात हुई। साधु का तो नाम भी लेना नही चाहिए।

'कुछ नही बेटा, कुछ नही...कुछ नही...आओ घर चले।' पिताजी ने मेरा हाथ

थाम लिया मैं उनकी आज्ञा मान लौट पड़ा परन्तु अभी भी मेरे मन में यह प्रतिध्वनि घहरा रही थी—'जन्मान्तर क्या है ? है या नही ? जन्म से अधिक आकर्षक है मरण का रहस्य पा लेना ।'

हलोत्सव की घटना मुझे देवदत्त और अजातशत्रु ने सुनाई थी। काफी काल बीत जाने पर मुझे यह ज्ञात हुआ था कि बचपन से ही देवदत्त किस प्रकार मुझसे विरोध रखता है ?

वह चाहता था कि अवश्य मै घर छोडकर चला जाऊ। अपने अधिकार और अपने परिवार का परित्याग कर दू, तो राज-सिंहासन उसे मिल जाए।

वसुधा पर शासन करने की व्यक्ति की कामना की कहानी विश्व-इतिहास मे अति विचित्र रही है। देवदत्त को भी देखा, उसके छल-छन्द भी देखे। परन्तु, मुझ अब तक समझ मे न आया, राजा बनने के लिए व्यक्ति दूसरे आदमी की राह मे क्यो कर काटे बोता है ? देव ने मेरे मार्ग मे बहुत-सी बाधाए खडी की, किन्तु आज मै सोचता हूं उनसे मेरा क्या बिगडा । मेरा तो हित ही हुआ—उसके बोए शूल मेरे पथ के फूल बन गए ।

14

'महाराज दण्डपाणि ने क्या उत्तर दिया बन्धुमान् ?'

'अपराध क्षमा हो देव, दण्डपाणिजी ने कहा है कि यशोधरा और सिद्धार्थ का विवाह-सम्बन्ध होने से पूर्व, कई सामाजिक असुविधाए है, पहले उन्हे सुलझाना होगा।'

'बन्धुमान्, क्या कहते हो ! मेरे बेटे के लिए, कोई अपनी लडकी देते हुए इस प्रकार समस्याए उपस्थित करे । स्पष्ट कहो, क्या बात है ?'

'मैं पुन क्षमा-प्रार्थी हूं परम भट्टारक। दण्डपाणि कहते हैं कि उन्हे यशोधरा के हाथ के लिए और कई भी सामन्तों और सामन्त-पुत्रों के सन्देश मिले है।'

'लेकिन बन्धुमान् । चाद, चाद है और नक्षत्र, नक्षत्र है । कौन हैं वे ?'

'महाराज धनुर्धर अग्निदत्त, खड्ग-विजेता नन्द, अश्वारोही अर्जुन तथा पराक्रमी देवदत्त स्वयंवर में युवराज के प्रतिद्वद्धी है।'

'कुछ भी हो, यशोधरा और सिद्धार्थ के हाथ पीले होने ही चाहिए। कुमार के लिए यशोधरा से अच्छी दूसरी लडकी मेरी नजर में नही। और उस दिन, नाग-नृत्य के अवसर पर सिद्धार्थ को यशोधरा की भगिमा भा गई थी, यह सच है न, बन्धुमान् ?'

'सत्य है देव । छन्दक भी यही कह रहा था ।'

'और गृह-मंत्री, पिछली सौन्दर्य-प्रतियोगिता में भी यह यशोधरा विजयिनी हुई थी न। मेरा ख्याल है उसी दिन से युवराज का हृदय भी यशोधरा के प्रति आकर्षित हुआ है। और यशोधरा के मन में भी प्रेमाकुर उगा है।'

देव की जय हो, चरो की सूचना भी परम भट्टारक के अनुमान का पोषण करती है।'

महाराज ने दर्प से कहा—'गृह-मंत्री बन्धुमानूजी, एक यशोधरा क्या, मै अपने बेटे के लिए लाख-लाख यशोधरा खडी कर सकता हू। यह तो तुम दण्डपाणि से कह देना। दण्डपाणि रिश्ते मे माया देवी के भाई होते हैं, इसी से मै चुप हू कि उस मृतात्मा को मेरी ओर से असन्तोष न हो, वरना जानते हो, अब तक यशोधरा युवराज के रनिवास मे होती।'

'धैर्य रखिए दयानिधान, अधीरता नीतिज्ञो को शोभा नही देती। मैं आज पुन महाराज दण्डपाणि की सेवा मे जाऊंगा।'

'नही । यशोधरा हो, या न हो यशोधरा। परसो वसंत-पंचमी का शुभ दिन है। सिद्धार्थ कुमार का ब्याह मै उससे आगे स्थगित नही कर सकता।'

'महाराज क्षमा करें, यशोधरा कुमारी राज्य की सौन्दर्य-प्रतियोगिता मे भाग ले चुकी है। जिसमे पंचो ने उन्हें साम्राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी घोषित किया है। इधर पुण्यनाम महिषी प्रजापति देवी भी उस पक्षवालों से चर्चा चला चुकी है। इतना ही नही, लोगो मे भी बात फैल गई है। ऐसी दशा में यशोधरा से सिद्धार्थ का व्याह न होगा, कपिलवस्तु तथा शाक्य-कुल के गौरव एव सम्मान के विपरीत रहेगा।'

इसी बीच कक्ष मे छन्दक कही से आ गया। उसे देखकर महाराज शुद्धोधन के मन को सान्त्वना मिली। कहने लगे—'सुनते हो छन्दक, यह तुम्हारे दण्डपाणि क्या कह रहे है ?'

'सुन चुका हू नाथ । वे स्वयंवर चाहते है।'

'स्वयवर, स्वयवर...आखिर क्यों ?'

'दास का अपराध क्षमा हो देव, दण्डपाणिजी को कुमार की शूरता में सदेह है। वे कहते है—जो सिद्धार्थ साधारण कीट-पतग और पशु-पछियो को पीडित देख कर, रो देता है, वह समरस्थल में शत्रु का संहार कैसे करेगा ?'

महाराज सोच मे पड़ गए—'हू' उन्होंने इतना ही कहा—'छन्दक, ध्यान रखना, दण्डपाणि का यह उतर कुमार के कानो तक न पहुंचे। अन्यथा मेरे भोले बेटे के मन को आघात लगेगा। अब बन्धुमान् तुम्ही बताओ मै क्या करू ?'

'मेरा विचार है देवेन्द्र, आप तनिक सिद्धार्थ कुमार को बुला भेजे और उनकी मन स्थिति देखकर, धीमे-धीमे दण्डपाणिजी का कथन स्पष्ट कर दे। हम उन्हे यह भी बता देंगे कि किस प्रकार देव, अग्नि, अर्जुन और नन्द भी यशोधरा के अभिलाषी है। युवराज शाक्य कुल के सिंह-शावक है। यह सब सुनकर, उनके मन मे देवपुत्रोचित शौर्य और उत्साह जागृत होगा। यशोधरा के अभाव की परिकल्पना से वे कदापि व्यथित न होंगे, अवश्य स्वयवर मै प्रतिपक्षियो को हराकर अपनी प्रिया का वरण करना चाहेंगे।'

फिर छन्दक बोला—'इसके अतिरिक्त, देव कुमार से गुप्त रखकर यशोधरा के

लिए दण्डपाणि जी पर जोर डालना या उनकी स्तुति करना दोनो शाक्य वश की उज्ज्वल परम्परा के प्रतिकूल है।'

महाराज रोष में भर गए और बोले—'अवश्य प्रतिकूल है। कुमार को अभी बुलाओ छन्दक, मै अपने इकलौते का पराक्रम देखूंगा।'

मेरी उपस्थिति पर पिताजी ने मुझसे कहा—'आज मैंने तुम्हे विशेष कारण से बुलाया है बेटा। वरना, इस समय तुम्हे कष्ट न देता।'

'मैं आपकी सेवा मे उपस्थित होऊं, इससे बडा हर्ष और क्या हो सकता है? कल ही तो मा रामचन्द्र के राजतिलक की कथा सुना रही थी। मै जब-जब राम की पितृ-भक्ति की पुण्यकथा सुनता हूं, तो मेरा हृदय गद्गद हो जाता है।'

महाराज ने मुझे छाती से लगा लिया और छन्दक तथा बन्धुमान् की तरफ देखकर गर्व से बोले—'ब्राह्मणो की भविष्यवाणी याद है बन्धुमान्? मेरा बेटा नौखण्ड भूमि का चक्रवर्ती अधीश्वर बनेगा।'

फिर वे मुझे अपने पास बिठाकर बोले—'सुना है तुमने? महाराज दण्डपाणि की दुहिता यशोधरा कुमारी का स्वयवर निश्चित हुआ है।'

'मैंने सुना है, शैवालिका देवदह गई थी, वही से सवाद लाई है।'

'तो सिद्धार्थ तुम भी स्वयवर मे प्रतियोगी बनोगे न?' पिताजी के चेहरे पर आशा, आकांक्षा और उत्सुकता के भाव, शान्त सरोवर में, एक के बाद एक आती लहरों-से आए, गए।

यशोधरा के प्रति मेरा आकर्षण अबोला न था। फिर भी, विवाह-सूत्र में बधने के लिए मैं प्रस्तुत न था, क्योंकि उससे वैराग्य की उस राह मे अवरोध आता था, जिसका राही मै बनना चाहता था। यशोधरा मुझे एक सहेली की भाति प्रिय थी। इसका यह अर्थ तो न हुआ कि हम दोनो विवाह के बन्धन मे बधे? वह चाहे जैसा, अपना जीवन-पथ चुने, परन्तु मुझे तो अपनी राह चलना है।

आज मैने देखा, मेरे इस निश्चय के सफल होने मे अनेक कठिनाइया है। पिता का प्रेम मेरे मार्ग की सबसे बडी बाधा है, और ज्यो-ज्यों मैं उनके लिए सोचता हू त्यो-त्यों यह पितृ-प्रेम कमजोरी बनता जाता है। मां की मृत्यु के पश्चात् पिताजी का मन कोई न बहला सका। छन्दक और शैवालिक कहते रहे है, मुझे देखकर पिताजी की आशा फलवती होती है।

तब मैंने अपनी भावुकतावश यह तय किया कि पिताजी के हृदय को ठेस न लगे, ऐसा कुछ करना चाहिए और इस विचार—वीथि पर चलने पर मुझे उस जगह रुककर सोचना पडा, जहां विवाह अनिवार्य हो जाता है। तब मैने अपने से ही कहा, चलो, पितृ-प्रेम के पाश में बधना ही है।

दूसरा कारण यह भी रहा कि यदि मैं असित ऋषि के उन शब्दो का अनुगामी बनता, जो मेरे कानो में जागृत रहे है, तो यशोधरा का विवाह अन्यत्र-अन्य युवा से हो जाता, इसमे हमारे कुल की कोई बड़ी हानि चाहे न होती, परन्तु हमे नीचा

तो देखना ही पड़ता।

यशोधरा मेरे साथ सैर को गई है। हसी-खेली है। लोग तो यह समझते हे कि उसके पीछे है मेरा अनुराग। परन्तु, मेरा अनुराग तो अपनी मा के लिए, खूटे से रस्सी तुडाकर भागने का प्रयास करते छौने-जैसा है। मेरा अनुराग-छौना उधर जाने को ललक रहा है, देश-देशान्तरो मे, जहा ग्राम-नगर के एकान्त कुटीर मे कोई अस्सी वर्षीया वृद्धा भूखी बैठी है। मेरा अनुराग उसके लिए आकुल है, जिनके पास देव-प्रतिमा पर चढाने के लिए चार चावल भी नही है। मेरा अनुराग उस दिशा मे व्यग्र है, जहा पेड की छाया मे कोई अनाथ प्रसूता गरजते बादलो से वचने की कोशिश कर रही हे। यदि मै उसकी नग्नता को भौतिक सुख-साधन और सुविधा से ढक सका, तो मेरा बुद्धत्व पूर्ण हो जाएगा। मेरी लगन उस ओर हे जहा आदमी, दूसरे आदमी की पीठ पर सवार है। जहा हरेक बडा अपने से छोटे का भक्षण कर रहा है, जहां प्रत्येक प्राणी का जीवन दूसरे प्राणी की मृत्यु पर आधारित है। जहां ज्ञान के जिज्ञासु का अन्तर साधनों के अभाव में तडप-तड़पकर रह जाता है। वहां है मेरा तीर्थ। वही है मेरे अनुराग का रगमंच।'

ये थी राहे। लक्ष्य और दूरिया—मै इनकी ओर देख-देखकर सोचता रहता, विचार करता। निर्णय और कल्पानाए बाधता। और इस सारी प्रक्रिया के मध्य उभर आती दो छायाए—पिता का चेहरा और यशोधरा की तस्वीर। एक आशाकुल। दूसरी प्रेमाकुल।...

यशोधरा की अनावृत्ता झाकी। छरहरा बदन। त्रैलोक्य नचातीं आखे और दिग्विजय भावभगिमाएं।. .ऐसा प्रतीत होता, उसने अपने चेहरे का घूघट मेरे चेहरे पर डाल दिया है और यो, अवगुठन नहीं है चन्द्रमा पर कि वह अपनी कलाओ मे ओर भी सरस और सजग हो उठा है।...

लेकिन स्त्री का क्या ? उसकी एक मुस्कान ही इस प्रकार खिल उठती है कि उसके चेहरे का घूघट बन जाती है!

15

महाराज शुद्धोधन वोले—'नमस्कार करता हू। खूब आए कालदेवल! अभी ही हम ने कुमार को यशोधरा के स्वयंवर में भेजा है।'

'अच्छा, बहुत अच्छा किया राजन्! तुम प्रतिदिन उसके वैराग्य का मार्ग प्रशस्त करते जा रहे हो।'

'क्या कहते हो ?'

'ठीक कहता हू।'

'तुम्हारा ठीक बेठीक होता है और तुम्हारा बेठीक बेठिकाना-ठीक होता है।'

'यही ईश्वरेच्छा है। इसे तुम नही समझ पाओगे।'

'मैने अभी बन्धुमान् को बुला भेजा है कि स्वयवर के समाचार हम तक पहुचाने का प्रबन्ध हो जाए।'

'इतनी-सी बात ! लो, मैं तुम्हें यहीं बैठे स्वयवर का दृश्य दिखा देता हू।'

इतना ही कहकर कालदेवल ने तीन बार ताली बजाई। पल-भर में देवदह नगर मे स्वयवर-स्थली का दृश्य मूर्तिमान् हो उठा।

विशाल-पण्डाल। दर्शको का अपार-सागर। सज्जा ऐसी कि जैसे दिशा-दिशा ने सिगार किया है। सभी आमन्त्रित पाहुन यथास्थान बैठे हैं। एक ओर यशोधरा अपनी सहेलियो के साथ उपवन के फूलों मे गुलाब-सी सुशोभित हो रही है। दुदुभि बज रही हैं।

'प्रतियोगियो मे तीव्र प्रतियोगिता चल रही है। .वह देखो, नन्द का रग-बिरगे परखोंवाला तीर ! अरे, कितनी दूर स्थित लक्ष्य को उसने बेध दिया। और यह कौन ? अर्जुन है। यह तो उसी दूरी से शर-सधान कर रहा है। अब अग्निदत्त की बारी है। वाह, कैसा मनोरम है इसका हस्त-लाघव ! अब देवदत्त आया है। देखो महाराज, दर्शक उसके स्वागत मे तालियां बजा रहे हैं। और वह भी अपने गर्व से बोझिल है। अरे, यह तो और दूर चला गया ! क्या यहा से चलाएगा तीर ? वाह शाक्य-कुल का शौर्य ! तीर कैसा निशाने पर बैठा, जैसे वायु-तरग की चपेट मे पतिगा आया हो।.. जरा, यशोधरा का मुख-कमल देखो राजा, देवदत्त की इस विजय राका में कुम्हला गया हे ! लोग फिर तालिया बजा रहे है। यह लो तुम्हारा सिद्धार्थ आ गया। सच, इसके हाथ में रूपहले रग प्रत्यचा वाला धनुष बड़ा मोहक है। यह अपने किन्ही विचारो मे खोया है क्या ? किधर चला जा रहा है ? लोग हस रहे हैं। राजा का बेटा हुआ तो क्या ? जिसकी त्रुटि होती है जनता उस पर हसती है। भूल न जाओ शुद्धोधन, जनता सदैव विजेताओ का वन्दन करती है।...अब रुक गया है कुमार। यह तो देवदत्त के स्थान से भी आधा कोस दूर चला गया।' 'यहा से करेगा मेरा बेटा शर-सन्धान।' बडे फूल रहे हो राजा। अभी तो आशा के झूले मे झूलो। निराशा जब आएगी, तो तुम्हे प्रसन्न न पाएगी। दु:ख हमें इतना कष्ट नही देता, जितना सुख के विगत दिवसो का स्मरण। लो वह चला. .ती...र. .अ...धन्य है। अब उद्घोषक की घोषणा सुनो—'प्रतियोगी सुने। प्रतियोगिता के पश्चात् कुतर्क न उठाए। यह अन्तिम अवसर है, जो कुमार अपना घोडा चौगान के चौथे चक्कर मे सबसे पहले राजकुमारी यशोधरा के निकट पहुंचाएगा, भाग्यलक्ष्मी-सी यह राजकुमारी उसी का वरण करेगी। जीवन मे धन्य होने का यह अवसर फिर न आएगा। तरुणवरो, सावधान !'

महाराज ! नन्द और देवदत्त के अश्व अभी सबसे आगे हैं। दूसरा चक्कर भी समाप्त होने आया है। देखना है क्या होता है...

अरे वाह, कन्थक की गति ! अब वही अग्रणी है सूर्य की पहली किरण के साथ मुदित होते सरोज-सा खिल रहा है यशोधरा का वदन .और वह जयमाला

शाक्य-कुल-युवराज की ग्रीवा मे खिल रही है। आज तुम्हारी यश गधा से दशो दिशाए महक उठी है महाराज !...भगवान् बुद्ध की जय !..यह क्या बक रहा हू मै ? तुम नही जानते भोले शुद्धोधन—यह मेरे प्राण प्रभु की विजय है। आज माया ने ज्ञानी की शरण स्वीकार की है। माया-यशोधरा चाहे चरणो की दासी बनकर ही ज्ञान की चेतना को विमोहित करना चाहे ! परन्तु मुझे बताओ राजन्, कौन है वह, जो प्रकाश को पर्दे से ढक सका है। समस्त ससार साक्षी है, आज तक कोई सूरज के मुख पर अवगुण्ठन न डाल सका।..'

परम भट्टारक अपने आनन्द मे इतने मग्न थे कि उन्हें कालदेवल की वाचालता विचलित न कर सकी। ध्यान की किरण जब प्रत्यक्ष की धरती पर उतरी, तो वे कहने लगे—'आज मै तुम्हे पेट-भर पकवान खिलाऊंगा कालदेवल। कुमार की वीरता का गुण गाओ, तुम्हें मोदक उडाने का मौका मिला है। चलो, आज मेरे जी का भार हल्का हुआ। मै जानता था, कोई पुरुष सुन्दरियो की प्राप्ति का अवसर खोना न चाहेगा। कामिनियो के पल-भर के एक कटाक्ष ने तपस्वियों की सहस्र वर्ष की तपस्या पर विजय पाई है। यह युग-युग की कहानी है।.. अब तो सिद्धार्थ कदापि विराग की राह पर न जा सकेगा। हा...हा ..हा ! मैंने अपने प्यारे बेटे को आखिर रेशमी फदे मे फसा ही लिया। अब मेरा बेटा सप्तद्वीप-नौखण्ड वसुन्धरा पर राज्य करेगा। पृथ्वी, पाताल और अबर शाक्य-कुल की कीर्ति-गाथा गाएगे। कालदेवल ! बोलो कितने लड्डू खाओगे ?'

'शुद्धोधन ! तुम मृत्य मानव हो। इसीलिए हर्ष के समय हंसते हो और विषाद की बेला रोते हो। सुख-दु:ख मे समान रहने की तटस्था तुममे नही, इसी से तुम जीते हो, इसी मे तुम मरते हो। विजय-पराजय के चक्र के ऊपर-नीचे आते-जाते हो ..मै कह चुका शाक्येन्द्र, जिस प्रकार गुहा से निकले केसरी का गम्भीर गर्जन निश्चित हे, जिस प्रकार निशान्त पर दिवस का उदय निश्चित है, जिस प्रकार आकाश मे ऊचे फेके गए ढेले का भूमि पर आना निश्चित है, उसी प्रकार युवराज का सम्बुद्धत्त्व निश्चित है। वह अवश्य विरागी बनेगा। एक क्या, तेरी लाख-लाख यशोधराओ की अलकें उसे बाध न पाएंगी। रसवन्तियो की कचन जंघाओं का जादू उस पर नही चलेगा। वह अवश्य घर छोड़कर, बेघर होगा। तेरी देखती आंखों कपिलवस्तु की राजराहो पर भिक्षा का पात्र लेकर भटकेगा।'...कापालिक कालदेवल के कठोर कण्ठ से धीमा स्वर फूटा।

स्वर यह दिशाओं से टकराकर, धीमा पड़कर लौट आया। और बोला महर्षि—'भगवान् बुद्ध की जय हो, भगवान्...!'

'तेरे मुह में आग लगे कालदेवल !'

—महाराज ने कहा।

16

उस दिन मैंने यशोधरा से कहा था—

'देवी यशोधरे, तुम्हे पाकर मै अपने जीवन की रिक्त अपूर्णता को अब पूर्ण मानता हू। तुम्हारा वरण कर मेरे मन का शून्य रसानन्द से खिल उठा।'

पहले तो वह नीची नजरे किए, चुपचाप खडी रही। फिर धीरे-धीरे उसने सालस पलके उठाई ! कैसी उनींदी आखे थीं वे। उसके कर्ण-विचुम्बी लोचनों मे अथाह रस था और प्रच्छन्न गहराई की मौन प्रशान्ति भी थी !

फिर उसके अधरो मे स्पन्दन हुआ। कुछ लाज गई, कुछ झिझक मिटी और बोली वह—'देव का अनुग्रह है। मै धन्य हुई नाथ ! वर्षो से जो सपना पाल रही थी पूरा हुआ।'

'यह तो मेरे मन की कही। स्वप्न तो मैने भी देखा था, पर जानती हो, पुरुष अपने मन का स्वप्न किसी से कहता नही, इतनी कठोरता उसमें होती है।'

मेरा इगित कृशा-गौतमी से कहे यशोधरा के उस स्वप्न-निवेदन की ओर था, जो देवदत्त और हंस वाले दिन कृशा ने मुझे सुनाया था।

लडकिया बात जल्दी समझ जाती हैं। उनमे संकोच और गहराई अधिक होती है। कहने लगी—'जिसमे जितनी कठोरता अधिक है उसमें उतना प्यार भी कम है। देव ! पुरुष हो या स्त्री मन की कृपणता को हम, मनुष्य मे स्नेहिल मृदुता का अभाव न कहेगे ?'

मैं मुस्करा दिया। उसका कधा अपनी अनामिका और तर्जनी अगुलियो से थपथपाकर, बोला—'ठीक कहती हो, किन्तु, इसका दूसरा पहलू यह भी है कि व्यक्ति की वास्तविकता इसमें नही है कि वह तुम्हारे सामने क्या-क्या प्रकट कर देता है, मेरे ख्याल से तो उसकी यथार्थ वास्तविकता, जो वह प्रकट नही कर सकता, उसमे है। अतएव, यदि हम किसी को पूर्ण रीत्या जानना चाहे तो वह जो कुछ कहता है, केवल वही सुनकर न रह जाना चाहिए, वरन् वह भी सुनने और पाने का प्रयत्न करना चाहिए, जिसे हमारे सामनेवाला व्यक्ति नही कहता, कहना नही चाहता या कह नही सकता।'

'आप बड़े उदार हैं नाथ !' उसने कहा था।

दो-पांच पल पश्चात् अपने हाथो सुराही से एक छोटी प्याली भरकर, उसे देते हुए मैंने पूछा था—"तुम्हे यहा कोई कष्ट तो नही ? देवदह के देवाभिप्सित, सुरकामी प्रासादो की सुविधा यहां कहा ? वह तो तुम्हारी अपनी फुलवारी थी, अपना साम्राज्य था।'

मेरे मन में सकोच था। आखिर, पराए घर आई दुल्हन को सब नया, अजाना और सूना तो लगता ही होगा !

देवी तुरन्त बोली—'मै यहां अपने मायके से भी अधिक प्रसन्न और आश्वस्त

हू। दव की अमर छाया मे मुझे कौन-सी दुविधा और असुविधा हो सकती है ? परम भट्टारक के वे राजप्रासाद है यह, जिनकी कामना शची और अन्य अमरागनाओ के मन मे भी ललकती रहती है।'

मैं जान गया, वडे शिष्ट और सस्कृत कुल की कन्या है यह। जितना ऊचा इसका कौलीन्य है, उतना ही क्षिप्र और प्रखर इसका चैतन्य है।

वह कहती रही—'और पूज्या मां का स्नेह तो मेरे मन से अपनी जननी की स्मृति भी विसरा रहा है। रही फुलवारी और साम्राज्य की बात, सो स्वामी के हृदय-देश का एक कोना भी सुलभ हुआ, तो मैं उसे अपना नि:सीम साम्राज्य समझूंगी। आर्यनारी के लिए पति की सेवा और परिवार की मर्यादा के क्षेत्र से बडा साम्राज्य और क्या हो सकता है देव ? मेरी मा ने तो मुझे यही कहा है।'

मै खुश हुआ।

फिर यो ही एक-दूसरे को देखते, हम बैठे रहे। जिस प्रकार भरा-पात्र खाली होता है, और खाली पात्र खाली हो जाने के लिए भर जाता है, उसी प्रकार रात की प्याली में समय का सोमरस ढलता रहा। हवा मे एक हल्की गुनगुन थी, जैसे कार्यलीना कोई लडकी गीत गुनगुना रही हो ! तारो मे एक सकेत था, जैसा, समर्पिता की नजरो मे होता है।

स्वय रात मे ही इतनी मादकता और विह्वलता थी कि सुगकलशों और नर्तकियो की जरूरत न थी।

मुझे लगा कि यशोधरा एकान्त चाहती है। मैने सबको विदा किया।

आख जब खुली तो मैंने देखा—अपनी बगल मे मंगल-घट लिये यशोधरा पास मे खड़ी है !

हमारे वर्षा-प्रासाद की छत पर यशोधरा इन दिनों एक छोटा-सा वगीचा अपने हाथों लगाया था। एक साझ जब आकाश मे जल-रहित बादल गरज रहे थे। मै इस उपवन मे आया तो क्या देखता हूं कि एक वल्लरी की ओट बैठी यशोधरा यूथिका का गजरा गूथ रही है। मुझे देखकर उसने कलियो को आचल से ढक दिया और चूनर से सिर ढंकती हुई उठ खडी हुई। मैंने पूछा—'क्या हो रहा है ?'

वह कोई वहाना न पा सकी।

जूही के गजरे मेरी नजरो से वह इसलिए छिपाना चाहती थी कि जूही मुझे भी प्रिय है, वह यह जानती थी। अतः शृंगार-आयोजन पहले ही प्रकट न हो जाए, इस सकोच मे वह व्यस्त रही।

'यह तो हम जान गए कि तुम्हारे पास जूही के फूल है, अव उन्हे दुराने से क्या ?'

'फूल जब तक देवता के शीश पर न चढ जाए, पत्तों की ओट मे छिपा रहता है। कलियों और कामनाओं को सदैव अपने तक ही रखना चाहिए।'

'कामना अप्रकाशित रहेगी, तो पुजारिन को वरदान कैसे मिलेगा ? देवता क्यो

कर जान पायेगा कि भक्त की अभिलाषा क्या है ?'

'जो पुजारी के मन की न जान पाए, वह देवता कैसा ?'

इस तर्क ने मुझे निरुत्तर कर दिया और यशोधरा ने विजय की उमग मे अपनी वडी-बडी आखों के पलक पसारकर देखा।

मैंने कहा—'यशोधरे, तुमने मेरे मन को बदी बना लिया है।''

'झूठ !' वह बोली।

'कौन-सा प्रमाण दू ?'

'प्रमाण नही चाहिए। उस दिन जब आप प्रतियोगिता मे आए, मेरे मन में बडा द्वंद्व था। आप पर वडा रोष आ रहा था, प्रतियोगिता के इस पचडे में क्यो पडे ?'

'तो क्या तुम्हे स्वयवर से उठा ले जाता ?'

उसने चुप रहकर कहा—'कथक में इतनी गति और शक्ति तो थी।'

'तो यू ही कहो न, कि मेरे साथ कथक पर बैठकर हवा मे सैर करना चाहती थी। किन्तु इसका अर्थ यह तो नही हुआ कि हम लोक मे अपवाद के पात्र बनें।'

'और यदि देवदत्त जीत गए होते ?'

'तो क्या बुरा था ? कुंअरानी तो तब भी तुम शाक्य-कुल की होती।' मैने उसके चेहरे को पढना चाहा। एकदम उसका रंग उड़ चला है !

'चलो, हटो।' कहकर वह रूठ गई।

मेरी मनुहार उसने नही मानी। इस बीच बादल गडगडाने लगे और नैर्ऋत्य मे बिजलिया कडकडाने लगी। मेघ और दामिनी के इस गर्जन-तर्जन से यशोधरा डरी जा रही थी। मै उसकी ओर देखता खडा रहा।

सहसा वह सिसक-सिसककर रोने लगी। मै निकट गया। उसकी पीठ सहलाकर पूछा—'क्या बात है ?' उसने उत्तर न दिया। अपने मान को ऐठती रही। मै जानता हू यश का स्वभाव बड़ा गर्वीला है। प्रकृति से ही वह मानिनी है।

फिर हाथ में हाथ लेकर पूछा—'कहो, क्या बात है ?'

उसने नजरे उठाई। कपोल भीग रहे थे। लोचन लाल हो गए थे—'देखते नही, हमे बरखा से भय लग रहा है।'

'तो यह पहले ही कह दिया होता !'

वह दर्प से खडी हो गई—'तुम्हे तो हर चीज कहनी पड़ती है।' और मुह फुलाए, पैर पटकती, वहां से अपने कक्ष में चली गई।

मैं सोचता ही रह गया आखिर मेरा क्या कसूर है ?

17

अभी उठकर भोर पूरब की खिडकी मे खड़ी अपनी आखे मल रही थी कि मै प्रात वन्दन के लिए गौतमी मा के कक्ष में गया। वे अपने निजी प्रकोष्ठ मे थी, इसलिए मै बैठा उनकी प्रतीक्षा करता रहा। जव देर होती देखी, तो मैने उनके सग्रहालय स एक पुस्तक यो ही उठा ली और पृष्ठ जो खुल गया, तो उसमे मैने पढ़ा—

'उसके लिए तुम्हे एक वर्ष प्रतीक्षा करनी पड़ेगी।' महर्षि अगिरा ने कहा।

'करूगा देव !'—महाशाल शुनक के पुत्र शौनक का निश्चय अचल था।

'तो एक वर्ष अखंड ब्रह्मचारी रहो। उसके पश्चात् मेरा पता लगाते रहो, जहा मेरा वास हो वहीं आ जाना। यदि तुम्हारी साधना सफल होगी, तो अवश्य तुम उस परम तत्त्व को जान सकोगे।'—

इतना कहकर महर्षि अपनी यात्रा पर चल पडे। शौनक ने साधना के साफल्य-हेतु ब्रह्मचर्य की अविराम आराधना की।

एक एक दिन कर, वर्ष बीत गया।

और एक भोर ब्राह्म मुहूर्त में शौनक, अगिरा मुनि की खोज को चल पडा।

समस्त आर्यावर्त का पर्यटन कर लेने पर उसे बद्रीवन मे महामुनि का दर्शन हुआ।

किसी को आया जान, ध्यानमग्न मुनि ने नेजवत लोचन खोलकर देखा—विनीत शौनक सम्मुख खडा है—'भगवन् ! आदेशानुसार सेवक समुपस्थित है।'

'कुछ देर विश्राम करो !'—कहकर, मुनि पुन ध्यानलीन हुए।

दूसरे प्रभात जब, किरणें कमलों को वरने आई और मलयानिल अधिक मत्त हो बहने लगा तो शिष्य ने निवेदन किया—'महाप्रभु, मेरे लिए क्या आज्ञा है ?'

'तुम्हारी साधना सफल हुई। तुम महाशाल शुनक के योग्य पुत्र हो। आज उस परम गोप्य विद्या का ज्ञान-रहस्य पाकर लोक-परलोक को प्रकाशित करो।'

प्रसन्न हो शौनक ने गुरु के चरणो मे दण्डवत किया।

और महर्षि अगिरा कहने लगे—

'वत्स ! विद्या दो प्रकार की, परा और अपरा। अपरा का ज्ञान-लाभ कर तुमने ससार और उसके सुखो का भोग किया है। परा-द्वारा ब्रह्मलोक और अन्त में मोक्ष-प्राप्ति होती है।...'

'धन्य, धन्य गुरुदेव !'

'सौम्य ! तुम्हें जानकर आश्चर्य होगा, वेद-ज्ञान और शास्त्र-पठन से अविद्या का तमस् तिरोहित नही होगा। वेद और शास्त्रों के अध्ययन से व्यक्ति जरा-मरण और आधि-व्याधि से अभय नही हो सकता। ये लोक-जीवन के उत्थान और ज्ञानार्जित सम्मान के साधन-मात्र हैं। अत सुमुख शौनक, मेरे मत में वेद-वेदान्त अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं।'

'क्षमा हो, पूज्य, वेद तो स्रष्टा की वाणी है।'

'इसीलिए उन्नति और ज्ञान के दाता है। मात्र ईश-निर्मित होने से कल्याण-दायी नही हो सकते। तात, विषधर सर्प और हिंस्र सिंह भी तो परम पुरुष-द्वारा सृजित है।'..

शौनक मुस्कराकर रह गया।

तो वत्स, सम्यक् द्रष्टा सयमी हो उस परम तत्त्व का दर्शन कर सकते है। वह अतीन्द्रिय है। निराकार, निर्विकार, सद्य, सनातन है। परम सूक्ष्म मे स्थित वह देह रहित है। सर्वव्यापी हैं और अगोचर भी। जानते हो, पचभूतो का 'कारण, कर्ता धर्ता, हर्ता' भी वही है। तुम परा-ज्ञान से इस अजर, अविनाशी तत्त्व को जान सकोगे।

'जिनके मन मे कामना है, प्रियदर्शन ! वे ही कर्म-रत है। कर्म, फल प्रदान करता है। फल का भोग—हर्ष-विषाद का कारण है। यह तो सांसारिकता है। और सौम्य ! कर्माचरण से पुनर्जन्म होता है। प्राणी बारम्बार विश्व मे भटकता है, यह तो मुक्ति नहीं बन्धनबद्ध अनुरक्ति है। अतएव जो ब्रह्मचारी रह, केवल 'ब्रह्म' मे, अपने चित्त की अविचल स्थायी-स्थिति स्थापित करते हैं वे मरणोपरान्त ब्रह्मलोक मे जाते हैं। उनका पुनर्जन्म नही होता। यह तो कहूं 'मुक्ति' है।

'और तात, चित्त दे सुनो ! इन्द्रिया बहिर्मुख हैं। है न ? तो, बहिर्मुख इन्द्रिया बहिर् जगत् के वस्तु-विषयों को ही स्वीकारेगी। अन्तर्लोक मे उनका प्रवेश नहीं। हा, जब वे अन्तर्मुख होगी तो उनकी गति और अवस्था परिवर्तित होगी, पर वत्स परिवर्तन की यह क्रिया स्वाभाविक या आकस्मिक तो नही, उसके लिए बडा तप करना पडता है, साधना करनी पड़ती है, जप-जागरण करना पडता है।

'अन्तर्मुखी होओ और उस अकर्मा-कर्ता को जानो। दीर्घायु ! जिस भाति तन्तुवाय-मकड़ी बाह्य आश्रय से रहित रहकर ही अपने तन से अपने जाल फैलाती है, एक चक्र-सृष्टि कर लेती है। फिर इच्छा होने पर उन्हे समेट लेती है, तन्तु-समुदाय को अपने में आत्मसात् कर लेती है। पुत्र ! उसी प्रकार वह परम तत्त्व सृष्टि करता है और उसे पुन: अपने विराट रूप मे विसर्जित कर लेता है। आत्म-ज्योति उस परमात्म ज्योति मे लय होती है।

'सुभावुक ! उर्ध्वगामी साधनालीन साधु उस तत्त्व का प्रतिपल चिन्तन करते है। वह तो सर्वत्र विद्यमान् है। उसकी आस्ति तो विश्व का यह अस्तित्व प्रकट कर रहा है। अतः वही ज्ञेय है। सबकी सत्ता, समस्त आलोक, समग्र ज्ञान उसकी झलक मात्र है। वही इनका मूल है, यह तो मैं बता चुका हूं। शौनक, जिस प्रकार शर लक्ष्य का सधान करता है, उस प्रकार, एक चित्त हो अमल अन्त:करण से उसमे तादात्म्य होने के प्रयासी बनो।

'भद्र ! वह गगनोमय, मनोमय है। वह नितान्त निरामय है। बुद्धि भी उसकी प्राप्ति का एक साधन है। मिथ्या का त्याग करो। सत्यधारी बनो चित्त-शुद्धि का नाम तप है। इन्द्रियो को जीतो। इनकी चंचलता आसक्ति की जननी है। निरासक्त बनो।

ब्रह्मचर्य का पूर्णतया पालन करो। कामना ही रखना है तो सुख-भोग की न रखो, उस ज्योति की उपलब्धि की कामना करो।

'पुत्र, अविद्या एवं आसक्ति, मिथ्याचरण एवं सांसारिकता के कारण आत्मलाभ नहीं हो सकेगा, इन शत्रुओं पर विजय पाओ। उस तत्त्व के लिए प्रार्थी बनो। प्रार्थना करो और विषय-वासना से मुक्त बनो—यही मुक्ति है। उस शुभ परात्पर, परम तत्त्व को जान कर तुम उसमें लीन हो, 'ब्रह्मरूप' हो जाओगे। जाओ, तात! उसी प्राप्य, उसी काम्य तत्त्व के हेतु तपी बनो! जाओ तात, महाशाल का पवित्र नाम सार्थक करो! जाओ तात, मुक्ति पाओ।'

कथा पढ़कर मै स्तब्ध रह गया।

मेरे मन मे भी उस परम तत्त्व को जानने और पाने की जिज्ञासा उठी और एक पल तो ऐसा लगा जैसे सारा ससार सूना है और मैं उसमें एकदम अकेला हू।

तभी, मां बाहर आई। इनकी सुन्दर केशराशि से जल की बूंदें चू रही थीं। वे स्नान-गृह से लौटी थी।

मेरे हाथों ने यह पुस्तक, जिस पर एक ओर लिखा था—उपनिषद, उन्होंने झपट कर ले ली और ग्रन्थाधार पर उसे रख दिया। फिर हैरानी से मेरा मुख देखती रह गई—'बेटा, तुम अभी छोटे हो, बड़े हो जाओ तो ऐसे शास्त्र पढना। तुम्हारे तो हंसने-बोलने और खेलने-कूदने के दिन है। ...और यशोधरा कैसी है? उससे झगडे तो नहीं?...

मैंने मन-ही-मन कहा—

'आपको क्या मालूम कौन झगडता है? माताजी तो बस समझती है, जैसे मैं झगड़ने के लिए ही यशोधरा को ब्याह लाया हूं। उनका ख्याल है, उनकी बहू बडी भोली और भली है पर उसमें जो मान-गुमान और गर्व है, उसे मां कैसे जाने-पहचाने?'

'कैसी है यशोधरा? मै पूछती हू, सुनते नही?'

'ठीक है मा, ठीक है।'—मैंने जल्दी कहा, जल्दी वन्दन किया और वहां से भाग चला।

गौतमी मां मुझे देखती रह गई?

18

'राम राजा, राम परजा, राम साहुकार है।' एक क्षीण स्त्री कंठ से निकला यह करुण स्वर मैंने सुना—'बसो नगरी, तपो राजा धरम का उपकार है।'

दिन-भर प्रासाद की भारी चहल-पहल से ऊबा मेरा मन शान्ति चाहता था कि

कुछ सोच सकू परा और अपरा का ज्ञान प्राप्त करू परा द्वारा मुक्ति मिलने का जो आश्वासन अगिरा ने शानक को दिया था वह मुझे आकपित कर रहा था मे भी मुक्त होना चाहता हू, और लोगो को इस सारे क्लेश और कल्मप से मुक्ति दिलाना चाहता हूं, यह दारिद्र्य, यह वैषम्य, यह अनाचार न रहे। मनुष्य अपने को स्वतन्त्र महसूस कर सके। आज वह जो अपराधी की तरह दबा हुआ, झुका हुआ है, सो केवल शोषण और सामाजिक असमानताओ के कारण ही तो ? मै इस आदमी को आजाद करूगा। मै इससे कहूंगा—'तुम स्वय अपने स्वामी हो, अपने विधाता हो, अभय होओ। अपनी रचना आप करो, उठकर खड़े हो जाओ'. इसलिए कुछ चिन्तन-मनन मैंने आवश्यक माना, ताकि कुछ अपने विषय में भी विचार कर सकू। जो आज तक देखा, उसे समझना है।

भोजन-पान और सुरा-संगीत से ऊबकर, और सुन्दरी-समुदाय के कोकिल-कलरव से भागकर, मेरा मन गहन विजन के एकान्त मे झरते, सूने निर्झर का मौनालाप सुनना चाहता था।

आज बलाहक की गति बड़ी मोहिनी थी। मैं अपनी चिन्तना के अदृश्य भाव-लोक मे खोया-खोया-सा था कि, 'राम राजा, राम परजा' गाते, रमणी-कंठ ने मेरा ध्यान भग किया—

'एक कासापन मिले बाबा...एक कासापन मिले बाबा, कोई. .इस पगु प्राणी को रोटी का टुकडा दे अय्य बा।'

राजमार्ग आज भी भारी भीड़ से भरा था। हमारा रथ धीरे-धीरे उद्यान-भूमि की ओर बढ रहा था, सो छन्दक से मैंने रथ रुकवाया। रथ जब रुका, तो मैंने रेशमी तिरस्करणी तनिक हटाकर बाहर देखा—कासापन मांगने वाली उस अभागिन के साथ, अपनी देह को धरती पर घसीटता हुआ एक देहधारी था ! मै उसे विस्मय से देखता रह गया। वह अस्पष्ट शब्दों मे जाने किस वस्तु की याचना कर रहा था।...बड़ा अशुभ और वीभत्स था उसका दर्शन—एक-एक अंगुल वह रेंग रहा था। उसके समस्त शरीर पर सफेद धब्बे और व्रण थे। क्षत-विक्षत उसकी काया से लहू चू रहा था। इससे उसके पीछे-पीछे काले राजपथ पर एक लाल रेखा बन गई थी। हजारो मक्खिया उस पर भिनभिना रही थी। उसके आख, नाक, मुंह और कानो के छिद्र मक्खियो के समूह से ढककर, अब, केवल काले धब्बे-से दीख रहे थे। दूर-दूर तक हवा में एक घिनौनी दुर्गध भर गई थी। और उधर से जो राहगीर गुजर रहे थे, वे उसे देखकर अपने नाक पर वस्त्र-छोर लगा लेते थे। और दूर से आती, वार्तामग्न, खिलखिलाती नागरियां अपने अचल से श्वास रोक लेती थी और उस पगु की ओर, उस अभागिन की ओर दृष्टि डाले बिना, जल्दी-जल्दी पर उठाती, चली जाती थीं।

'पानी-पानी' उस जीव की पुकार ने जानेवाली नागरियों में से एक को रोक लिया। उसने आगे बढ़कर उस अभागिन से कहा—"बहन, इसे पानी पिलाओ। बेचारा धूप मे तड़प रहा है।"

मेरे पास पात्र नही हे

पात्र मे लाती हू   कहकर वह समीप के आवास मे गइ ओर जलपात्र लिये लौटी। मैंने देखा वह पगु बुभुक्षित की भाति पात्र पर झपटा और सांस रोके, लम्बी जीभ निकाले श्वान की भांति छप्-छप् कर पानी पीने लगा। उसके मुह से जल की बूदे और मक्खियां एक साथ ही उड रही थी।

जल पात्र ले आने वाली उस किशोरी की सहेलियां उसे छोड़कर आगे बढ गई। जल पिलाने पर वह अकेली रह गई, तो उसने गोधूम के खेत मे एकाकी हिरणी की तरह चौककर, चतुर्दिक् देखा और अपने को एकाकिनी पाकर वह सहमकर रह गई।

मैने उसकी यह दशा देखकर कहा—"शुभे, अन्यथा न समझो तो मैं तुम्हें अपने स्थान तक पहुंचा दूं।"

उसने पहले मुझे सिर से पैर तक देखा, फिर स्वीकृति में सिर हिला दिया। वह आकर रथ मे मेरे पास बैठ गई। छन्दक ने उसका पता पूछा और कहा—"चिन्ता न   कीजिए, मै आपको अपने आवास पहुचा दूंगा।"

रथ चलता रहा।

वह कनखियों से मेरी ओर देख रही थी और यदा-कदा सामने जड़े दर्पण मे मेरा प्रतिबिम्ब देख लेती थी। मैंने सोचा, इस सुकन्या से कुछ बातचीत न करना अशिष्टता प्रतीत होगी। अनुमान से कहा—"इस नगर मे आप कही दूर से आई है ?"

"जी, मै उरुवेला से आयी हूं। यहां मेरा मातुल-गृह है।"

"मेरा नाम सिद्धार्थ है।"

नाम सुनकर वह चौंकी। रथ पर इधर-उधर दृष्टि डालकर उसने पूछा—"आप युवराज सिद्धार्थ तो नहीं ?"

मैं मुस्करा भर दिया।

वह बोली—"मै वैशाली के नगर-श्रेष्ठी महाशाल धनजय की बेटी हूं। मेरा नाम हे सुजाता।"

"आपसे मिलकर प्रसन्न हू।"

"मै भी।"

छन्दक बोला—"भद्रे, आपका सुन्दर आवास यही है न ?"

उसने बाहर झांककर देखा और छन्दक को धन्यवाद देती हुई नीचे उतरी। फिर मेरी ओर मुस्कराकर उसने हाथ जोड़ लिये—"यदि समय हो, तो आइए न आप हमारे यहा ?"

"धन्यवाद" मैंने कहा—"आज तो नही फिर किसी दिन आऊगा। आप तो अभी रुकेंगी न कपिलवस्तु मे ? सुविधा हो तो आइए हमारे आवास। आजकल मै वर्षा-प्रासाद में हू।"

उसने आने का अभिवचन दिया और पुनः नमस्ते कह, मुड़कर, विदा हो गई।

मैन उसे अपने मामा के महल की सीढ़िया चढते हुए देखा जाने क्यों मुझे लगा कि इसमें और यशोधरा में वडी समानता है।

रथ बढा। पर मैंने कहा—"भद्र सारथि ! अब उद्यान जाना रहने दो। प्रासाद लौट चलो।"

रथ लौटकर उसी मार्ग से निकला। मैंने उस पगु को पुनः देखा और मुझे उबकी आ गई। मेरी अस्वस्थ मनोदशा देखकर छन्दक ने बलाहक की गति बढा दी।

मैंने जब से उस देहधारी को देखा, मेरे मन में न जाने क्या हो रहा था ! ऐसा पुरुष तो मैने आज ही देखा है। छन्दक से पूछा—"श्रेष्ठ छन्दक, कुमारी सुजाता ने जिसे पानी पिलाया वह पुरुष कौन है ?"

छन्दक ने उत्तर नही दिया। मैं कुछ देर उसके उत्तर की प्रतीक्षा करता रहा, उसको मौन देख, फिर पूछा—"कहो न छन्ना, यह कौन है ?"

"यह रोगी है कुमार।"

"रोगी क्या होता है आर्य ?"

"प्रकृति मे विकृति आने से देह-रोग उत्पन्न होते है कुमार !"

"इस रोग का अन्त कब होगा छन्दक ?"

"कुमार, यह असाध्य रोग है, इसका कोई निदान नही।"

"तो क्या इस पर मक्खियां इसी प्रकार भिनकती रहेंगी ? देह से विकार इसी प्रकार बहते रहेंगे और इसके अग भी क्या यों ही गलते रहेंगे ?"

"हा, कुमार।"

तब मै सोचता रहा, यह रोगी है। इसकी आखे भी दूसरो-जैसी नही हैं, इसके नाक-कान भी विचित्र है, इसका स्वर भी दूसरो जैसा नही है। लेकिन छन्दक ने यह तो नही बताया कि इसका अत क्या है ? मैने पुनः उससे पूछा—"सौम्य छन्ना, इसके आख, कान, नाक कहा गए ? यह पीठ के वल क्यो रेंगता है ?"

छन्दक ने बलाहक की पीठ पर हल्का कोडा मारते हुए, उत्तर दिया—"यह सब व्याधि का उपद्रव है, कुमार !"

"यदि यह व्याधि-फल है, तो क्या मै भी व्याधि-धर्मा हूं ?"

छन्दक ने रुकते-रुकते कहा—"हा।"

उसकी इस 'हां' में, न जान थी, न वजन था। फिर मैने पूछा—"अग्र्य छन्न, क्या व्याधि अनिवार्य है ?"

"देव ! मैंने कहा तो, आप, हम और सभी प्राणी व्याधि-धर्मा है। व्याधि अनिवार्य है।"

मै विस्मित रह गया। मन में एक नया प्रश्न सुलग उठा ! मेरे सम्मुख अपनी रुग्णावस्था का चित्र आया—मेरी प्रकृति बिगड़ गई है। सड़क की उस अभागिन-सी यशोधरा बाल गिराए पास मे खड़ी है...एक-एक अंगुल मैं रेंग रहा हूं। समस्त शरीर पर सफेद चित्तियां और घाव हैं...क्षत-विक्षत मेरी काया से लहू चू रहा है। पीछे-

पीछे पथ पर रक्त की एक रेखा बन गई है .इस रेखा का अन्त नहीं, कोई निदान नही. .कोई निदान नही। 'कुमार ! व्याधि अनिवार्य है .'

मैंने अपने दोनो हाथों से कान ढंक लिये और फिर आंखें वन्द कर ली, परन्तु आखों मे अब भी अपनी दुर्दशा घूम रही थी—अपने ही मल-मूत्र मे लिपटा हू.. मक्खिया भिनभिना रही है .अभागिन सहारा दे रही है। राहगीर मुह छिपाए चले जा रहे हे। घृणा को भी घृणा आती है। एक किशोर दयावती मुझे पानी पिला रही हे .बूद-बूद जल कठिनाई से कठ मे उतरता है और उसके साथ मक्खिया भी .

'नहीं, नही, नहीं।'

—मैंने चिल्लाकर कहा। और आखें खुलीं। अपने आस-पास देखा। नही, मे तो रुग्ण नहीं हूं। मै तो सिद्धार्थ हूं ! मुझमे विकृति कहा ?

रथ रुका पडा था। छन्दक पास मे खडा था। मेरा हाथ उसके हाथ में था—"कुमार, तुम्हारे मन को आघात लगा है ?"

"नहीं छन्दक, अब मै ठीक हू। रथ अन्तःपुर लौटा ले चलो।"

"अच्छा देव, मगर आप स्वस्थ तो है ?"

"मैं तो ठीक हूं छन्दक, कह जो दिया. .इस जन्म लेने को धिक्कार है चलाओ रथ..."

"कुमार को क्या हुआ है ?"—छन्दक व्यथित हो उठा।

"कुछ नही छन्न, घबराओ नही। अब चलो।"

छन्दक ने कहा—"जो आज्ञा देव।"

रथ लौटकर चलने लगा।

—मै रुग्णावस्था को मिटा दूगा। मैंने मन-ही-मन कहा।

"यशोधरे ! यशोधरे ! कहां हो ? सुनो तो, आज मैंने एक व्याधि-पीडित रोगी देखा। मै रोग को मिटा दूगा यशोधरे ! मै इसका निदान खोजूंगा।"

"आप व्यथित हैं नाथ, विश्राम कीजिए।"

"इस जन्म लेने को धिक्कार है सुअंगे ! जन्मे हुए को जरा सताती है, व्याधि पीडित करती है, जन्मने पर प्राणी वृद्ध होता है और आज तो मैने स्वय अपनी आखो देखा, वह बीमार भी होता है ।" .

"मनुष्य को सब कुछ होता है देव, पाषाणों को कुछ नही होता। आइए, इधर बेठिए, जल पीजिए।"

"तुम्हें मालूम नही, सुन्दरी, रुग्णावस्था सबके लिए है। मनुष्य व्याधि-धर्मा हे। आज सांध्य-वेला उद्यान-भूमि जाते, मैंने एक पगु प्राणी देखा। उसका वर्णन जो न करू तो ठीक है...ओ...ओ. .ओ...मुझे वमन हो जाएगा देवी, दूर हटो। एक अभागिन उस रोगी के साथ थी, राम राजा, राम परजा चीख-चीखकर वह धर्म और दया की दुहाई दे रही थी। यशोधरे...यशबाला...कहां हो तुम ? अरे, तुम तो यही खडी हो

मेरा मुह क्या देखती हो यही न मैं रुग्ण हू मेरा नाक गल रहा है मेरी आखें .मेरी आंखें और मेरे कान कहा गये, रानी,...?

"भिषक् क्या करेगा मेरा ? उसके पास मेरी व्याधि का उपचार नही...इधर बैठो देवपुत्रि ! मै तुम्हे सारा भेद बतलाता हू .मनुष्य जिस प्रकार वृद्ध हो जाता है, उस प्रकार बीमार भी हो जाता है। मै. .यशोधरे, रुग्णावस्था को मिटा दूगा। मै जरा ओर व्याधि का निदान खोज लाऊगा. .मै जाऊंगा .मै जाऊंगा। इस जन्म लेने को धिक्कार है. यह बार-बार, विश्राम-विश्राम क्या कहती हो ? मै ठीक हूं, बिल्कुल ठीक हू। तुम जरा पास तो बैठो। तुम्हे सारा रहस्य बता दूंगा।"

यशाधरा, मेरे पास पर्यक पर बैठ गई। एक हाथ से वह मेरे केश सहलाने लगी। मै कुछ शात हुआ। शैवालिका जल लाई। मैंने जलपात्र देख यशोधरा से कहा—"ठीक ऐसे ही पात्र से उस पगु को पानी पिला रही थी वह, उसका नाम सुजाता है, सुजाता।"

"कौन, सुजाता ?"

"वह उरुवेला में आई है यहा।"

यशोधरा की भौहो मे बल पड़ गए। मै उसकी मनःगति परख गया—"अरे रे, तुम कुछ और समझ गयी। छि-छि !"

"अपराध क्षमा हो देव !"

"अपराध तुम्हारा नही, सामाजिक अवस्था का है यश, जिसके विधान में बधी हमारी नारी, इतनी बेवस है कि उसे सदैव पद-मर्यादा और अपने अस्तित्व की चिन्ता बनी रहती है। वह परावलम्बिनी है। हमारे पुरुषो ने उसे पग-रक्षिका भी तो नही माना।"

"नाथ का कथन यथार्थ है।"

फिर मुझे स्वस्थ जान वह बोली—"स्वामि ! आहार-वेला है, चलिए न, देर हो जाएगी। और हमारे पीछे, हमारे कारण बेचारे ये सेवक भी भूखे रहेगे।"

"हा, हा, यश ! वह रोगी अगुलीरहित मुट्ठियों से रोटी के टुकड़े अपने ओष्ठहीन मुह मे ठूस रहा था।"

"अब छोड़िए न, अधिक कुछ कहूंगी तो रुष्ट हो जाएगे।"—हाथ पकडकर मुझे उठाती हुई वह कहने लगी—"उठिए, हमे भूख लग रही है।"

मैं खडा हो गया और पाकशाला की ओर बढ़ते हुए मैने सोचा : यशोधरा, तुम्हारा नहीं। तुम्हारे वर्ग का दोष है यह, तुम्हे अपनी ही भूख की फिक्र है। अपनी ही रोटी की चिन्ता है। तुम्हारा भी यह रोग असाध्य है।...मेरे कधे पर अपना सिर झुकाए, अपनी देह का भार मेरी बांह पर झुलाए, वह चल रही थी।

पाकशाला के द्वार पर वह मुझे रोककर बोली—"सिद्धार्थ, तुम्हारे रोगी की रामायण में उलझकर मैं एक शुभ-संवाद भूल गयी। आज मेरी एक सहेली आयी है। उसके सम्मान में हमने नृत्य और सगीत का आयोजन किया है। तुम आओगे

न सिद्धार्थ
यशोधरा जब बड़े दुलार मे आती या मुझे हा कहलवाना होता, तब वह मुझे सिद्धार्थ कहकर ही पुकारती। पर मुझे भय था कि किसी दिन प्रजापति देवी ने इसके मुह से 'सिद्धार्थ' सुन लिया तो ?

नृत्य का आयोजन धर्म-प्रासाद में किया गया था। यशोधरा के लिए महाराज ने यह महल बनवाया था। इसका नाम बदलकर यश न 'पारिजात' रख दिया था।

पारिजात सभी सुविधाओं से परिपूर्ण था। उसके प्रशस्त अजिर में ताल और महाताल थे। इन तालो के बीच, सौ-सौ धनुप पर चार रगो की ईटो की पुष्करणिया बनी थी। उनमे चारो दिशाओ में चार रगो की चार-चार सीढिया थीं। इन सीढियो मे से प्रत्येक के नीचे चार रग के चार-चार आधार स्तम्भ थे। जिस रग की सीढी थी उसी रग के आधार और छत आदि थे। पुष्करणिया दो-दो वेदिकाओं से सयुक्त थी और उनमें भाति-भांति के उत्पल खिले हुए थे।

जब एक दिन महाराज प्रधान विश्वकर्मा और उसके साथियो का काम देखने के लिए आए तो उन्होने बन्धुमान् से पूछा कि इन पुष्करणियो पर नियुक्त सेविकाए कहा हैं ? उस समय यहा सेविकाएं नही थीं। महाराज ने मेरे श्वसुर गृह से आई कुछ सेविकाओ को, यशोधरा की सम्मति से यहा नियुक्त किया। ताकि वे अन्त पुर की रानियों को नहलाने का कार्य करें। इनमें कोलिय, लिच्छवि, वज्जी, मागध, शाक्य, आवन्तिक आदि जनपदों की चुनी हुई दासियां थीं। बारी-बारी से वे पारिजात के विविध स्थानों पर सेवा करती थीं। पुष्करणियो की बाई ओर, जहा पर कर्णिकार-कुज का आरम्भ होता है, वहा एक सुन्दर आपान-गृह बना था। उसमें विविध रसो के फव्वारे बने थे। जिनकी कल दबाते ही आसव के उत्स बडे वेग से झरने लगते।

इन पुष्करणियों और कुज-निकुजों के मध्य मे था पारिजात। पूर्व से पश्चिम तक लम्बाई मे एक योजन, और उत्तर से दक्षिण तक चौडाई मे आधा योजन था। यह भी चार रंगों की ईटों मे निर्मित था। रगो के क्रम से ईटे लगी थीं। एक गिंजका सोने की, एक चादी की, एक वैदूर्य की और एक स्फटिक की।

उत्तमश्लोक महाराज ने पारिजात का नक्शा स्वय अपनी देखरेख मे बनवाया था। इसकी छवि-विभूति अमरालय से निश्चित ही अधिक आकर्षक थी। पारिजात के अत्युत्तुंग गुम्बद पर स्वर्ण-कलश शोभित था। जिस पर शाक्यो का कुलकेतु फहराता था । प्रासाद का अलिन्द-छत चौरासी हजार खम्भों के आधार पर स्थित था। महल के अधिष्ठान और प्रकोष्ठों की सख्या चौरासी हजार थी और इनका क्रम भी रगों के अनुसार था। एक कोठा सोने का, एक चांदी का, एक वैदूर्य का और एक स्फटिक का। सोने के कोठे में चादी के पलग बिछे थे। चादी के प्रकोष्ठ में कंचन-पर्यक थे। वैदूर्य-कक्ष मे हस्तिदन्त के पलग और स्फटिक की कोठरियों मे मसारगल्ल की सेजे बिछी थी। इन कोठो के द्वार भी विविध रंग की चित्रावलि से अंकित थे। स्वर्ण-कक्ष के द्वार पर रूपहरे ताल-वृक्ष अकित थे, जिनमें बहुरगी पत्र, पुष्प और फल साकार

आर सजीव प्रतीत होने थे

पारिजात घुघरू के जालो से घिरा था। ये जाल भी सोने और चांदी के थे सोने के जाल मे चादी की घण्टिया थी और चांदी के जाल में सोने की घण्टिया थीं। जब अलबेली हवाए इठलाती हुई आतीं, तो उनकी अलको की लहरो से जाल हिलने लगते और घण्टियो से सुन्दर रागोत्पादक स्वर निकलता था। राजमार्ग से गुजरते समय, प्रासाद पर दृष्टि डालने पर, आख नहीं ठहरती थी। जिस प्रकार वर्षान्तक मास मे शरदागमन पर मेघरहित अबर मे उर्ध्वगामी सूर्य पर आखे नही ठहरती, उस प्रकार था पारिजात का दर्शन।

हमारे निजी अन्त पुरों के अतिरिक्त, शेष आवास, अधिष्ठान, और अधस्तल सुन्दरियो से भरे थे। ये सुन्दरिया सर्वथा अनामय थी और अनंग-क्रीडा से सदेव प्रमत्ता रहती। इनकी सख्या सोलह सहस्र थी, इस अपरिमेय पारिजात महल के सुरक्षित अन्तःगृहो मे ये अगणित अक्षतयौवना, अदत्ता रमणियां सभी देश और द्वीपो से लायी गई थीं। इनमे एक सौ आठ प्रमुख रमणी-रत्न भी थी।

अपनी शेष सम्पदा और जायदाद की भांति उस काल के पुरुष ने स्त्री को भी अपनी जायदाद माना था। उसकी दृष्टि मे वह जड़, अचेतन और निरी भोग्या थी। पारिजात की ये एक सौ आठ सुदर्शना, सुन्दरियां सकाम पुरुषो की दृष्टि मे अभिरूप, दर्शनीय एव आह्लाददायिनी थी। परम सौन्दर्यशालिनी थी वे। न अधिक लम्बी, न अधिक नाटी थीं। न अधिक दुबली न अधिक मोटी थी। न बहुत गोरी, न बहुत काली थीं। मानवीय वर्ण से बढकर उनका वर्ण था। मैंने उनका स्पर्श जाना है—मानो तूल या कपास का फाहा हो, वैसा कायसंस्पर्श था उनका। उनके अगो से चन्दन की सुगन्धि आती थी और मुह से कमल की बास निकलती थी। वे हमारे उठने से पहले ही, उठ जाती थी पर सोने के पीछे सोती थी। आज्ञा सुनने को सदेव तत्पर रहती थीं। मनानुकूल आचरण करने वाली, चित्त को प्रसन्न और प्रतुष्ट करने वाली प्रियभाषिणी थी वे। तन-मन से पारिजात के प्रति समर्पिता थी।

आज मै सोचता हू इन कान्ताओ की दशा पर तो मन मे जाने कैसी ग्लानि अपने ही प्रति उठती है। काम के अनुचर उन परिजन और कुल-पुरुषो को क्या कहू, नारी के नग्न भोग मे ही, जिन्होने जीवन का आदि-अन्त केन्द्रित किया था। नारी, जो मुक्ति की मशाल थी, उसे उन्होने आशीश बुझाकर अपना ही मार्ग अन्धकारमय बना लिया था।

तो, आज इसी पारिजात मे यशोधरा देवी की ओर से सुरस-रस का आयोजन था।

मैंने स्वयं यशोधरा और कृशा गौतमी के नृत्य देखे है, नाग-नृत्य मे यशोधरा और मयूर नृत्य मे कृशा गौतमी की बराबरी करने वाली कुलकन्या दूसरी नही देखी। लेकिन, इस रात उनका नृत्य भी न जम सका, जब श्रेष्ठी-कन्या सुजाता ने अपना हस-नृत्य दिखाया—

तुपोदक की प्यालिया ढल रही थी। आवन्तिकाए अपनी रस सचारिणी कटि पर मदिरा-मणिका रखे, मनुहारे कर रही थीं। आसवी कुल कन्याए इतस्तत डोल रही थीं। उनकी रतनारी आखो में वासना के वेले फूट रहे थे। तभी, पश्चिम द्वार की तिरस्करणी हटाकर यशोधरा के साथ सुजाता ने प्रवेश किया। उसके स्वागत मे कही से आलापिनी बज उठी। उसके बाद मुरज, मृदग, वेणु और अन्यान्य वाद्य बज उठे। पिप्टातक और गुलाल से यशोधरा और सुजाता के भाल और कपोल लाल थे। दोनो की आखो मे हल्का नशा था। क्योंकि उनके पैर कुट्टिम पर सीधे नही पड रहे थे और वे एक-दूसरे का सहारा लिये थीं। फिर भी सुजाता की तो मै नही कह सकता, किन्तु यशोधरा अवश्य सोम के प्रभाव मे थी। इन कोलिय कन्याओं ओर कान्ताओं का सबसे बडा दुर्गुण और कमजोरी है कि वे किसी भी पेय का आकर्षण अपने में नहीं रोक पातीं।

आम्रपाली के बाद सुजाता की वारी थी। वह बहुत ही महीन अशुक पहन थी, जिनमे उसकी देह, पखुरियो के बीच पराग-सी प्रतिविम्बित थी। प्रकाश की गोद मे दीप-बाती-सी झिलमिला रही थी। उसके घुघराले केश दो चोटियो मे विभक्त थे। इन चोटियो के छोर पर श्वेत पुष्पो के गुच्छे वधे थे। आनन्दसम्मोहिता राजहसिनी की उसकी भूमिका थी। आज भी एक झलक तो स्मृति मे है—प्रथमत उसने मन्द्रगति से पद परिचालन किया। फिर बाहुमूलों तक उसी गति से, उगलियो से लेकर बाहुओं तक—सभी अगो का प्रकम्पन दिखाया। ..

सुजाता के इस वशीकरण को सभी मूर्तिवत् देख रहे थे। यशोधरा अलसाई-सी मेरे स्कध पर अपना सिर टिकाए थी और आज तो वह अपनी इस आली के आगमन पर इस प्रकार व्यस्त रही कि अपने केशो की सज्जा का भी उसे अवसर न मिला सो उसके शीतल केश मेरे वक्ष तक गिरकर फैल गए थे।..

हस-गति पर सुजाता ने चाल बदली और देह की शक्ति नितम्बों में समेटे अभिनव परिचालन उसने दिखाया। अब वह कभी दाहिना, कभी बाया पैर आगे-पीछे बढाकर ढीला छोड़ देती और उगलियो को क्रमश नचाती। तब फुदककर, झटका देकर नाचती। बाहों को कमल के डंठल की लचक और नरमी देकर झुलाती। फिर त्वरित पदचालन उसने दिखलाया—उसका अग-प्रत्यग गोल-गोल घूम रहा था। वेणिया-चोटियां और उनके छोर बधे फूदे दूर-दूर तक, गोलाकार लहरा रहे थे। इसी प्रकार उसने कटि और वक्षोजो का नर्तन प्रदर्शित किया। झीनी ओढनी मे उसकी देह की रेखाए दीखती थीं। दर्शिकाएं तालिया बजा रही थी।

फिर नाचते-नाचते उसने अपनी पीठ दर्शको की ओर की। तबले पर थाप पर थाप पड़ रही थी और कुट्टिम पर वह अपना पैर पर पैर पटक रही थी। उसकी कटि झटके पर झटके खा रही थी। उसने अंजलिबद्ध होकर सामने मुह किया। उपस्थित आलियो ने फिर तालियो से उसका अभिनन्दन किया।

झूम-झूमकर वह नाचने लगी।

अब केवल घुघरू छमछमा रहे थे। और वह इस पल, रंगमंच के इस कोने में और उस पल, उस कोने मे बिजली की तरह चचला बन, मटक रही थी।.

सुजाता के बाद यशोधरा ने गिरग्ग-समज्जा में भाग लिया। उसने सिह-नृत्य दिखलाना चाहा, परन्तु उसका नर्तन जमा नहीं। जब वह लौटी, मैंने उसके कानो मे कहा—'तुम्हारे पैर तो आज यो ही सिह-नृत्य दिखला रहे है. समज्जा मे भाग लेने की जरूरत क्या थी ?'

सुजाता ने यह सुन लिया और वह यशोधरा को गुदगुदाने लगी। रात काफी बीत चुकी थी, इसलिए हम अपने-अपने शयन कक्षो में लौटे।

मुझे नीद नही आई। मन मे प्रतिपल लाख-लाख विचार उठ रहे थे। अगिरा और शौनक की कथा से लेकर सुजाता तक सारी, छायाए एक-एक मेरे सामने आ-जा रही थी। मुझे पहली बार प्रतीत हुआ कि मै बहुत सुखी हू। यशोधरा निद्रा मे खोई। मेरे पास लेटी थी। उसकी अलकें उसके कपोलो को ढकती हुई ग्रीवा मे लिपटकर, वक्ष तक फैली थी...फिर, मुझे महसूस हुआ, मन क्यो अवसन्न और भरा-भरा है कुछ समझ नहीं आ रहा था, कुछ समझ नही पा रहा था। विश्व की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी, देवकन्या तो लेटी है मेरी शैया पर, फिर मेरी कौन-सी कामना है जो अवशिष्ट रहकर भटक रही है। सध्या से लेकर मध्यरात्रि तक के आन्दोल्लास के पश्चात् रस की खुमारी होनी चाहिए, पर यह अवसाद कहा से घुमड आया।

मैंने यशोधरा की ओर देखा। वह उसी मुद्रा और भगिमा मे सोयी थी। उसकी एक बांह मेरे सिरहाने थी और दूसरी पर्यक के एक ओर कुछ नीचे लटक रही थी। वह चित्त लेटी थी। उसके घुघराले केश वैसे ही, ग्रीवा और कंधों से लिपटे थे। भाल की बेंदी देह की ऊष्मा से पिघल चली थी और कानो के कर्णफूलो में कपोलों की परछाइया प्रतिबिम्बित हो रही थी। कर्णफूलो से ऊपर अपनी अलकों मे जो फूल उसने खोस लिये थे वे अब सेज पर इधर-उधर बिखर गए थे। और कुछ तो बेचारे कुचल गए थे। घनसार और केसर पराग अर्चित यशोधरा के वक्षोजो पर उसका हीरक हार दो हिमशृंगों के बीच चन्द्रमा-सा लग रहा था। उसके अधर ताम्बुल की तरल लालिमा से रंजित थे और मद्य की तेजी में अब भी फडक रहे थे। इसी कारण, उसके मुकुलित नेत्र भी भारी लग रहे थे और बन्द पलको पर धनुषांगी बरौनिया फैली-फैली लगती थीं। यह सब कुछ है..

यह सब कुछ है, परन्तु मन में फिर भी यह प्यास कैसी ? देह की भोग-तृप्ति के लिए अमित उपलब्धियां हैं फिर भी मन को चैन नही। और आज तो नींद भी जाने कहां चली गई ? यशोधरा की ओर टकटकी लगाए मैं देख रहा था। अलक्ष्य, दूर कहीं से चक्रवाक का क्रदन सुना। और फिर तो जैसे वह क्रदन मुझे घेरकर घहराने लगा। यशोधरा के बन्द लोचनो से मुझे आंसू झरते नजर आए। साफ देखा, वह हिचकिया ले रही है। नहीं नहीं यह तो स्वस्थ सकाम सो रही है नही रो रही है यह फिर कौन रो रहा है यह चीख पुकार कैसी ? यह हाय-हाय किसकी ? एक

प्रश्न उठा—तुम मुझे भूल गए ? ओह, तुम भी उन राहगीरों-से हो, जो अनदेखे गुजर जाते हैं। तुम्हे अपने रस और विलास से मतलब, हम चाहे जीयें, मरे ! .

मैंने देखा, चौककर देखा, यशोधरा की देह विकृत हो रही है। अब तो उसकी जगह 'राम राजा, राम परजा' वाला वह रुग्ण कोढी पडा है मै उछलकर शैया छोडकर खडा रह गया ! भय, कल्पना चिन्ता, वेदना और व्यग्रतावश मेरा शरीर काप रहा था .सचमुच, वह देखो वह कोढी स्त्री यशोधरा मेरी सेज पर लेटी है

मै जोर से चिल्लाया—'यशोधरे, तुम्हे यह क्या हो गया ?'

मेरा चीत्कार दिशाओ के गालों पर थप्पड मारकर लौट आया और प्रासाद भर मे प्रतिध्वनित होने लगा—'यशोधरे, तुम कहा हो ?'

सब लोग जाग गए। शैवालिका और अन्य दासिया दौडकर आई। उनके केश, परिवेश अस्त-व्यस्त थे। आकर मुझे संभाला। ''देव, उद्विग्न क्यो हे ? देवी यशोधरा तो यह लेटी है।''

'नही, नहीं। वह तो रोगी है, जिसे मैंने सायकाल उद्यान-भूमि जाते देखा था। तुम झूठ बोलती हो। वह...उसके हाथो मुंह से जलपात्र लगा है...लप् लप् जल पी रहा है। अभी-अभी मेरी ओर घूरकर देख रहा था, शैवालिके ! कहता था—कुमार, तुम सुन्दरियो के सम्मोहन में, सुरा के संगम मे, नृत्यों के समारोह मे मुझे भूल गए ? ह हा हा ! परन्तु मै तुम्हारा पीछा नही छोडूगा ! तुम मेरे प्रति अपराधी हो। मेरे लिए तुम्हारे पास कोई निदान नही ? तो तुम्हारा जीवन व्यर्थ है। ठहरो, मै तुमसे प्रतिशोध लूगा...

सेविकाए मुझे थामे थी।

शैवालिका बोली—'कुमार, क्या बात है ? कौन-सा रोगी ? यह रही यशोधरा जी। शान्त होइए।''

मैने देखा, सचमुच यशोधरा है। उसकी आंखों मे नींद उलझी थी और वही खुमारियां तैर रही थीं। कुछ परेशान-सी वह अटपटी बानी मे बोली—'सिद्धार्थ, अभी तुमने उस रोगी का पीछा नही छोडा ? चलो, सो जाए। तुम्हे दूसरो का कुछ ख्याल नही। सारी दुनिया सो रही है और तुम हो कि यो सबको हैरान कर रहे हो। अभी सो जाओ, कल चले जाना अपने उस रोगी देवता को देखने। चलो हमें नींद आ रही है।'

यशोधरा मेरी देह सहलाती रही और कहने को मुझे नीद आ गई। धीरे-धीरे वह भी सो गई।

अचानक जैसे किसी ने मुझे हाथ पकडकर झकझोर दिया। 'ओह !' मेरे मुह से निकला—रोगी के साथ वाली दरिद्र अभागिन थी। उसने अपने अधरो पर उगली रखकर चुप रहने का संकेत किया। मैं चुपचाप खडा रहा। उसकी परछाई धीमे-धीमे तिरोहित हो गई केवल एक आवाज आती रही—सब 'व्याधि-धर्मा है ! रोग और जरा सबके लिए है इधर आओ इधर आओ मैं सीढिया उस के

पीछे-पीछे नीचे आया।

विशाल आलय में नर्तकिया थककर इधर-उधर लेटी थी। सुजाता के स्वागत म भाग लेने वाली वे सुन्दर नर्तकिया। दशा उनकी देख-देखकर मैं हैरान था। उनकी घघरियां और ओढनिया बिखरी हुई थी। नाक से पानी और मुंह से लार टपककर उशीषो पर वह रहा था। एक अजानी गध कक्ष मे फैली थी। जिस मानव देह के, दवा और कवियो ने इतने गीत गाए, वह मेरे सम्मुख अपनी समस्त रुग्णता लिये प्रदर्शित थी। इसी गदगी को छिपाने के लिए चन्दन और मेहदी है। इसी दुर्गन्ध को दबाने के हेतु शृगार और प्रसाधन हैं। निद्रा में मेरी भी यही गति होती होगी। मे भी व्याधि-धर्मा हू।

राजमार्ग पर देखा, रोगी मुझे चिढा रहा था। उसके साथ की अभागिन स्त्री व्यग्यपूर्ण मुझ पर हस रही थी। उसकी कर्कश हसी और कक्ष के वीभत्स वातावरण से त्राण पान के लिए मै अपने आवास मे आया। यशोधरा पर्यक पर बैठी ऊघ रही थी। नीद उचटने पर, मुझे न पाकर वह दुखी थी। उसे देखते ही मैंने पुकारकर कहा—'यशोधरे, मैं जरा विहीन और रोग रहित जीवन की तलाश मे जाऊगा। पारिजात प्रासाद की इन सीमाओ में रहा, तो यही मेरी समाधि बन जाएगी।'

'हाय-हाय, ऐसा अशुभ न बोलो।' दाहिने हाथ से, मुख पर आ गए अपने केशो को उलटकर कुवरानी बोली।

तकिये मे मुह छिपाए मै औधा पडा रहा। थकान और तन्द्रा से अभिभूत था, फिर भी इतना भान था—

मेरी पीठ पर सिर रखे-लेटी यश की आखो से अश्रु झर रहे है और आकाश से तारे झर रहे है।

19

पारिजात के एक निकुज मे मै बैठा था। यशोधरा प्रजापति-मा की पूजा के लिए फूल चुन रही थी। एक-एक पौधे और वल्लरी को वह पहले गौर से देखती, फिर कलियों को बडी देर देखते रहने के बाद उन्हें वह तोड लेती।

मै उसे देख रहा था। मैंने वासन्ती को भी फूल तोडते देखा है। कितनी त्वरा ओर लगन से वह फूल तोडती है, काटो को छू-लेती है और उछलकर ऊची-से-ऊची डाली के फूल को अपनी डलिया मे पा लेती है। इसके विपरीत है यशोधरा। काटो से उसे घृणा है। जब वह पुष्प-चयन के लिए चलती है, तो पीछे-पीछे सेविकाओ के समूह चलते है। कहीं रानीजी को कुछ हो गया तो ? यह वैषम्य कब दूर होगा ?

एक ओर अपाहिज मानवी को कोई पानी पिलाने वाला नही दूसरी ओर प्यास लगने से पहले ही अलिजर उठाए प्रतीक्षा किए रहती ह उधर पगु

हो जाने पर भी कोई पूछता नही, इधर कांटा लगने के पहले आंख मे आंसू आते है और औपधि लिये सेविकाए साथ चलती है।

मैं इस विषमता को दूर करूगा। मै मनुष्य-जीवन मे प्रविष्ट कृत्रिमता को मिटा दूगा। मैने कहा—

"देवि ! फूलो से इतना मोह है, तो काटो से न डरो। फूल और कांटे एक ही चीज के दो छोर हैं, एक ही अवस्था के दो पहलू है।"

"यह तो मै भी जानती हूं। लेकिन संसार में दो तरह के लोग होते है, कुछ को फूलो से प्यार है, कुछ को काटे पसन्द। यह तो अपना-अपना स्वभाव है। चाहे, तो आपके लिए कुछ बढिया काटे चुन लाऊ ?" और वह खिलखिलाकर हंस दी। इस लीला मे उसे अपने सन्तुलन का ध्यान न रहा और उसके आंचल के फूल धरती पर बिखर गए। सहेलिया दौडकर उन्हें चुनने लगी।

"यशोधरे, देखो-देखो वह तितली कितनी सुदर है।"

"देखा, इससे भी सुन्दर तितलियां होती हैं। किसी का ध्यान न जाए उधर, तो कसूर किसका कहें ?"

"लेकिन बागो की तितलिया, राहो की तितलियो से अलग होती है।"

"हा, यह तो दृष्टि का फेर है।"

"दृष्टि का फेर है, तभी न अपने पैरो मे साप तुम्हे नही दीख रहा है।"

"सॉऽऽप।" और वह उछल पडी—"झूठे छलिया, हमे डरा दिया।"

"इतनी वडी हुई, अब भी डरती हो ?"

"कितनी वडी हुई ?" यश ने विस्मय से कहा—"अभी तो हमें सोलहवा भी पूरा नहीं हुआ।"

"तो जल्दी पूरा कर लो उसे। हमारा भार टले।"

"तो हम आप पर भार है ?" उसने तुनककर कहा।

"ओह, इतनी जल्द बिगड गई ? मै तो चुहल कर रहा था।"

"हमें नही अच्छी लगती ऐसी चुहल।"—यश ने कृत्रिम रोष मे कहा।

"तुम्हे तो अपने आप से ही डर लगता है, अब इसका क्या इलाज ?"

"अरे बाप, किसका इलाज, कौन बीमार है ?" पूछती मा ने प्रवेश किया। उधर वे जा रही थी कि उनके कानों शब्द पडे।

यशोधरा ने मॉ के पैर छुए। लेकिन उसका अनमनापन मॉ की अनुभवी दृष्टि से छिपा न रहा। उन्होने गौर से, बारी-बारी से हम दोनों को देखते हुए पूछा—"क्या बात है सिद्धार्थ ! बहू आज यो मौन-मौन क्यो है ?"

"शक्ल ही ऐसी है मा !"—मैंने तो सहज ही कहा, पर यश इस बात को झेल न सकी। मां के कन्धे पर सिर रखकर फूट-फूटकर रोने लगी।

और लो, इस छोकरी ने मां के सम्मुख मुझे अकारण ही अपराधी बना दिया

मा कुछ देर उसे समझाती रही यशोधरा की आखो मे छद्म आसू और होठो पर प्रच्छन्न हसी थी, सो मा उसे पहेली-सी बूझती रही। और तब स्वय मुस्कराती, मन-ही-मन हमे असीसती, अपने फूल लिये चली गई।

मैने यशोधरा को अपनी गोद मे बिठा लिया-"अभी तुम्हारा बचपन नही गया। मां क्या समझी होगी मन में ?"

"यही न, आपने हमे परेशान किया।"

"सो, अच्छी बात है ?"

"अच्छी नहीं, पर सच्ची तो है।"

"और अपनी चपलता को कभी तोलती हो ? यशोधरे, नही जानती, तुम्हे मै कितना प्यार करता हू ! क्वारिपन मे तुम्हे एक बार ..याद है, मेरे होठ अभी भी जल रहे है।"

यश ने सुना और—'हट' कहकर चली।

मैने उसकी सतरंगी चूनर का छोर पकड़ लिया—"देवबाला, और तुम्हारे अवदात कपोलो पर वह चिह्न मै अब भी देख रहा हू।"

"हा, स्वप्न देख रहे हैं।"

"हा, यह वह स्वप्न है, जो यथार्थ हो गया है।"

"छलिया !"

"मानिनी !"

बडी देर तक हम एक-दूसरे की आंखों में एक-दूसरे को देखते रहे।

यशोधरा बोली—"देखिए, वह मेढक आपकी तितली को खा गया।"

"वह देखो सर् सर्, सचमुच साप है, अब वह इस मेढक को खा जाएगा।"

"यह सब क्या है ?"—यशोधरा की आखे विस्मय का रस पीकर और भी सुंदर हो गयी थी।

"यही तो मैं सोचा करता हू। हिंसा का अन्त नही। एक के पीछे एक भक्षक लगा हुआ है।"

"देखिए, सांप का मुंह खुला हुआ है, उसने मेढक को उदरस्थ कर लिया है।"

"वह, सुन्दर पक्षी आया।"

"अब यह मोर इस सांप को खा जाएगा।"

"दुनिया में यही हो रहा है। बडा छोटे को खाता है, छोटा अपने से छोटे को खाता है। यदि सबको जीवन-यापन की समान सुविधाएं, अवसर और सुरक्षा मिले, तो बडो के द्वारा छोटों का डसा जाना बन्द हो जाये।"

"लेकिन समाज अपनी परम्परा पर चलता है, सपनो से नहीं।"

"यशोधरे, स्वप्नों से विधान बनते है और कालान्तर मे विधान ही परम्परा बन जाते है।"

"तुम्हें सपने अच्छे लगते है, मुझे परम्परा प्रिय है।"

"नुम परम्परा म पली हा।"

"और आप ?"

"मैं तुम्हारा स्वप्न देखकर बडा हुआ हू यशोधरे ! तुम्हारे अस्तित्व ने मेरे जीवन को नई दिशा दी है। तुम्हारी प्राप्ति पर मेरी कोई कामना शेष नहीं रही।"

"यह देव का अनुग्रह है।"

"बस यशोधरे, तुममे एक ही कमी है।"

"वह क्या ?" उसने सदर्प पूछा।

"तुमर्मे मान बहुत है। तुम्हारा स्वाभिमान अभिमान की सीमाओं पर चला गया है।"

"होगा ! मै तो नही देखती।"

"चाद अपना कलक नहीं देखता।"

"फिर भी वह चाद है।"

"यही तो तुम्हारा गर्व है।"

"गर्व है ? गर्व की ऊष्मा से व्यक्ति जीवित रहता है।"

"यह भ्रम है, विनय का अमृत ही जीवन है।"

यशोधरा अपने आपे में न रही। पैर पटककर बोली—"तो, क्या आपकी मर्जी है, मैं किसी की दासी बन जाऊं ?"

"यह तो मैंने नही कहा।"

"कह देते तो अच्छा था।"—फिर उसने आंचल आखो से लगाया।

"तुम समझी नही।"

"सब समझती हू मैं।"—और जल्दी-जल्दी कदम बढाती वह एक ओर चली गई।

मे वही बैठा रहा—

धीरे-धीरे मुझे यह प्रतीत होने लगा कि मेरे और यशोधरा के स्वभाव मे अन्तर है। वह उत्तर ध्रुव पर है। मै दक्षिण ध्रुव पर हूं। कसूर उसका नही। उसका लालन-पालन ही ऐसे वातावरण मे हुआ है। वहां सेवा करना नही, सेवा लेना सिखलाया जाता है, और यदि सेवा में तनिक भी त्रुटि हुई तो दासो की देह से चमड़ी अलग खीच लेना सिखलाया जाता है। जिनकी एडी पर जरा-सा काटा लगने पर समूचे साम्राज्य मे हलचल मच जाती है, ऐसी राजरानिया अपनी सहेलियों के बीच हसते-हंसते, आदमी को जिन्दा गडवा देती है। ऐसी परम्परा मे पली इस कोलिय-कन्या की प्रकृति में तुनक-झुनक हो तो विस्मय की बात नही।

यशोधरा को मान की भगिमा इतनी प्रिय रही कि धीरे-धीरे वह स्वय मानिनी बन गई। बालापन से ही नृत्य और नाट्य-समज्जा मे उसका भाग रहा है, उसमें वह इतनी डूबी कि शाक्य-साम्राज्य की सर्वश्रेष्ठ सुन्दरी घोषित किए जाने पर ही

उसे चैन आया। परन्तु मनुष्य के मन की लालसा का अन्त कहा ? यशोधरा को सहस्रो दास-दासियां और सहेलियों के बीच चलने मे मजा आता है, इससे उसके अह की पूर्ति होती है। यो उसका मान बढता जा रहा है और वह दिन-दिन अधिक मानिनी बनती जा रही है, और उन पर भी प्रजापति-मा का लाड उसे जाने कहां ले जाएगा ! मै नही जानता।

मैं सोचता रहा—नारी को समझना कितना कठिन है ! अजीब पहेली है यह ! ज्यो-ज्यो सुलझाता हूं, त्यो-त्यो उलझती जाती है। एक ओर से सुलझती है, दूसरी ओर से स्वयमेव उलझती जाती है.

फिर भी नारी—नारी है। समस्त ससार इसके सामने तुच्छ और छोटा मालूम पडता है।

नरो की जननी, तुझे प्रणाम है।

20

"सौम्य छन्दक, यानो को जुडवाओ। सुभूमि देखे दिन हो गए।" छन्ना से कहा था। मुझे ज्यो का त्यो याद है—

वसंत आया है। डाल-डाल और पत्ते-पत्ते ने सिंगार किया है। विदेश से घर लौटे पिया को पाकर, जिस प्रकार कामिनी फूल उठती है, उस प्रकार माधव-कुसुमाकर के आने पर वाटिकाएं उल्लसित हैं। समस्त जनपदो मे बिलास की बातिया जल रही है और उनके प्रकाश मे रस के समारोह चल रहे है। क्योकि वसत आया है. .

नृत्य और गीत हवा की लहरियो पर थिरक उठे। कठ से निकलकर स्वर के पछी दिशाओं मे उडाने भरने लगे। कांताओं और कोकिलाओं के स्वर का विभेद कठिन था। रसवतियो का अग-अग सुवास से बसा था, जैसे मंजरियां महक रही हो।

छन्दक लौटकर आया—'आज्ञा हो देव, सुन्दर यान जुत गए। अब जिसका देव काल समझते हों।'

'उद्यान-भूमि चलो।'

रथ चला जा रहा था। मार्ग मे मैने कई लोगो को एकत्र देखा। वे नाना प्रकार के नए वस्त्रो से एक शिविका बना रहे थे। मै आर्य छन्दक से कुछ पूछू-पूछू, तब तक मेरे कान पर स्वर आया—'सत्य काम सत्य है, राम नाम सत्य है।'

मैंने रथ से बाहर देखा। पथ पर अनतिदूर ही, वे खड़े थे। पहले व्यक्ति के वचन शेष लोगों ने दुहराए। और जोर का स्वर उठा—'राम नाम सत्य है, राम नाम सत्य है।'

यह सब देख-सुनकर, मैंने सारथी से पूछा—'भद्र सारथि ! यहा बहुत से लोग

एकत्र होकर यह शिविका क्यो वना रहे है ?'

छन्दक चुपचाप मौन वैठा रहा। मै जान गया, इसके उत्तर की राह मे कोई राजाज्ञा बाधक बन रही है। तव मैने एक पथिक को पास वुलाकर पूछा—'भद्र नागरिक ! कहो तो, यह शिविका क्यों वनाई जा रही है ?'

'यह शिविका नही अर्थी है !'

'अर्थी क्या होती है आर्य ?'

'इतना भी नहीं जानते, इस पर मृतक को श्मशान ले जाया जाता है।'

'मृतक क्या वस्तु है आर्य ?'

'किसी कुलपति के विगड़ैल बेटे मालूम पडते हो ! मनुष्य जन्मता है, यौवन ओर जरा आते है। फिर एक दिन ऐसा भी आता है, जब वह जन्मा प्राणी ससार मे नही रहता, मर जाता है, तब उसकी देह को शव, और उसे मृतक कहते हे।'

'और यह श्मशान क्या बला है ?'

'श्मशान-भूमि, उद्यान-भूमि के विपरीत स्थल का नाम है। तुमने रग-भूमि देखी है, श्मशान-भूमि भी देखो। रंग-भूमि पर मनुष्य हसता है, और श्मशान-भूमि पर रोता हे। सारी दुनिया—हमारे पूर्वज और अग्रज श्मशान भूमि में समा जाते है।

'वहा वे क्या करते है ?'

'मुर्दे कुछ करते है ? भोले हो !'

'तो छन्दक, रथ उधर ले चलो, मै मृतक देखूगा।'

'अच्छा देव !' कहकर सारथी छन्ना जहा वह शव रखा था, वही मुझे ले गया।

पारिवारिकजन सिर धुनकर रो रहे हैं। स्त्रिया बाल नोंच रही है और बच्चे चीख रहे है।

'छन्दक, यह मरना क्या चीज है ?'

'देव, मरना मरना है और क्या ? न जीने का नाम मरना है। तब कुटुम्बी मिलकर मृतक के शव का दाह करते है, जिसे अग्नि-संस्कार कहते है।'

'अग्नि-सस्कार से इस मृतक को पीडा नहीं होगी ?'

'देव वह मर गया। मृतक के मन-मस्तिष्क नहीं होता। उसकी हृदय गति रुक गई है। अब उसके माता-पिता या जाति-जन उसे नहीं देख सकेंगे, और इसी प्रकार वह भी अपने सम्बन्धियो को नहीं देख सकेगा।'

'तो छन्दक, इसका कोई निदान नहीं ?'

'नही कुमार !'

'होगा छन्ना, तुम्हे ज्ञात नहीं।'

'सम्भव है।' छन्दक बोला। और मै सोचता रहा—'मै मृत्यु का निदान खोजूगा। मै उस लोक को, उस अवस्था को धरती पर लाऊंगा, जिसे पाकर आदमी मरेगा नही।'

मैने मृतक के एक परिजन से पूछा—'यह तो मर गया अब तुम क्यों रोते हो ?'

म इसलिए रोता हू कि एक दिन मे भी मर जाऊगा तुमने श्मशान भूमि नही देखी क्या ? जहा जाकर कोई लौटता नही, जहां एक दिन सबको जाना है। काल सबको खा जाता है। अपने ही परिजन हमारी देह मे आग लगा देते हैं'...मैं विस्मयपूर्वक, नागरिक की बात सुनता रहा—'और इस बलिष्ठ देह की अस्थियां ऐसे जलती है, जैसे पुराना काठ और सुन्दरियो के कजरारे केश ग्रीष्म की सूखी घास की तरह भष्म हो जाते है। और एक दिन ये जलानेवालेजन भी जल जाते है। जो आया है, सो जाएगा। जो जन्मा है, सो मरेगा—यह कालदेवल का अतिम कथन है। देखो, यह कालदेवल आजन्म मृत्यु से लड़ता रहा, पर आज मृत्यु इसे भी डस गई। ससार मे मृत्यु की भूख, सबसे बड़ी भूख है।'

तब साश्चर्य छन्ना ने उस भद्र नागरिक से पूछा—'श्रेष्ठ, यह मृतक देह क्या कालदेवल का है ?'

'हां, सारथीराज !'

'कालदेवल तो परम भट्टारक महाराज का मित्र था। आज महाराज के मन को बड़ी ठेस पहुचेगी।'

तब मैंने प्रश्न किया—'छन्दक, तो क्या मैं भी मरण-धर्मा हू ? क्या मृत्यु अनिवार्य है ?'

'हां कुमार !' छन्दक का स्वर उदास और भारी था।

'भद्र छन्ना !' क्या मुझे भी देव, देवी और यशोधरा नहीं देख सकेंगे ? और क्या मै भी उन्हे नहीं देख सकूगा ?'

'नही देख सकेंगे युवराज !'

'तो क्या छन्दक, एक दिन तुम्हारा भी 'राम नाम सत्य' हो जाएगा ?'

'हां कुमार !' छन्दक ने रोते हुए कहा।

'भले आदमी रोते क्यों हो ? अभी तो वह दिन नहीं आया !'

'नही आया।' छन्दक ने आंसू पोछते हुए दुहराया।

'आर्य छन्ना, क्या महाराज भी एक दिन मर जाएगे ? क्या अपने मित्र कालदेवल की तरह एक दिन वे भी नही रहेगे ?'

'राम, राम ! ऐसा न कहिए कुमार ! महाराज की जय हो, महाराज सहस्रायु हो !'

'फिर भी, सहस्र वर्ष जिस पल पूरे हो जाएगे, उसके दूसरे पल तो उनका भी राम नाम सत्य हो जाएगा।'

'यह कल्पना भी अशुभ है।'

'जो अनिवार्य है, वह अशुभ नहीं...और सौम्य छन्दक, क्या यशोधरा भी एक दिन चली जाएगी...क्या उसका भी 'राम नाम सत्य' हो जाएगा ?...श्मशान भूमि में उसके केश-कलाप घास-फूस की तरह जल जाएंगे, छन्दक ?'

'हां !'

'तब तो उसका सारा गर्व भी खर्व हो जाएगा ! सारा मान-मर्दन हो जाएगा ?'

'हा ।'

'यह तो बडी अच्छी बात है कि मृत्यु गर्वितो का गुमान भग कर देती है।'

'अब चलिए कुमार ! काल बीता जा रहा है।'

'परन्तु रीता नहीं जा रहा है। वह अपनी गति के प्रत्येक पल के साथ हमारी सृष्टि के एक-एक प्राणी को, नही लाख-लाख लोगो को लेता जा रहा है।...लेकिन छन्दक, कुछ तो ऐसे भी लोग होंगे, जिन्हें काल नहीं खाता होगा ? ये बडे-बडे तिलकधारी ब्राह्मण, ये मोटी-मोटी श्रेष्ठी, ये अभिमानी आभिजात्य, ये रूपगर्विता कुलकुमारिया इनसे तो काल दूर रहता होगा ? या काल इनका भी लिहाज नही करता ? क्या काल के कोश में 'अपवाद' जैसा कोई शब्द नहीं ?'

'नही, केवल राम नाम ही एकमात्र शरण है।'

'लेकिन छन्न ! तुम्हारे राम को भी तो काल ने ग्रास बना लिया। बडा विचित्र है यह विश्व ! प्रत्येक प्राणी और पदार्थ के देहाकार पर अदृश्य लिपि और शब्दो मे, 'राम नाम सत्य लिखा है...क्यो, मनुष्य इसे फिर भी पढता क्यों नही ?'

'अदृष्ट जो है यह लिपि-संकेत ! मनुष्य मरणशील है, परन्तु फिर भी इस आर्य सत्य को भूला हुआ है।'

'और छन्दक !'

'कहिए नाथ !'

'बस, एक बात और बताओ, मरकर आदमी किधर जाता है ?'

'स्वर्ग या नरक को।'

'कितनी दूर है यहा से स्वर्ग-नरक ?' तुमने देखा है वह स्थान ? वहां तो बडी भीड होगी ? कल्प-कल्पान्तरों से सभी प्राणी वहा जा रहे हैं।'

'नही, मनुष्य पुनः जन्म भी लेता है।'

'पुन: जन्म लेता है !'—मुझे विचित्र लगा। पूछा—'तो फिर मरा किसलिए ? यह व्यर्थ परिजनो को रुलाया किसलिए ? क्यो छन्दक, जरा कल्पना करो, मै मर जाऊं तो मां प्रजापति का क्या हाल होगा ? वे तो रो-रोकर प्राण दे देगी और यशोधरा, वह तो यो ही चौकती है ! मेरे जीवित होते भी रोती है तो मरने के बाद और अधिक रोएगी—है न छन्ना ?'

'अब सुभूमि चलें कुमार, वेला हो गयी।' छन्ना बेचारा ऊब चला था। मेरे साथ जो रहे, वही ऊब जाए !

'छन्दक, इस मरण-वरण की क्रिया से मेरा मन भी बेमन हो गया है। अच्छा होगा, हम लौट जाएं।'

'जो आज्ञा कुमार !'

राजरथ लौटकर दौड़ने लगा। कालदेवल के उस शव से, उस अर्थी से दूर, विपरीत

दिशा में हम दौड़ रहे थे। परतु जब सब मरण-धर्मा है, तो बचकर कहा जाएगे।

मेरे कानो मे अब भी 'राम नाम सत्य है' का रुदन हो रहा था और बार-बार मृतक के निकट बाल बिखराए विसूरती और पृथ्वी पर सिर पटकती उस महिला का चित्र मेरी नजरो मे चमक जाता था। मैंने कुछ डरकर, कुछ संकोच से पूछा—'सारथि। मृतक कालदेवल के अति निकट वह कौन बेचारी सिर पीट रही थी ? इतना और बता दो।'

'वह उसकी बहन भद्रा थी, कुमार।'

'अच्छा। .सचमुच, ससार मे बडा दुःख छाया है रे छन्दक। संसार असार है।'

पारिजात के निकट हम आ गए थे। छन्दक अब किसी नई दुर्घटना मे उलझना नही चाहता था, इसलिए रथ को वेगपूर्वक लिये जा रहा था। आज रथ मे बलाहक के स्थान पर दूसरा अश्व था। और उसके पीछे छ नये अश्व थे, मार्ग मे भीड़ देखकर ये भागते थे।

मेरे मस्तिष्क मे जैसे मृत्यु का महाचक्र चल रहा था। सबको एक दिन काल खा जाएगा। सब प्राणी मर जाएगे, तो इस जीवन से क्या लाभ ? तो इस जीवन का उद्देश्य ? ये बड़े-बडे साम्राज्य, ये भीम भयकर सगर, ये सिह-नाद और ये षड्यन्त्र, शोषण के ये काले कारनामे : सब यो ही धरा रह जाएगा और इस दुःखमय संसार से मनुष्य अकेला लौट जाएगा। जिनमे सम्राटो के आगे-पीछे अक्षौणिया चलती है, उन्हे राजकीय श्मशान-घाट में अकेला छोड दिया जाएगा। जिन अन्तःपुरो में मध्यरात्रि के ढलते प्रहरो तक सुरा और सुर का अबाध प्रवाह बहता है, उनमे रहने वाली रानियो की समाधियो के आसपास रातो-रातो श्वान भूकेगे और उलूक रोएंगे—यही होगा उनका वन्दन-अभिनन्दन।

दस-सहस्र हाथियों और योद्धाओं का बल रखने वाले ये महारथी मृत्यु के एक थप्पड़ से चित्त हो जाएंगे, तब इनके मुंह पर मक्खिया भिनभिनाएगी। जिन कामागिनी जनपद-कल्याणियो के रूप की ज्वाला मे भस्म होने के लिए आज भरत-खण्ड के तरुणो के दल के दल दौडते हैं, जिनके एक आलिंगन के लिए बडे-बड़े साम्राज्य-वासना की वेदी पर वराटिका की भाति फेंक दिए जाते हैं, उन सुन्दरियो के मरण पर जब उनकी देह अपनी प्रकृति छोड़ देगी, कोई दो दिन उनके शव को अपने घर में रखना नही चाहेगा। कोई राजकुमार या श्रेष्ठिपुत्र उसकी ओर देखने के लिए तैयार न होगा।

ये अम्बरचुम्बी सौध-सदन, ये रागिनियों से गुजित, रस से भरे शयन-कक्ष एक दिन सूने हो जाएगे और समय आएगा जब इनकी नींव लगाने वालों को भी काल खा जाएगा और नींवे भी समय पाकर काल का ग्रास बन जाएगी। मागधीय महलो के छज्जे, गान्धारियों के गोल गुम्बद और आवन्तिकाओ की उत्फुल्ल अटारियां—सूखे ढेले-सी ढह जाएंगी।..

छन्दक, रथ जल्दी चलाओ...छन्दक ऐसा न हो कि कहीं इन मदमाते अश्वो

का काल आ गया हो और मार्ग मध्य में ही ये धोखा दे दें कहीं छन्ना तुम्हारा ही राम नाम सत्य न हो जाए !.. और मुझे पैदल घर जाना पडे। रोते हो छन्ना. अपनी दशा पर रोते हो, या मेरी दशा पर ? जो सत्य है, उससे भय कैसा ?..

'रहने दो. रहने दो !

आरात्रिका रहने दो, मेरी यह पूजा रहने दो यशोधरे ! मैं कोई भगवान् नहीं। .देवता नहीं. .मैं तो एक साधारण मरणशील मानव हूं।'

'देव को फिर क्या हो गया है आज ? शैवाली ! यह थाल उधर रख दे.. अरे आपका तो शरीर तप रहा है...कितना रोकती हूं, बाहर न जाइए। . शैवाली, मेरा मुह क्या देखती है ? वह शैया इधर खींच ले। आप लेट जाइए नाथ !'

'एक दिन सबको लेटना है। एक दिन ऐसा लेटूंगा कि फिर नींद नहीं खुलेगी।'

'आप लेट तो जाइए।'

'हा...हा, तुम पास बैठो ! तुम्हें एक राज बताता हू। तुमने कभी 'राम नाम सत्य' सुना है ? तुमने भरत-खण्ड के सभी श्रेष्ठ स्वर-सिद्धों के मधुर गीत सुने, परन्तु उनसे भी मधुर और जितना मधुर और उतना ही क्रूर गीत तुमने सुना है कभी ? राम नाम सत्य है ! ..देवि ! आज सायकाल सुभूमि जा रहा था कि मैंने उस महाबली, प्रचड प्रकोपी कालदेवल का शव देखा। उसकी बहन भद्रा उसकी अर्थी के पास सिर धुनती रो रही थी। और देवि, वहीं मुझे एक नागरिक ने बताया—सबको मरना है। जो जन्मा है, वह अवश्य मरेगा। यह कालदेवल आजन्म मौत को चकमा देता रहा परन्तु, आज मौत ने उसे ऐसा चकमा दिया कि चारों खाने चित्त पडा है ! और अब तक तो उसके सम्बन्धियो ने उसे फूक दिया होगा...यशोधरे, मैं सोचता हूं एक दिन परम भट्टारक भी अपने मित्र कालदेवल की तरह, मौत के काले पंजे के शिकार होंगे। सारा कपिलवस्तु श्मशान में बस जाएगा। मखमली सेजो पर लेटने वाले, काठ की चिताओ पर लेटेंगे। यह सत्य कितना भयंकर है कुंवरानी ? और मैं भी मर जाऊंगा।'

'नहीं...नहीं, ऐसे बोल मुह से न निकालो मेरे प्राण !'—यशोधरा ने मेरे मुख पर अपना हाथ रख दिया—'ईश्वर उसके पहले मुझे उठा ले।'

'और तुम, मानो या न मानो यशोधरे, तुम्हारा यह गर्भस्थ शिशु भी एक दिन काल का कवल बनेगा। यह सत्य है, ध्रुव सत्य है।'

यशोधरा मेरे इस कथन को सह न सकी। शैवालिका ने उसे संभाल लिया, अन्यथा वह गिर जाती। मैंने कहा—'तुम्हीं तो कहती थीं, जो अवश्यम्भावी है उसका क्या शोक और क्या संताप देव ! और आज तुम्हीं यो धीरज खो रही हो ?'

'नाथ, राम का नाम तो सब लेते हैं, परन्तु समय-असमय देखे बिना ही 'राम नाम सत्य' कोई नहीं कहता।'

'किन्तु देवि, क्या राम नाम सत्य नहीं है ?'

'यह सत्य है, लेकिन कटु-क्रूर सत्य है। और सभ्य-समाज मे कटु-सत्य कहना

[illegible] है।

'कटु सत्य कहे बिना श्रोता की आखे नही खुलती। यदि वह सत्य है कि एक दिन मै न रहूंगा और तुम्हारे इस सुमधुर गोरे भाल का सैमन्तिक पुछ जाएगा, तो इसमे घबराने-जैसी बात क्या है ?'

'मै घबराती नही। लेकिन अपने प्रियजनो के लिए अशुभ सुन भी नही सकती। जिसका विचार मात्र पाप है, उसका कथन और श्रवण तो महापाप है।'

'तुम कुलीनो की पाप-पुण्य की परिभाषाए विचित्र है। अपने स्वार्थ को तुम लोग पुण्य कहकर बखानते हो और जो अपने हित के विपरीत जाता है, उसे तुम असामाजिक और महापाप बताते हो। अपनी मौत से तुम भयभीत होते हो, परन्तु राजमार्गो पर अपने भगवान के बेटे को मरने के लिए नगा छोड दिया है।.. ओर मे कहूगा—उसकी नग्नता—तुम्हारी अपनी नग्नता है। इन भिखमंगो की भूख पुकार-पुकार कर जतला रही है कि तुम्हारे वर्ग की सर्व स्वार्थिनी क्षुधा कितनी भयकर है। तुमने अधिक खाया, तुमने उसका ग्रास भी छीन लिया, तभी न वह नंगा, भूखा, निराश्रय भटक रहा है बाजारों मे। 'एक कासापन दो बाबा, एक रोटी का टुकडा दो।'—धिक्कार है तुमको। इस अनाचार का प्रतिशोध लिया जाएगा। तुम जिसे काल कहते हो, वह और कुछ नही, जन-जन के अतर की ज्वाला है। वह तुम्हें भस्म कर देगी। विश्वास करो, जिस दिन ससार में स्वार्थ नहीं रह जाएगा, उस दिन मृत्यु भी न रह जाएगी। मृत्यु इसलिए आती है कि वह तुम्हें, ठोकर मारकर सिखलाए—उठो, वहुत लिया अब कुछ देकर जाओ। ..प्रिये, घबराओ नही, मै तुम्हारे पास बैठा हूं। मेरा अपराध क्षमा करो। मेरी मनःस्थिति को देखो-परखो। अब तुम्हारा जी कैसा है ?'

यशोधरा बाहर से जितनी सुकुमारी है, भीतर से उतनी सहनशील और अचपल भी है। कहने लगी—'भय और घबराहट-जैसी बात नही। सिर्फ इतना ही कि अपने प्रिय का अभाव दुखदायी होता है।'

'सारा ससार दुखदायी है यशोधरे। प्रियो का वियोग दुःख है तो अप्रियो का सयोग भी दु ख है। जन्म भी दुःख है, जरा भी दु ख है। व्याधि भी दुःख है, मरण भी दुःख है। यहाँ सब कुछ तो दुखमय है !'

'स्वामि, विश्राम न कीजिएगा। आपको मेरी शपथ, अब जो जी को अधिक दु ख दिया।'

'दु ख-सुख का विचार कल्पनामात्र है। सब माया है। सब दु-ख है। इच्छा करने पर किसी पदार्थ का न मिलना, दुःख है। मुझे लगता है सारे भौतिक-अभौतिक पदार्थ दुःख हैं। तृष्णा और तृप्ति दोनो दुःख है।''

'फिर सुख क्या है देव ?'

'सुख क्या है—यही तो मैं भी सोच रहा हू। हा...हां...सुख वह है, जिसमें मनुष्य को जन्म न लेना पडे। जिसमें जरा, मरण, आधि-व्याधि और कामनाएं न हों। मेरा अनुमान है, वही सुख होगा। मैं उस सुख को खोज लेना चाहता हूं। मै उस मरण-हीन

जीवन को पा लेना चाहता हूं, न केवल अपने लिए किन्तु समग्र सृष्टि के लिए।

'देवि, मै वह दिन लाना चाहता हू—जब मनुष्य को यो बार-बार जीना-मरना न पडे। यो दुखी न होना पडे। एक का दु ख सबका दुःख हो, और एक का सुख सबका सुख हो। मै समता के उस समाज की कल्पना और रचना चाहता हूं। और उसे धरती पर लाना ही पडेगा, मै उसे लेने जाऊगा। यदि मै न ला सका, तो कोई बात नहीं, मानव पुत्र अवश्य लायेगा। मनुष्य अपने सुनहरे भविष्य के लिए निरन्तर लडता रहेगा। ..

'वह इसलिए लडेगा सुलोचने, कि अपनी विजय में उसे विश्वास है।'

देवी कुछ न बोली।

21

पिछले दिनो जो घटनाएं हुई थी, उनके कारण मेरा मन बहुत खिन्न हो चुका था और चित्त दिग्भ्रम मे भौंरे की भाति भटक रहा था। माया के मृग-जल के पीछे मनुष्य केसा भाग रहा है, देख-देखकर मै चकित था। संसार में कितना अनन्त दु ख और परिताप छाया है, और उसके समक्ष उसके उन्मूलन के निमित्त मानवीय प्रयत्न कितना छोटा और अकिंचन है। अब तो प्रत्येक जन-जन को उठना होगा। हमारी यह लडाई साधारण लड़ाई न होगी, शताब्दियो तक यह चलेगी और शत-शत संततियां इसमे भाग लेंगी। हमे अपनी हार नए अनुभव सिखलाएगी और विजय के मूल्य को हमारे सामने स्पष्ट कर, हमें नए परीक्षण और पराक्रम के अवसर प्रदान करेगी। ताकि कोई यह न कहे कि, मनुष्य विषमता का विष-पान कर मर गया। मनुष्य ने प्रकृति से पराजय पाई। वसुधा वीरों के विक्रम से विहीन है, यह कोई न कह सकेगा।

अब मैं मनुष्य के ज्योतित भविष्य को अच्छी तरह देख पा रहा था। मुझे यह महसूस हुआ कि दुनिया उतनी ही नही जितनी या जैसे हम उसे जानते है, हमारे पूर्वज, हमारे ज्ञानी और हमारे आचार्य, जो कुछ जानते हैं, कहते हैं वह तो सिन्धु के एक बिन्दु से उतना ही छोटा है, जितना बिन्दु सिन्धु से। ज्ञान अनन्त है। ध्यान अनन्त है। सिन्धु अनन्त है। सिद्धि अनन्त है। तो यह मनुष्य भी अनन्त है। इन सबसे अनन्त है और जो कुछ भौतिक-अभौतिक अनन्त है, वह सब मनुष्य के लिए है, सबके समान उपयोग और उपभोग के लिए है, सबके समान योग और भोग के लिए। मुझे लगता था, एक दिन आएगा, जब मनुष्य प्राप्त का परित्याग कर देगा—सर्वजन हित के लिए, सर्वजन सुख के लिए।

यह सारे रोग, शोक, दु:ख, दारिद्र्य, भव-ताप, सताप, असाम्यजनित है। मनुष्य का 'स्व' इनकी मूल उपाधि है। यही 'स्व' इनका जनक है और मनुष्य का वैरी है।

मे इस भव ताप की तपन का बुझाऊगा मे सब के हित हेतु अभिनव साम्य को लाऊगा। तब दु:ख नि शेष होगा। और यदि रह भी गया, तो इतना कम होगा कि सब उसे बांट लें और उस समाज मे सुख इतना अधिक होगा कि बांटे न बटेगा। और तब मनुष्य को एक ही बात की शिकायत रह जाएगी कि मेरे पास दूसरे स अधिक सुख है, इसे मै कैसे, क्यों कर दूसरे को दे सकता हू ? हरेक प्राणी को अपने सुख का बोध इसी प्रकार होगा। निश्चय ही तब जीवन अमृत बन जाएगा। मैं उस अमृत को धरती पर लाऊगा। मै नए मनुष्य का निर्माण करूगा। उस मनुष्य को अपने विश्व-परिवार और अभिनव सम समाज की सृष्टि रचना में निरत, निमग्न देख, मेरा मन पुलकित हो जाएगा।

धरती पर वह आलोक कब उतरेगा ?

पिताजी को जब यह ज्ञात हो गया कि मैने पिछले वर्षो न केवल वृद्ध और रोगी देखा है, वरन् एक मृतक भी देखा है। और वह मृतक भी दूसरा कोई नही उनका परम सखा कालदेवल था, तो सताप-की सीमा न रही।

महाराज के कई दिवस अत्यन्त उद्विग्नावस्था में व्यतीत हुए। मंत्रीजन अलग चिन्तित थे। वे सब मुझे महल की चारदीवारी मे बन्द रख सकते थे। पर भला मेरे मन को कैसे बाध सकते थे ? कालदेवल का कथन सत्य था कि सम्राट् शुद्धोधन के पास ऐसी तलवार नहीं है जिससे वह विपक्षी के मन को काट डाले या उसे विजित कर, बन्दी बनाकर ले आए, तो मै सोचता रहा क्यो न इस मानव-मन को किसी प्रकार वश में किया जाए। क्यों न, ऐसा उपाय खोजा जाए कि मनुष्य का मन बदला जा सके। यदि ऐसा हो सका, तो हम नरो की यह जीत तलवारों की जीत से, हथियारो की जीत से बहुत बड़ी जीत होगी और लोक मे कहानी चल जाएगी, कि कपिलवस्तु के शाक्य राजा के कुल में एक ऐसा भी दीवाना पैदा हुआ था, जिसने जरा को भी कभी स्वीकार नही किया, जिसने मरण को भी कभी स्वीकार नही किया। उसने कहा, जरा हमारा धर्म नही, मरण हमारी परम्परा नही, हार हमारी रीति नही।. .और मुझे प्रतीत हुआ—सिद्धार्थ इसके लिए तुम्हें सबसे लडना पडेगा। अपने स्वप्न को ससार-भर में सबके निमित्त प्रकाशित देखने के लिए तुम्हे शायद सर्वस्व का बलिदान देना होगा। अरे. अरे. .सब छूट जाएगे।...अकेले रह जाओगे सिद्धार्थ, अपने सगर मे अकेले रह जाओगे। समस्त उच्च वर्ग उनकी सगठित शक्तिया, उनके ज्ञान-विज्ञान, अस्त्र-शस्त्र सब तुम पर एक साथ अचूक वार करेगे। परन्तु तुम्हारी राह यह साबित कर देगी कि मनुष्य का पराक्रम परिधियो में नहीं बाधा जा सकता। उसके ज्ञान के दीप को नही बुझाया जा सकता !

देखना है, क्या होता है।

समाचार लाने में शैवालिका पवन-पुत्र से कम नहीं। महाराज ने, मेरे वृद्ध देखने पर,

पहरा बढाकर एक योजन कर दिया था गर्गी की बात यशोधरा ने जब उन्हे बता दी और मेरी सारी शिकायतें उनके सामने रख दी, तो पहरा बढ़कर दो योजन हो गया और प्रहरियों की संख्या तो लाख के आस-पास आ गई। पिछले वर्ष कालदेवल की मृत्यु और उसकी बहन का क्रंदन मैने देखा और इसका समाचार महाराज ने जाना, तो उनके शोक और क्रोध की सीमा न रही। मुझे समझ मे नही आता, मुझे बाध रखने के लिए, कितने प्रहरियो को अपने प्राणो से विदा लेनी पड़ेगी। मेरे मार्ग मे आ जाने वाले, किसी भी अनपेक्षित, अकाम्य को मृत्यु-दण्ड मिलता है और मेरी सुरक्षा का उत्तरदायित्व जिन पर होता है, उनकी दुर्गति की तो कहना ही क्या, सहस्रो की संख्या मे पथ के उन प्रहरियो और अगरक्षको को काल के कराल कुण्ड मे झाक दिया जाता है।

इन घटनाओ के कई वर्ष उपरान्त, मुझे ज्ञान हुआ कि उद्यान-भूमि जाते समय मेरे मार्ग में वृद्ध भिखारी और पगु कोढी को लाना देवदत्त का षड्यन्त्र था। उसे कालदेवल की भविष्यवाणी और कौडिन्य का कथन अपने गुप्त सूत्रो से ज्ञात हो गया था, और वह जानता था कि यदि मैं घर छोडकर बेघर हो जाऊं, तो लोक मे मेरा अपवाद फैलेगा और मेरे राज्य-परित्याग पर वह सिहासन का उत्तराधिकरी बन जाएगा। मैं तो इसमें उसका और उसके तथाकथित साथी देवो का उपकार ही मानूगा। क्योकि इस प्रकार वे मेरे ज्ञान-विकास और अन्तर-चेतना के निमित्त-कारण जुटा रहे थे।

बेचारों ने कितना परिश्रम किया। हमारे विपक्षियो की समस्त अभिसधिया हमारे हित के लिए होती है। उनके शुभ को अशुभ हम अपने शुभ से धो देगे।

22

मुझे एक दिन मालूम हुआ कि रोहिणी के किनारे, जो आम्र-वन है, वहा एक विचित्र व्यक्ति आया है। छन्दक ने बताया, वह निर्ग्रथ सन्यासी है। ससार का अपना सब कुछ छोड चुका है। अकेला विचरता है, और अकेला एकात मे रहता है। मेरे मन को बडी ललक-लालसा लगी कि उसके दर्शन करू। मै जानना चाहता था कि क्या वह भी मेरी तरह सर्वजन-सुख के लिए पागल बना हुआ है। आखिर उसका कहना क्या है, उसके विचार कैसे है। दुनिया को वह किस दिशा में देखना चाहता है?

विगत वर्षो में चुपके-चुपके, जिन पडितो से मिला, छिप-छिपकर मैने जितने वेद-वेदान्त, ज्ञान-ग्रन्थ पढे उनसे मेरा परितोष न हुआ। मेरे मन की जिज्ञासा को राहत न मिली। वह तो अब भी वैसी ही विभ्रान्त, अनजानी, उदास और प्यासी भटक रही थी, जैसी पहले दिन। या, और भी उसकी प्यास और लगन बढ गई थी।

यशोधरा थी नही। वह अपने मायके गयी थी। सिमतिनी थी। मैंने देखा, अच्छा

अवसर हाथ लगा हे, राहिणी तटवाल सन्यासी स मिला जाए शैवालिका कहती थी कि वह बडी देर तक उपस्थित लोगो को उपदेश भी देते है। शुभ अवसर है। उस दिन, पहली बार मुझे यशोधरा के दूर रहने पर प्रसन्नता हुई। ज्ञान की प्राप्ति म हमारे मार्ग मे जो भी बाधक बने, वे सब त्याज्य है। सघर्ष के लिए हमारे अभियान म जो भी हमारे अवरोधक हों, वे सब हमारे अहित-चिन्तक है। उन्हे कोटि-वैरी सम छोड देना चाहिए। मैने सोचा यदि सिद्धार्थ यह बात है, तो फिर महाराज, देवी, मा प्रजापति और यशोधरा क्या चीज है !

मुझे खयाल आया—कही यह सन्यासी भी देवदत्त का छद्म वेशी चर तो नही है ? ..फिर मन मे उत्तर मिला—हुआ भी तो हमारा क्या लेगा ? और छद्म चर तो सहसा ही ज्ञान-वार्ता नही कर सकता। चलो, यह भी एक नया अनुभव रहेगा।

वेश बदलकर मै सभा मे गया। वहां संन्यासी का अभिवचन चल रहा था—'परमात्मा ने जीव-जगत् की सृष्टि की है। मनुष्य और पशु बनाए हैं। मनुष्य ने कहा कि वह श्रेष्ठ है और पशु निम्न है। पशु क्यो नीचा है ? उसमें ऐसे कौन-से अवगुण है कि वह मनुष्य की जाति मे नहीं आ सकता ? उसने कौन-सा अपराध किया है ?

सृष्टि के समस्त प्राणियो मे मनुष्य अकेला अपने-जैसा है। वह सर्वाधिक शक्ति सम्पन्न एव अद्वितीय है। शारीरिक शक्ति मे पशु बली हो सकता है किंतु, बौद्धिक एव आत्मिक शक्ति मे मनुष्य बडा है।

इस बुद्धि-बल ने ही मनुष्य को पशु से बड़ा बनाया है। और बुद्धि में भी चेतना ने उसको विकास दिया है। और इस मनुष्य के विविध रूप हैं। मूर्ख, अमूर्ख। पडित, अपडित। परिपूर्ण, अपूर्ण। इन विभिन्न रूपों में मनुष्य के दर्शन होते है। भक्त, दास, प्रेमी, न्यायी, अन्यायी अनेक स्वरूपो मे वह प्रतिष्ठित है।

लेकिन, जिस प्रकार पशु में पशुता सुलभ है उस प्रकार मनुष्य मे मनुष्यता सुलभ नही है।

पशु अपने स्वरूप एव कार्यों के प्रति सच्चा है, किन्तु मनुष्य अपने कर्तव्य एव रूप-अनुदान के प्रति सच्चा नही है। पशु अपने मन और मस्तिष्क को धोखा नही देता। मनुष्य प्रतिपल अपने मन, मस्तिष्क और आत्मा को छलता है। पशु मनुष्य से अधिक प्रकृत जीवन बिताता हे। वह प्रकृति के नियमो का उतनी सरलता से भग नही करता, जितनी सरलता से मनुष्य प्रकृति की लीक के विरुद्ध जाता हे। मनुष्य ने इस प्रकार, अपना जीवन अप्राकृत जीवन का प्रतीक बना दिया है। पशु-जगत् अपने सामाजिक विधान का उल्लंघन नहीं करता। जातीय मर्यादा मे जीता हे। मनुष्य को अपनी सामाजिकता और जातीयता का सम्मान करना नही आया। मर्यादा मे जीना नही आया। मनुष्य अप्राकृतिक, असामाजिक एव अजातीय जीवन बिताकर, पशु से भी हीन कहलाया।...हमने 'जियो और जीवित रहने दो' के रूप में मानव मात्र को स्वीकृति दी। प्राणी मात्र के, अणु के समान जीव-जन्तु से लेकर हाथी और प्राणियो मे से सभी का जीवन स्वीकार किया। यहां तक कि अपने लाभ एवं स्वार्थ

के लिए किसी भी रूप मे उनकी हिंसा तो दूर रही, उन्हें कष्ट पहुंचाना तक पाप समझा। इस प्रकार मानव और धर्म की स्वीकृति हमने प्रकाशित की है। विरोधी को वाणी की स्वीकृति दी।

अब हमारी सबसे बडी स्वीकृति आती है—ईश्वर सम्बन्धी, जगत्-भर की सभ्य कहलाने वाली जातिया अधकार में गोते खा रही थीं, हम ब्रह्म, चेतन, ज्योति, सत्य, परमात्म के रहस्यो को पा चुके थे। उन रहस्यों का अवगाहन कर भारतीय मनीषा ने जीवन और मुक्ति का पारस पाया। अपने सिद्धान्तों पर अटूट विश्वास ओर समयानुकूल अवस्थाओ का निरीक्षण और दिशा-निर्देशन, सत्य की ओर सभी कठिनाइया मे रहना भारतीय-सांस्कृतिक परम्परा की विशेषताए रही है।

हम सदैव सत्य की ओर रहे और हमने माना कि जिधर सत्य होगा उधर जय होगी। और इसी एक सिद्धान्त पर विश्वास रखकर पाडवो ने असत्य एव मिथ्यात्व के विरुद्ध महायुद्ध लडा।

हमारी यह परम्परा रही है कि हम सत्य की ओर अग्रसर हो। इस तथ्य का एहसास करें कि सत्य हमारी ओर है। लेकिन, इस बात का दुराग्रह न करें कि हमी सच्चे है। छोटी-छोटी बातों को लेकर सस्कृतिया और सभ्यताए अलग नहीं हो जाती। मूल जीवन-प्रवाह को बदलने वाली धाराओं पर सस्कृतियो की श्रेष्ठता निर्भर है।

श्रोता 'धन्य-धन्य' कह रहे थे।

'मित्रो ! जैसा कि हम देखते हैं कि दुनिया-भर की संस्कृतियो ने अपने दार्शनिक एव धार्मिक उत्थान मे, मनुष्य को अधिक, मनुष्य मात्र समझा। उसकी उन्नति एव सुरक्षा के उपाय ढूढे और उसके अनेकांगी-विकास की व्यवस्था की। किन्तु भारतीय सस्कृति ने मनुष्य को मात्र अस्थि-मज्जा का पिजर मानकर ही चैन न ले लिया, वरन् उसने इन्सान को 'भगवान्' समझा। उसने बताया कि मनुष्य यदि बढे तो भगवान बन सकता है। मनुष्य ही भगवान है। मनुष्यत्व मे ही ईश्वरत्व प्रतिष्ठित किया।

राम का जीवन मर्यादा, सत्य और संघर्ष की इतनी बडी मिसाल बन गया कि लोगो को उनमे ईश्वरत्व की सभी सीमाए विलय होती दिखाई दीं और उन्हें विश्वास हो गया कि यह राम ही ईश्वर है। ईश्वर ही राम है। इस प्रकार हम देखते है कि हमारी सस्कृति परमात्मा की देन है। और परमात्मा हमारी सस्कृति की देन है। विश्व मे सबसे अधिक, आध्यात्मिकता और आस्तिकता का क्षेत्र-शोधन हमारी सस्कृति ने किया है। उसने मनुष्य की सदेह मुक्ति का मगल-गीत रचा है।

हमारी सस्कृति ने 'उद्धार' किसी दूसरे के हाथ मे नही रखा। व्यक्ति का उद्धार या मोक्ष उसी के हाथ मे रहा और रहेगा—यह हमारी सस्कृति ने कहा। हमारे अवतारो, तीर्थकरो और भगवानों को मनुष्य-रूप में अपनी लीला दिखलानी पडी। आकाश मे बैठे-बैठे उन्होंने सारा चमत्कार नही कर लिया। यदि ऐसा होता, तो संसार में मनुष्य कब का खत्म हो गया होता। तब न मनुष्य रहता, न देवत्व। शैतानो का राज्य होता और वे आकाशचारी देवो को भी शाति से नही बैठने देते। हमारी सभ्यता का

विकास इस प्रकार किया गया है कि हमारा सर्वस्व मनुष्य मे से परमात्मा बनने के लिए लगा हुआ है। हमारा भोग, योग, भजन-भोजन सभी ईश्वरत्व की खोज मे है, मनुष्य का विकास उस श्रेणी तक करने की तत्परता मे है जब वह भगवान बन जाएगा।

यह जो लम्बी-चौड़ी दुनिया दीख रही है, इसके निर्माण में कुछ उद्देश्य अवश्य होना चाहिए। आप ध्यान रखकर सुने और स्मरण रखे कि इस ससार की रचना 'परमात्मा बनाने' के लिए है। साख्य-दर्शन के पहले श्लोक में आत्यंतिक सुख-प्राप्ति पर प्रकाश डाला गया है। मनुष्य की सार्वकालिक, सच्ची शाति पर संतो ने, धर्मो ने जोर दिया है—यह शाति क्या यू ही मिल जाएगी। आज सड़क पर मनुष्य का जो चोला भटक रहा है, उसे मिल जाएगी। नही। उस चोले और मनुष्य मे पर्याप्त परिवर्तन करना पड़ेगा। ईसोपनिषद् का श्लोक है ' ॐ पूर्णमद पूर्णमिद पूर्णात् पूर्ण मुदच्यते। आदि। इसी पूर्णत्व की प्राप्ति है का सौभाग्य मनुष्य को मिला है। मनुष्य को यदि सबसे बडा गौरव प्राप्त तो वह है—उसका ईश्वरत्व ! जिस प्रकार वट मे वट और उसके प्रत्येक बीज मे एक-एक वट छिपा है, उसी प्रकार प्रत्येक मनुष्य मे एक-एक परमात्मा का निवास है। वह नाना नाम, रूप और आकार-प्रकारो मे विचरण कर रहा है। भारतीय सस्कृति ने इस महत्त्व पर सदैव जोर दिया है।

वट और बीज के उदाहरण मे पिण्ड में ब्रह्माण्ड और ब्रह्माण्ड मे पिण्ड की परिभाषा स्पष्ट होती है। सारा विश्व ईश्वरमय है । कण-कण में राम रम रहा है। प्रत्येक मनुष्य मे परमात्मा बोल रहा है। परन्तु, उसकी बोली समझने वाले कान हमारे पास नही, किंतु उसे पहचानने वाली आंखे हमारे पास नही।

भाइयो ! 'अप्पा सो परम अप्पा' का सत्य हमे पहचान लेना है। यह उपदेश पठन-पाठन के लिए नहीं दिया गया है। हमारे अपने जीवन मे और लोगो के जीवन मे हम इसे प्रत्यक्ष देखें और दिखाए, इसीलिए इसका महत्त्व है।

भारत संस्कृति का केन्द्र है। उसने घोषणा की कि मनुष्य परमात्मा है। सारे ससार में यह वाणी फैली। और अन्य धर्म व्यवस्थाएं तथा सस्कृतियां इस पर विचार करने को बाध्य हुई। बहुत सोच-विचार के बाद उन्होंने अपने-अपने धर्म-ग्रन्थो मे आवश्यक परिवर्तन किए। लेकिन, भारत के सिवा किसी ने नही कहा कि ईश्वर स्वय मनुष्य है। यह मनुष्य ईश्वर से, ईश्वरत्व से दूर नही है। जितने सत्य हैं सबका एकमात्र उद्देश्य है और वह है—मनुष्य मे उसके परमात्म्य-रूप की प्रतिष्ठा करना।

इसीलिए भाइयो और बहनो, यह विश्वास रखिए कि परमात्मा तुम्हारे अपने रूप मे जी रहा है, इसलिए वह परमात्मा है। तुम इस रूप की रक्षा करो। इसे विकृत न होने दो। निरन्तर इस ध्येय मे लगे रहो कि हमारा तन, मन, जीवन शुद्ध हो, आत्मा शुद्ध हो और उसे परमात्म-स्वरूप मिले। यदि आपने अपनी आत्मा की स्थिति जागृत कर ली, तो आप परमात्म-रूप को निकट पाएगे।

सभी यही कहते है कि मनुष्य मोह का मोर्चा हटाकर अपनी आत्मा के आइने

को साफ करे, उसमे परमात्मा का अस्तित्व स्पष्ट झलकने लगेगा। लेकिन, कितने है, जो ऐसा करते हैं ?

अतएव मे जोर देकर कहता हू कि इन्सान की सेवा भगवान की सेवा है, प्राणी मात्र को जीवित रहने दो। तभी आपका जीवन सुरक्षित रह सकेगा। क्योकि आपका जीवन दूसरो के जीवन पर आश्रित है। सबको मारकर कोई जीवित नही रह सकता। सबकी सेवा मे आप अपनी सेवा कर रहे है।

अनहित और हिसा हमारी परम्परा नही। ये असुरों और युद्धखोरों की रीतिया है। भारत मे इनके लिए स्थान नहीं । भारत मे जब-जब हिंसा आई वह अहिसा का चोला पहनकर आई, जैसे यज्ञों मे की जाने वाली ये हिसा ! इसे भी बद कर देना होगा। कुछ व्यक्तियों के जीवन मे परिवर्तन आया है और उन्होने समझ लिया है कि लोभ, मद, मोह, मर्यादा, मत्सर, कषाय, परिग्रह को भस्म करना ही सच्चा यज्ञ है। सच्चा यज्ञ तो ज्ञान का है। जिसके विशाल कुंड मे कल्मष भस्म हो जाते है। जिसकी आत्मा ज्ञान से आलोकित है उसका निर्माण, उसका निर्वाण और कल्याण दूर नहीं। यही भारतीय सस्कृति का सार-स्वरूप है।...'' बड़ी देर तक तालिया बजती रही।

सत के उपदेश का मुझ पर बहुत प्रभाव पडा। यही सब कुछ तो मैं कहा चाहता था। संतो ने मेरी विचार-माला को वाणी दी।

लेकिन, ये ब्रह्म और ब्रह्माण्ड की बाते मुझे अच्छी नहीं लगीं। ये सब मिथ्या है। और आत्मा-परमात्मा के बारे मे तो विचार वही हैं, जो मैं उस दिन अन्ना के सामने प्रकट कर चुका हूं।

जब मैंने छद्मवेश छोडकर अपना राजसी वेश पहन लिया और रथ के समीप वहा आया, जहां छन्ना था, तो मैने उसे देखते ही तुरन्त कहा—'छन्दक, मैं भी सन्यासी बनूगा। मैं भी निर्ग्रन्थ-अचेल साधुओं में दीक्षित हूगा।'

'यह क्या कह रहे है ?'

'मैं ठीक कह रहा हूं, अपने मन की बात कह रहा हूं।'

छन्दक का चेहरा उतर गया और कुछ-कुछ पीला पड गया। मेरे मन में विचार उठा, अपने भाषणो में इन संतों ने जो कुछ कहा, उसके लिए विरागी बनना क्यो आवश्यक है ? यह तो गृहस्थ रहकर भी कह सकते थे। और यदि विरागी बने, तो अपने केश और दाढ़ी क्यो मुंडवाए ? अब मेरे लिए आवश्यक हो गया कि मैं इस बारे में छन्दक से कुछ पूछू, अन्यथा यह जिज्ञासा मन मे भटकती रहेगी, और मुझे चैन न लेने देगी—

'सौम्य छन्दक, यह पुरुष कौन है ?'

'देव ! यह प्रव्रजित है।'

'इसका सिर भी मुड़ा है और वस्त्र भी दूसरे लोगों जैसे नहीं हैं ?'

'कुमार, यह संसार छोड़ चुका है, सो सांसारिक वेशभूषा से इसे क्या ?'

'यह प्रव्रज्या क्या चीज है ?'

'देव ! धर्मानुसार आचरण करने के लिए, शाति पाने के लिए, और उसका लाभ दूसरे प्राणियों को देने के लिए, पाप-प्रक्षालन और पुण्य-सचय के लिए यह प्रव्रजित हुआ है।'

'क्या इस ध्येय के लिए इसने गृहस्थाश्रम भी छोड दिया है ?' मुझे याद है मैने छन्ना से यह प्रश्न उस दिन किया था।

'यथार्थ है देव !'

'तो छन्दक ! रथ को वहा ले चलो, जहा यह प्रव्रजित हुआ है।'

'जो आज्ञा युवराज ! परन्तु हम नहीं जानते, यह तपस्वी किस स्थान और किस गुरु से दीक्षा लेकर सन्यस्त हुए है।'

'सौम्य, क्या प्रव्रज्या के पूर्व, गुरु का होना आवश्यक है ?'

'यह तो मैं नही जानता। मै साधारण जीव ऐसे गहन प्रश्नो का उत्तर कैसे दे सकता हू कुमार ! अपराध क्षमा करें।'

'उचित कहते हो छन्दक ! तो किसी प्रकार रथ इन तपस्वियो के आवास तक ले चलो, मैं तुम्हारा उपकार मानूगा।'

'देव, यह क्या कहते हैं ? कोई राजकीय गुप्तचर देख लेगा ! मैं तो कुमार का दास हू, आज्ञा का पालन करूगा। वही मेरा धर्म है ?'

'तब मन में तुम्हारे यह असमजस कैसा ? चलो, बढाओ रथ।'

'जो आज्ञा देव !' छन्दक ने रथ बढा दिया, परन्तु मैने देखा वल्गा-पकडे उसके हाथ कुछ-कुछ काप रहे थे।

सन्यासी से मैंने पूछा—'हे ! आप कौन हैं ? आपके वस्त्र अन्य लोगों जैसे नहीं हैं ! सिर भी मुंड़ा हुआ है। वदन पर तेज भी है ! कहिए, आप कौन हैं ?'

'भद्र, मैं प्रव्रजित हूं। वैरागी हूं। हम वैरागियो की यही वेश-भूषा है। हमे केशो के शृंगार से क्या प्रयोजन ? सुन्दर परिवेश हमारी साधना मे बाधक ही है।'

'ठीक, और आप प्रव्रजित हैं, इसका क्या आशय है ?'

'देव, मै शुभ धर्माचरण के लिए प्रव्रजित हुआ हूं। समस्त प्राणियों पर अनुकम्पा, सब के प्रति क्षमा और अहिंसा हमारा कर्तव्य है।'

उस संन्यासी को हृदय से नमन कर मै रथ पर आरूढ हुआ।

जब मैं अन्तःपुर लौटा तो मेरे मन में नई अशान्ति थी। एक पर एक प्रश्न उठ रहे थे। यशोधरा तो थी नहीं। मैं अपने कक्ष में गया और भित्ति पर टंगे उसके तैल-चित्र की ओर देखकर कहने लगा—'यशोधरे, सुन रही हो, मैंने आज संन्यासी देखा है। बड़ी मधुर कान्ति थी उनके चेहरे पर, अधरों पर विचित्र, विजयिनी मुस्कान थी। मैं तो उस मुस्कान को अपना सर्वस्व समर्पित कर चुका हूं। अब मैं भी युवराज्ञि, सिर-दाढ़ी मुंड़वाऊंगा, काषाय पहनकर घर से बेघर होऊंगा ! मैं प्रव्रजित

होऊगा। मैं लोक की शाति और जन-जन के सुख के लिए अपने सर्वस्व का परित्याग करूगा।. अब अपनी इन रसवती आखो से मेरी ओर न देखो, यशोधरे ! अपने इन होठों की मादकता से मुझे बेसुध करने का तुम्हारा यत्न वृथा जाएगा देववाला। मे तुम्हे भी छोड दूगा।...कह चुका न, मे अवश्य प्रव्रजित होऊंगा।'

उस रात मुझे नींद नहीं आई।

23

शैवालिका देवदह से लौटी थी। वहा के समाचार लाई थी। देवी के बिना मेरा जी न लगता था। यशोधरा में एक अनोखा तेज है। उसका व्यक्तित्व अत्यन्त प्रभावशाली है। पिछले दिनो वह यहा होती तो मुझे सहारा ही मिलता। चैन ही मिलता।

शैवालिका ने बताया-

''कुमार, मै अभी ही देवदह से आ रही हू। अरे बाप रे, क्या हैं वहा के लोग। कुमार बुरा न मानना, सच कहती हू, ऐसे लडाकू लोग मैने अपने जीवन मे कहीं नही देखे ' और स्त्रिया ऐसी नखराली कि वा...वाह '...देवी की दोनों बहने भी वही थी। और उनके तीन दर्जन बच्चे ! हाय राम, ऐसे अगिया-बैताल-छोकरे मैने कही नहीं देखे ! अपने-जने होते, तो मुह मे अगारे भर देती। देवी को पल-भर भी चैन से नहीं सोने दिया '

'मौसी, मौसी' चीखते रहते और बहनें भी हरदम छाती पर छाई रहतीं—'तुम्हारे वे कैसे है ? तुम्हारे वे कैसे है ?'...यह अच्छा हुआ कि उरुवेला से सुजाता भी देवदह आ गयी थी। अपनी सहेली की इस मगल-घडी में वह पास रहना चाहती थी। देवी तो निरतर आपके ध्यान में मग्न रहती हैं। मुख पीला पड गया है। अधर कुछ कृष्ण हो चले हैं, फिर भी एक अनोखा स्वरूप निखरा है इन दिनो देवी मे। जिस प्रकार शनै -शनैः दूज का चन्द्रमा बढता है, उस प्रकार धीरे-धीरे कुलवधू का कटिप्रदेश बढ रहा है।...मुझे तो पूरा विश्वास है कुमार, देवी की कोख से राजकुमार का जन्म होगा। ओह, कितना मंगलमय होगा वह पल मेरे लिए। मेरा अनुमान है, अब तो वहा से साझ-सुबह मे संवाद आता ही होगा। इस बार मै पूरा-पूरा पारितोषिक लूंगी, पहले से कहे देती हूं। रोहिणी के तट पर, वह जो भवन खाली पड़ा है, मुझे बड़ा अच्छा लगता है।'

'वह तो तुम अब भी ले सकती हो।'—मैने शैवाली से कहा। वह बारंबार मेरी बलैया लेती चली गई।

दो पल बाद शैवालिका पुनः दौडती हुई लौटी। इस बार उसके साथ छन्दक और अन्य अनुचर भी थे। उनमें कुछ अपरिचित चेहरे नजर आए, मैं समझ गया

कि देवदह से कोई खबर आई है। शेवालिका आगे-आगे थी। उसने दूर से ही कहा—'कुमार की जय हो। धन्य भाग्य हैं हमारे, देवी यशोधरा ने अभी ब्रह्म-मुहूर्त मे राजकुमार को जन्म दिया है। देवी और शिशु दोनो स्वस्थ हैं, सकुशल हैं।'

'छन्दक, पारिजात से किसी महिला को भेजकर, हमारी ओर से देवी की कुशल पूछने का प्रबन्ध हो।'

'जो आज्ञा युवराज !'

मुझे आनन्द तो न हुआ , पर जाने कैसी एक पुलक से मन-प्राण भर गए। मन मे ध्वनित होता था, अपनी ही एक लघुतम प्रतिच्छवि जैसे अवतरित हुई है। इस मूर्ति मे देवी ने अपना सपना प्रत्यक्ष पाया है।

मैने एक नये दायित्व का अनुभव किया। छन्दक पास मे ही खडा था, मैंने कहा—"तुम तो प्रसन्न हो, परन्तु यह राहु का जन्म है। यह नया बन्धन जन्मा है।"

उसी दिन, सध्या-समय शैवालिका ने मुझे बताया कि दोपहर मे जब छन्दक महाराज की सेवा मे उपस्थित था, उससे पूछा था शाक्येन्द्र ने—'कहो भी, हमारे सिद्धार्थ ने क्या कहा, देवी यशोधरा के इस उपहार को पाकर ?'

'देव ! युवराज बोले, यह राहु पैदा हुआ है। यह नया बन्धन आया है।'

'भोला है कुमार ! सच, छन्दक हमारा सिद्धार्थ अभी बालक है। उसने दुनिया नही देखी। यह तो यशोधरा है जो उसे जीवन यात्रा में अपने साथ ला सकी। वरना, तुम तो जानते थे, कितना द्रोह था कुमार के मन मे ! तो यो बोला सिद्धार्थ, राहु पैदा हुआ है ! हा जी, देखना है अब, हमारा बेटा इस नए बन्धन को कैसे अस्वीकार करता है ? सन्तान का मोह बहुत प्रबल होता है। और छन्दक, क्या राय है तुम्हारी इस शिशु का नाम 'राहुल' ही क्यो न रखा जाए।'

'भगवन्, देवी यशोधरा क्या इसे पसन्द करेंगी ?'

'हा छन्ना, उसकी पसन्द पहली और आखिरी पसन्द होगी। खैर, पूरे साम्राज्य मे समारोह मनाया जाए, वन्धुमान् से मैं कहूंगा।'

इस प्रकार राहुल का नाम रखा गया। दो मास पश्चात् यशोधरा अपना यह फूल लिये कपिवस्तु आई। उसकी देह कुछ दुर्बल प्रतीत होती थी। मैंने जब कहा तो हंसकर टाल गई। वास्तव मे, वह अपने शिशु में भूली थी। अभी उसकी उम्र ही क्या थी ! उसे नया एक खिलौना मिल गया था। अब सेविकाओं पर गुस्सा भी कम करती थी और मुझसे बात-बात मे रुष्ट नहीं होती थी।

दिन बीतने लगे। राहुल ज्यो-ज्यों बढता था, देवी की प्रसन्नता बढती जाती थी। उसका मन राहुल मे खोया था। मेरा मन संन्यासी के वचनों में लगा था। पिताजी मुझे राजपाट सौंपकर वानप्रस्थ ग्रहण करना चाहते थे। और इस विषयक समाचार सुन-सुनकर यशोधरा के मन में एक नवीन उत्साह का संचारण हो रहा था। सम्भव है, उसकी कल्पना हो, मै अब साम्राज्ञी बनूगी। मेरा बेटा युवराज बनेगा। चांद-सी दुल्हन लाएगे

हम अपने राहुल के लिए—और जाने क्या-क्या वह सोचा करती, कहा करती, परन्तु कितनी भोली थी। यह भी भूली हुई थी कि राहुल तो अभी छ महीने का भी नही हुआ है।

एक दिन अवसर देख मैंने यशोधरा से कह दिया—'मैं प्रव्रजित होना चाहता हूं।'

उस पर तो जैसे गाज गिरी। मेरा मुंह जोहती स्तब्ध खडी रह गई। ओठ खुले रह गए, पर कुछ कह न सकी। आखे मुझे चीन्हती रह गई। उसने गोद से शिशु को झूले मे लिटा दिया और अपनी सेज पर अधलेटी, तकिए मे मुंह छिपाकर रोने लगी।

मैंने देवी को बहुतेरा समझाया। मैंने यह भी कहा कि यह तो मेरा विचार मात्र है, किन्तु उसने एक न सुनी। उसने तकिए से मुह बाहर तक न निकाला। वह तो जैसे किसी तपी का तप भग करने वाली, शापहता अप्सरा-सी लग रही थी। मुझे छोडना नही चाहती थी और अपनी चिन्ता उसे इतनी थी कि, मेरी सुनना भी नही चाहती थी। इन राजपुत्रियो की यही रीति है। अपने वैभव और यौवन मद की खुमारी मे ये इस कदर बहकी-बहकी रहती हैं कि इन्हें सिर्फ वही सूझता है, जो ये देखना चाहती हैं। जब-जब मैं इस वर्ग का जनून देखता हूं, मेरा मन उसको विनष्ट कर देने के लिए आकुल हो उठता है।

राहुल बढ़ रहा था। मेरे प्रति देवी का रोष बढ़ रहा था। संसार के प्रति मेरा विराग बढ रहा था। दिन के पीछे दिन बढ रहे थे।

जिस दिन मैंने यशोधरा से पहली बार प्रव्रज्या की बात चलाई थी, उसी दिन वह परम भट्टारक के प्रासाद मे दौडी गई थी। प्रजा मा की गोद मे रो-रोकर अपनी कष्ट-कथा और मेरी शिकायते उसने रख दी थी। फिर महाराज से भी उसने बहुत कुछ कहा। परिणाम में इस राज-परिवार ने मेरे चारों ओर बन्धनो की बाड लगा दी। मुझे यह न मालूम था कि प्रस्तुत अनुचरो मे से कौन मेरा सेवक है और कौन राजकीय गुप्तचर। इस मोहपाश के नव-नवीन अनुभवों से मेरा जी क्षुब्ध हुआ। एकान्त मे ही मुझे चैन मिलने लगा। अपने अध्ययन, मनन और चिन्तन मे ही मैं डूबा रहता।

अब मैने खुलेआम सन्यासियों की सगति मे जाना शुरू कर दिया। आज पावा, कल कुसीनारा और वैशाली। यों मैं संतो और दार्शनिको के पीछे-पीछे दौडने लगा।

जितना जान रहा था, उतना जान लेने का नशा बढ़ता जा रहा था। रत्नाकर की तरंगों के समान प्रतिपल, प्रतिदिन चिर-नूतन अनुभव मिल रहे थे। मुझे लगता था, आज तक मेरा जीवन यो ही व्यर्थ बहा—बहा। मैंने जो दिवस हेमन्त, ग्रीष्म और वर्षा-प्रासादो मे काम-कुमारियो की क्रीड़ा-केलि के बीच खोए थे, उनके लिए अन्तर में अतीव पश्चात्ताप था।

मैं यह नहीं कहता कि भोग आवश्यक नही किन्तु भोग ही सब कुछ नही है भोग के सरोवर में हमें सरोजवत् रहना चाहिए भोग के पश्चात् मानव मन की

जो अवस्था होती है, वैसी यदि सदैव बनी रहे तो अच्छा ही है। उसी प्रकार रोग के समय और योग के पूर्व की दशाएं अग्राह्य तो नहीं।

रात मे यशोधरा सोई रहती और मैं वेश बदलकर, महल से निकल पड़ता। मैंने इन दिनों जनता की स्थिति का अध्ययन किया। एक ओर सुख-सुविधा के समग्र साधन, दूसरी ओर भूख और दारिद्र्य। पारिजात मे यशोधरा के पालतू मृग और श्वान सोने के पिंजरों मे रहते थे, इधर नगर के बाहर मैंने मनुष्य के बेटे को पशुओ से भी अधिक दुर्दशा मे जीते देखा। श्रम और घोर श्रम से, शूद्र कहलाने वाला, यह वर्ग पशु बन गया था। समाज की रचना और विधान जिनके हाथ मे थे, उन सर्वहारियो ने सर्वस्व का अपहरण कर लिया था और स्वरचित शास्त्रों के काले पन्ने दिखलाकर इन्हे इस भय से अभिभूत कर दिया था कि यदि ये अपने वर्ण के अनुरूप कार्य न करेगे तो नरक मे जाएगे। इनके कल्याण का एक ही मार्ग है--सेवा। और इस हत्यारिनी सेवा की नागिन ने इन निम्नवर्गीय लोगो को पूरी तरह डस लिया था।

मैंने इनके घरों मे भूख से तडपते शिशुओं को देखा—ठीक राहुल-जैसे शिशु। उससे भी अधिक सुन्दर और सलोने। क्योंकि राहुल की आंखो में तो उसकी अम्मा-द्वारा पिए गए वारुणी के असख्य प्यालों की खुमारी थी। उस राहुल के पूर्वजो की खूनी आदतो की रेखाएं थी। लेकिन...मै कहता हूं, इन भोले अनाथ बच्चों में अधिक सारल्य था। ये वे बच्चे थे, जिनके पिता का पता नही था। इनमे से अनेक कुमारी माओ के परित्यक्त बेटे थे। ये वे राजकुमार थे, जिनकी जनेताए, उन्हे घूरों के ढेरो पर छोडकर, अंधेरे मुंह किसी अज्ञात दिशा में चली गई थीं।..फिर भी ये राजकुमार तो थे ही। कुटिया हो या महल, हरेक मां को अपना बेटा राजकुमार है। और मैंने देखा—नब्बे से अधिक वर्ष के वृद्धो और वृद्धाओं को चिलचिलाती धूप में काम करते, पशु चराते, हल चलाते और बोझा ढोते। और मैं सोचता रहता, जिस देश मे यह दशा है, वह अवश्य एक दिन परतत्र होगा, अवश्य वह रसातल को जाएगा। यदि उद्धार का कोई क्रान्तिकारी मार्ग न पाया गया, अपनाया गया तो सबकी गुलामी और सबकी दासता अनिवार्य है।

जब मैं ऐसे किसी आदमी को कर्मरत देखता, तो मेरा मन करुणा से हाहाकार कर उठता और मै उसकी तल्लीनता मे उस मुक्ति को साकार देखता, जिसका गुणगान करते हमारे साधको का मुंह आज तक न थका।

मैं दौडकर, बोझा ढोती वृद्धा को सहारा देता, उसकी गठरी-पूरी स्वयं उठाकर ले चलता। मैंने शीत में ठिठुरते बच्चो के साथ काम किया है, वे इधर-उधर सूखी लकड़ियां खोजते रहते। मै उन्हें ईधन बीनने मे मदद देता और उनकी कुटियो में उनके परिवार को आग से तापते देख मेरा मन हर्ष-विभोर हो जाता। अक्सर मैं महल से खाद्य-सामग्री छिपाकर उन तक ले जाता। 'भोजन करते हुए उन भूखो की तस्वीर' अब भी मेरे मन पर अंकित है।

परन्तु मै क्या क्या करता   व्यक्ति के लिए क्या होगा ? मैने इस अनुभव से यह निदान पाया कि जब तक सामाजिक व्यवस्था मे आमूल परिवर्तन नहीं होगा, तब तक जन-जन कल्याण की बातें, कोरी बाते और कोरी कहानिया बनकर रह जाएगी। प्रचार जितना है, काम उतना नही है। जनता को खुलकर धोखा दिया जा रहा है—'हमने तुम्हारे लिए ऐसी-ऐसी योजनाए बनाई है. यह किया है, वह किया है, ।' किन्तु कुछ किया होता तो वह सब न होता, जो नजर आ रहा है। और जो नजर आ रहा है वह अत्यत भयकर और कुत्सित है। वह इस समाज को या तो तलातल मे ले जाएगा या उछाल देगा। हो सकता है, एक, दो, दस सदिया गुजरें, मनुष्य नीद लेता रहे, परन्तु रात स्वय इस बात की गवाही दे रही है कि भोर का उदय होगा। इसलिए मेरा मन मुझे कहता रहा कि राष्ट्रो के जीवन में दो, पाच, पच्चीस शताब्दियों की कोई गिनती नही। समाज के स्वामि जिस ऐश्वर्य का सग्रह कर रहे हैं वही उनके विनाश का अग्रदूत बनेगा। जिस धन-कचन को लेकर ये श्रेष्ठीजन अर्थ-पिशाच बन गए है, उसी अर्थ के आधार पर क्रान्ति होगी और वह सबको सबमे बराबर बाट देगी।

मैने पिछली भेट पर बन्धुमान् से कहा था कि, काम उनसे भी लो, काम उनको भी दो जो बेकार हैं। तो वह हस पडा था—'यदि कुमार, तुम्हारे बतलाए मार्ग पर हम चले, तो बस, राजकोष में कानी कौडी न रहे। अरे भोले तरुण, ये शूद्र श्रमिक बेकाम, न रहेंगे, तो ये सेवा-कार्य छोड देगे। और परिणाम यह निकलेगा कि राजकुमारियों को चूल्हा फूकना पडेगा। इसलिए हम इन्हें इतना ही देते हैं, जितने से ये भूख से न मर जाए और इनके पास कुछ बच भी न रहे। यदि बच रहेगा, तो दूसरे दिवस पर ये काम पर न लौटेगे। हम चाहते है कि श्रमिक की सन्तान श्रमिक बनी रहे। और ये अभागे बच्चे भी इतने पैदा करते हैं कि इनके घरो मे भूख की भूमिका सदैव उपस्थित रहती है।'

'बन्धुमान् जी, हरेक बच्चा दो हाथ लेकर आता है, यदि आप उसे काम न दे सकते हैं, तो यह किसका अपराध है ? यदि सब लोग मिलकर काम करें और सबको बराबर काम मिले, तो सब लोग काम मे लग जाएंगे और काम का भार भी हल्का हो जाएगा।'

बन्धुमान् के जाने पर मै पर्याप्त काल तक श्रम, श्रमिक और पारिश्रमिक की समस्या पर विचार करता रहा। मुझे प्रतीति हो गई कि ससार मे श्रमिक सबसे ईमानदार है। अपराधी है वह, जो श्रम नहीं करता है; जो श्रम करता है, वही श्रमण है।

अब तक वैराग्य लेने का मेरा निश्चय दृढ़तर हो गया था। राहुल की वर्षगाठ आ गई थी और महलो में उसके लिए भारी तैयारिया की जा रही थी। यशोधरा दिन-रात व्यस्त रहती थी। यशोधरा की यह व्यस्तता देख मुझे अपनी मां की याद आ जाती थी। काश, आज वह होती, तो देवी की तरह मेरे जन्म दिवस पर पुलकित हो, इस

कक्ष से उस कक्ष तक फिरती रहती।

राहुल की वर्षगाठ के दिन जो समारोह मनाया गया था, उसमे कृशा गौतमी भी आई थी। अभी उसका विवाह नही हुआ था। महल के छज्जे पर वह खडी थी। उधर से जुलूस निकला। मैंने गौतमी की ओर देखा। अपनी सहेलियो के बीच वह भाल की बिन्दु-ज्यों परिलक्षित हो रही थी। मुझे देखते ही बोली—

'धन्य है वह मां जिसने इसे जना है। जो इसका पिता है, निर्वाण उसका हे। धन्य है वह कामिनी, जिसका यह कत है। निर्वाण उसका है, इस देव पुत्र का जो अपना जन है।'

सुनकर मैने उसके शब्दो पर मनन किया—यह निर्वाण के पथ की ओर सकेत कर रही है। मैं इसका आभारी हू। इसे तो गुरु-दक्षिणा देनी चाहिए। और इस विचार के आते ही मैने अपना हीरक-हार उसकी ओर फेंक दिया। उसने झेलकर अपनी छाती से लगाया और उल्लास के अतिरेक मे आखें मूंद लीं।

इस घटना के बाद कोई दो दिन बीते होगे, पारिजात की चर्चा नगर मे घर-घर फेली है। यहां तक तो, खैर कोई बात नही थी, पर मैने सुना, एक सेवक के मुह से—कृशा गौतमी कहती थी, राजकुमार सिद्धार्थ मेरे प्रेम में पड गए है। मुझ पर मोहित है। तभी न, मुझे वह उपहार दिया।

विचित्र है नारी का हृदय। अद्‌भुत है नारी का चरित्र।

24

हृदय की व्यथा का गीत गाने के लिए जब जीवन किसी गायक को नही पाता, तो वह अपने मस्तिष्क के अभिभाषक-रूप मे दार्शनिक की सृष्टि करता है। लेकिन दार्शनिक सदैव सत्य कहने का हामी रहा है। वह सदा अपने समय से आगे रहता है इसलिए उसे अपने कटु सत्य के प्रतिफल की चिन्ता नही और सत्य तो ऐसी चीज है, जो ज्ञेय है परन्तु अकथ्य है, उसकी चर्चा हमेशा तो नही हो सकती। कोरे सत्य को खोजने के लिए एक अन्वेषक की आवश्यकता पडती है। उसकी चर्चा के लिए दूसरे संत का होना जरूरी है और उसे जानने के लिए तीसरे एक साधक की सम्पूर्ण साधना चाहिए।

इन दिनो मेरे मन मे निरन्तर यह पुकार उठती : जानो, जानो, जानो, ! यदि तुम अपने को जानना चाहते हो तो जगत् को पहचानो, जानो। जगत् के इस विराट रूप मे अपने व्यक्तित्व का विसर्जन कर दो। .

मैं सोचा करता, मै यात्री हू, जिसके सम्मुख अन्तरहित मंजिल है। प्रतिदिन मै अपने अन्तर मे नए और अपरिचित लोको को पा रहा हूं। और इन समस्त लोको के अमित आनन्द का उपभोग करने के लिए, मुझे प्राप्त का त्याग कर देना होगा,

क्योकि मै इस जगत् का पूण और अखण्ड भोग करना चाहता हू युवराजत्व का यह ढोंग छोड़ना पड़ेगा। सच्चा राजकुमार तो वही है, जिसका सिंहासन लोक-हृदय में है।

मैं विश्व के उस वैभव को, जो पहले केवल राजपुत्रो-द्वारा उपभुक्त था, जन-जन को सुलभ कर देना चाहता हू, ताकि लोक मे यह कहावत चल जाए कि सिद्धाथ के श्रम से विश्व का वभव सर्वहाराओ की सेवा मे अपना सम्मान समझने लगा है।

तब मन मे एक मांग उठती—यशोधरा का क्या होगा ? उसे कैसे छोड़ोगे ? मै कहता—'सीधा उपाय है, जिनके साथ बैठकर तुम हसे-खिलखिलाए हो, उनको भूलना सरल है। परन्तु उन्हे नहीं भुलाया जा सकता, जिनके गले मे बाह डालकर तुम रोए हो। इसलिए, यशोधरा तो मात्र सुख की सगिनी है। जो दुःख के सगी हैं, उनका दुःख दूर करने का सकल्प अधिक आवश्यक है। मेरे मानस मे यह भाव भी नही है कि मै अपने ही माता-पिता से घृणा करता हूं। और मुझे कीर्ति की चाह हो। परन्तु चूकि मुझे सत्य और साम्य की लगन है, निश्चय कर चुका हू कि मै बुद्ध होऊंगा। चाहता हू कि मुझसे कोई भीति न रखे और न मै किसी से भयभीत होऊ। अपनी मैत्री-भावनावश मै जड-चेतन, पशु और मनुष्य सब पर विश्वास करता हू और इस विश्वास-भावना का अवलम्बन लिये मैं वनो मे अकेला विचरना चाहता हू।

और यह जरा, और यह व्याधि, और यह मरण, मै मनुष्य को इनसे मुक्त करूगा। उसे इनका निदान दूंगा।

निदान अवश्य कहीं होना चाहिए। यह असम्भव है कि निदान न हो। मै खोजकर वह मार्ग पाऊंगा, जिस प्रकार दुःख है, उस प्रकार अवश्य ही शाश्वत सुख भी है। इसी भाति जीवन यदि है तो मुक्ति भी अवश्य है। अग्नि है, तो शीत भी है। पाप है, तो पुण्य भी है। यह सत्य है कि जन्म है, तो 'जो जन्म नही है' उसकी खोज होनी चाहिए। गोबर से लथपथ व्यक्ति यदि पास के पोखर मे अपना मैल नही छुडाता और पोखर के किनारे बैठा उसे कोसता है, तो इस जड़-मूर्ख को क्या कहेंगे ? इसी भांति यदि मैं निर्वाण के सरोवर में अपने पापों का प्रक्षालन न करू, तो अपराध मेरा ही है। वैद्य सुलभ होने पर भी, व्याधि को जो बढ़ने दे, उस मरणपथी का नाश निश्चित है। और मैं वासना की ज्वाला में जलता रहूं और ऐसे गुरु की खोज न करूं, जो अपने उपदेश-उपचार-द्वारा मेरी पीडा दूर कर दे। तो कसूर गुरु का नही है।

मेरा मस्तिष्क इस विचार से घिरा रहता—जिस भाति कोई व्यक्ति अपनी ग्रीवा से बंधे मुर्दे से घृणा करता है, और किसी-न-किसी प्रकार उससे छुटकारा पाना चाहता है, और मुक्त होकर प्रसन्न-मन विचरता है, उसी भांति मैं इस देह के भार से, जगत् के इस ताप-सताप से प्रमुक्त हो विचरण करना चाहता हूं। समुद्र के तट पर नारिकेल-कुजो में थका-हारा पंथी जिस प्रकार श्री फल का जल पीकर छिलका फेंक

देता है उस प्रकार मुझे अपने मोह का परित्याग करना होगा तट पर पहुचते यदि जलयान टूट जाए, उसमे छेद हो जाएं, उसके पाल-पतवार खंडित हो जाएं, तो यात्री उसे छोड कर चले जाते हैं, उसकी तनिक भी चिन्ता नहीं करते उसी प्रकार मै नौ छिद्र वाली इस देही का मोह तजना चाहूगा, उस मुसाफिर की तरह, जो वन-पथ पर डाकुओं से घिर जाने पर, अपनी धन-राशि वही छोड़कर, पलायन कर जाता है, वैसे ही मै देह की सीमा से दूर रहना चाहता हू। क्योंकि ऐसा न हो कि इसका मोह मुझे महंगा पड़े और गांठ की साख भी जाती रहे।

मझरात साय-साय कर रही थी। मेरी नींद उचट गई। मै अपने पर्यक पर पद्मासन मे बैठ गया। नित्य की परिपाटी के अनुसार नर्तकियां रागरग के अनन्तर जहां-तहा ऊघ चली थीं। मुझे सोता जान, उन्होने अपना नर्त्तन बद कर दिया था। सुजाता के नृत्य-दिवस के समान ही आज भी मैने नर्तकियों और अन्य सुन्दरियो को बिखरे परिवेश मे देखा। जुगुप्सा और घृणा से मेरा मन उद्विग्न हो गया। ऐसा प्रतीत हुआ मानो मैं जीवित मानवों के मसान मे बैठा हू। ये जो स्त्रियां कुछ ही समय पहले अनेक भाति के हाव-भावो और भंगिमाओ से दर्शकों को रिझा रही थी और ऐसी प्रतीत होती थीं मानो ये साक्षात् देवांगनाए हैं, परन्तु वह प्रतीति मात्र एक आडम्बर, एक माया-जाल, एक आभास था। इनका सही स्वरूप तो इस समय प्रकट हो रहा है। निद्रा तो एक छोटी-बडी मृत्यु ही है। इन वारांगनाओ की दशा देखकर, मुझे यह अनुभव हुआ कि वास्तव मे मृत्यु के उपरान्त मनुष्य किस अवस्था मे पडा रहता है। और रूप-सौन्दर्य तो अब मुझे भुलावा नही दे सकता। इन मोहिनियो का वह मादक सम्मोहन कहां गया ? कितनी विकृति गति है इनकी ? केशो से बधी नकली चोटियां बिखर गई हैं और लम्बे केश दिखलाने का जाल अपना रहस्य खो बैठा है। मुह से बहते लार ने कपोलो का गुलाबी रग धो दिया है। तो वह आभा एक धोखा थी। मनुष्य ऐसे स्वांग क्यों भरता है ? वह तो अपनी स्वाभाविक दशा मे ही अधिक सुन्दर है। और उन्नत उरोजों की यह स्थिति ! मृगजल से तृषा तृप्त न होगी।...न होगी। यह सब दुःखमय है, क्षणभगुर है, नश्वर है।...

इस विचार-वीथि पर भटकता हुआ मैं अपने कक्ष से बाहर चला। देवी की सेज के समीप गुजरा कि वह स्वप्न में कुछ बड़बड़ाती है, ऐसा मुझे भास हुआ। लौटकर मैं उसकी सेज के निकट रुका। नीद मे घबराई-सी अस्पष्ट कुछ कह रही थी। उसके सुहावने मुखमण्डल पर भय की रेखाएं झलक रही थी।

मैंने अत्यन्त स्नेहपूर्वक उसकी ग्रीवा के नीचे अपनी भुजा का प्रश्रय दिया और पास में लेटकर उसकी देह सहलाने लगा। मैने धीमे-से पूछा—'रानी क्या बात है ? क्यो घबरा रही हो ?'

'सिद्धार्थ, सिद्धार्थ !'

'मैं यह तुम्हारे पास हूं। यशोधरे, सपना देख रही हो ?'

उसने आंखे खोल दीं और दो पल एकटक मेरी ओर देखती रही, फिर हौले

से मुस्कराइ   दु स्वप्न देखा है

'सपने सच नहीं हाते।'

'कभी-कभी सच हो जाते हैं।'

'अच्छा, मुझे वताओ, क्या सपना देखा है ?'

उसने उठकर दो घूट जल पीया। फिर मेरी गोद में सिर रखकर लेट गई। उसकी अलक-झलक से मदिर गध उट रही थी। मैने कहा—'कहो।'

उसने अपने हाथ मे मेरा हाथ कसकर थाम लिया। अव भी उसकी हथेली मे प्रकम्पन था। कहने लगी—'प्रिय ! मैंने देखा कि आकाश से कई देवगण उतर रहे हे। उनमे से कुछ पारिजात के छत पर उतरे, और उन्होंने युवराज की ध्वज-पताका उतार दी...कुलदेव रक्षा करे . ओर उस पताका के स्थान पर एक नई पताका फहरा दी। इस पताका का वस्त्र बडा सुन्दर था और रग भी लुभावना था। मोतियों की किनारी उस पर जडी थी। उन मोतियों से अद्वितीय प्रकाश-किरणे फूट रही थी। कुछ देर पर, मैने देखा कि मोतियों से छूटती ये किरणें मुखरित हो गई और गम्भीर शब्द-स्वर बन गई। इस स्वर-माला को सुनकर जगती के लाख-लाख प्राणी उल्लसित हो उठे। और दूर-दूर से श्रोता आने लगे।

इसके उपरान्त, पूर्व दिशा से वेगवन्त प्रभजन आया और अब तो पताका चारो दिशाओ मे फहराने लगी। उससे स्रवित सुरों को मानव-जाति ने सुना और नभोमण्डल-से पुष्पवृष्टि होने लगी। ऐसे फूल मैने आज तक नही देखे ! ऐसे स्वर मैने आज तक नही सुने। उस पताका से जो वाणी गूंजी, उसमें से मुझे इतना स्मरण रहा—'समय आ गया है। समय आ गया है।'

इस नादान तरुणी की वार्ता और इसकी स्वप्न-भंगिमा देखकर, मेरा अन्तर अमित रसानन्द से छलाछल भर गया। बोला—'यह तो अच्छा स्वप्न है। इसमें डरने की कोई बात नही।'

'किन्तु, देव, आपने स्वप्न का शेष भाग तो सुना ही नही, मैने देखा कि लोगो के कोलाहल से मेरी नींद उचट गई है और देखती हू कि आप मेरे पास नहीं है। अपनी सेज पर अकेली हू। सिद्धार्थ, सिद्धार्थ पुकारना चाहती हूं पर कण्ठ अवरुद्ध हो गया है। मै बहुत डर गई।'

'अब तो डर नही लगता ?'

'आप जो पास है।'

'परन्तु तुम्हारा मुख अब भी म्लान है। भय अब भी छाया है।'

'जी, मुझे स्वप्न का अकेलापन अब भी डरा रहा है। 'समय आ गया है' मेरे कानों मे गूंज रहा है। नाथ, सच कहिए आप मुझे छोड़कर चले तो न जाएंगे ?'

'पगली हो। तभी तो मै कहता हू, अभी तुम्हारा बचपन नहीं गया। याद है बालापन मे तुम्हें उस दिन'...

'आप तो बस !' उसने हथेली से मुंह छिपा लिया किन्तु उंगलियों के छिद्र

से मुझे देखती रही। अब भी स्मरण है, उसे गुदगुदाकर मै बाहर खुले मे आ गय था।

वह भी मेरे पीछे आई थी। अपना अर्द्धभाग मेरी पीठ पर रखे, खडी हो गई। मैं जान गया, उसका भय नि:शेष नहीं हुआ है। कहा—'देवी, शान्त हो, तुम्हारा स्वप्न भ्रम है। और यदि भावी का सकेत भी हुआ, तो क्या भय है ? मै राजमहलों मे अधिक दिन नही रहूगा, यह तो निश्चित है। सम्भव है, लोक को मेरी आवश्यकता हो। शायद देवो का आसन चलित हुआ हो, शायद अखिल जगत् मेरी प्रतीक्षा कर रहा हो। अवनी-अबर अपनी भुजाओ मे समेट लेने के लिए प्रतीक्ष्मान हो। सम्भव हे, मेरे विराग से तुम्हे और परिवार को असुविधा हो, परन्तु यह स्मरण रखो देववाला, उससे मेरा, तुम्हारा और जगत् का मंगल श्रेय ही होगा। विगत कई वर्षो से मै दु:ख से मुक्ति पाने का मार्ग ढूढ रहा हू। कितने दिनों से समस्त संसार के लिए सुख का अमृत खोज लाने के लिए ललक रहा हू। यदि मैं इस सिद्धि को पा सका, तो यह निखिल जगती के लिए होगी। इस दृष्टि से, बहुजन-हित के हेतु हम दो प्राणियो को यदि कुछ दिन कष्ट भी देखना पड़े, तो मैं तो उसका स्वागत करूंगा।'

'मै भी करूंगी। मैं आपदाओं से नही डरती। तुमसे दूर भी नही रह सकती। तुम रहो, फिर चाहे जो रहे, चाहे जो आए, सब सहूगी।'

'तुम्हारी वाणी आर्य-नारी की शोभा है। रानी, मैने भोग का अतिक्रमण किया, मैंने राग की सीमाओ को पीछे छोड़ दिया। हमारे पारिजात के वैभव-विलास के लिए इन्द्र और शची भी तरसने लगे।...परन्तु यशोधरे सच कहूगा, कहने पर तुम बुरा मान जाओगी। परन्तु हम उच्च-जन्मा लोगो के इस सुख से क्या सारा ससार सुखी समझा जा सकता है ? व्यक्तियों के निजी सुख-दुःख का कोई मूल्य नहीं, जब तक वह सुख-दु:ख सारे समाज की अपनी समस्या नहीं बन जाता। मैं सामाजिक सुख को लाना चाहता हू।

'अपनी इस खोज मे मुझे भी साथ ले चलिए नाथ।'

'नही, कठिन तपस्याओ मे झुलसना होगा। तुम वह सब सहन न कर सकोगी।'

'लेकिन यह कैसे हो सकता है कि आप तप-ताप में तपें और मै इधर बैठी शीत-प्रासाद मे हिलोरें लूं ? क्या आपको मुझसे प्रेम नहीं ? क्या आपको मेरा साथ नही सुहाता ?'

'यशोधरे, क्या कहती हो ! तुमसे मोह है, तभी तो तुम्हें भावी संगर मे साथ ले जाना नहीं चाहता। मैं अकेला उस कष्ट को सह लूंगा और तुम यहां बैठी, मेरे मंगल की कामना करना। मै सिद्धि लेकर जल्द ही लौट आऊगा, यश !'

'नहीं, नही, नही !'

'खैर। वह दिन दूर है। चलो, तुम्हे सुला दू।'

मै चला न जाऊं, यह सोच, वह मेरा हाथ धरे रही और मैं उसे आश्वासन देता रहा। वह लेट गई। धीमे-धीमे नींद की परी उसकी पलको पर उतर आई और

उसक मुह के बोल अस्पष्ट होते गए वह फिर स सो गइ मेन उसके पेरो से फिसला अन्तरीय ठीक किया और हौले से उठकर फिर बाहर आया। लेकिन जगकर राहुल रोने लगा। मैंने दौडकर उसे उठा लिया कि देवी की नीद न टूट जाए और विराग मे विघ्न न आए।

राहुल मेरी गोद में आते ही हंसने लगा। मेरी ओर देखता रहा। उसकी वह हसी और उसका वह दर्शन मुझे आज भी ज्यों का त्यो याद है।

उस समय मेरे मन में एक प्रतिध्वनि उठी थी—'समय आ गया है, समय आ गया है।'

किन्तु जाने देगा ये ? मैने राहुल को देखा। वह मेरी ग्रीवा मे अपनी नन्ही बाह डाले मेरा कान पकडे हुए था। कही मै उसे छोड़ न दू।

रात का सन्नाटा गहरा होता जा रहा था। और गहराई मे से काल मुझे पुकार रहा था—'समय आ गया है, समय आ गया है।'

माता-पिता का क्या होगा ? यशोधरा तो रो-रोकर जान दे देगी। यह राहु भी बिलखता रहेगा। ये दास-दासी, यह छन्दक, यह कन्थक, . और वह कृशा और वह .

राहुल को मैं झूले में सुला आया। कुछ देर ऊं-आ कर वह सो गया। देवी भी सो रही थी। उसके होठों पर विश्वास की यह हल्की हसी ! अब शायद वह मेरे घर लौटने का सपना देख रही है।

मा का क्या होगा ? वृद्ध पिता का क्या होगा ?...मैने जैसे प्रश्न सामने पसरे अधकार से किया। उत्तर न मिला। उत्तर न मिला।

'तो क्या अमृत की खोज अपूर्ण रह जाएगी ?'

फिर भी मेरा मन कहता था, 'समय आ गया है, समय आ गया है।'

और मानो अधकार में प्रकाश का उदयन हुआ—'सिद्धार्थ, तुम्हीं न कहते थे, व्यक्ति के कष्ट सहने से यदि समाज का कल्याण होता है, तो वह कष्ट श्रेयस्कर है।'

'है तो। मैने कहा—फिर भी, वृद्ध माता , वृद्ध पिता, युवती पत्नी, शिशु। और जैसे एक आधी उठी ! और जैसे एक तूफान आया। और जैसे एक बवण्डर जगा। उस गाढ-नीले अधकार मे से एक वृद्ध आकृति अट्टाहास करती हुई, मेरा उपहास करने लगी—'तुम्ही हो, समता और न्याय के ढोगी ? करुणा, दया, मैत्री और साम्य का यह प्रपच छोडो और सुन्दरियो के भोग मे डूबे रहो। तुम्हें क्या मतलब, हम जीए या मरे। हम भूखे रहें या बरबाद हो जाए। तुम्हारे लिए यह पारिजात है, हमारे लिए वह मसान है, हा .हा...हा .हा...'

'रुको, रुको हे जीव !'

'बहुत रुक लिया। बहुत रुक लिया।'

मैं उसकी आकृति अब पहचान गया—वही बूढा था, जो उस सांझ मुझे उद्यान

भूमि जाते समय मिला था। पूछ रहा था—'क्या एक वृद्ध शुद्धोधन के लिए तुम हम जैसे अनगिनत वृद्धो को विस्मृत कर दोगे ? सिद्धार्थ, हरेक वृद्ध तुम्हारा पिता है। हरेक अभागिन तुम्हारी माता है और ऐसे कोटि-कोटि वृद्ध है और कोटि-कोटि अभागिने है। स्वार्थी युवराज, जाओ यह ढोग छोडो और सुख से अपनी सुगन्धित सेजो का रस भोगो, तुम्हारे बस का यह काम नही। तुम स्वय मृत हो। तुम स्वय रुग्ण हो। तुम स्वय बदी हो। अपने पारिवारिक स्वार्थ को प्रधानता देते, तुम्हे लज्जा नही आती।...दुनिया मे लाख-लाख शुद्धोधन भूखे-नगे फिरते है और केवल नाम-रूप का ही तो अन्तर है ! कितनी-कितनी यशोधराएं पथ की भिखारिने बनी भटक रही है और कितने राहुल दूध—बूद भर दूध के लिए बिलख रहे हैं।'

और मैने देखा, उस दिन उस कुटिया मे जो भूखा बिलबिलाता बालक था, वही मेरे सामने खडा हो गया और अपनी तुतली बोली में मुझे पूछने लगा—'क्या मै तुम्हाला लाहुल नहीं ?'

और फिर वृद्ध का प्रश्न था—'बताओ, क्या मैं तुम्हारा पिता नहीं ?'

मैने महसूस किया हरेक भूखा वृद्ध मेरा पिता है। हरेक रोगिणी वृद्धा मेरी माता है और हरेक अर्धनग्न बालक मेरा शिशु है। इनकी रक्षा और सुख का निदान खोजकर लाना ही होगा।

और पुकार आई—'सिद्धार्थ कहां हो ? सिद्धार्थ कहा हो ? हम नगे हैं। हम भूखे हैं। हम दुखी है। हम मनुष्य के बनाए नरक की ज्वाला मे झुलस रहे है। हमे बचाओ . बचाओ।'

उस पुकार के समान ही सन्तुलित स्वर मे मैंने जोर से चिल्लाकर कहा—'हे पुकारनेहारे, मै आऊगा ! जरूर आऊंगा ! मैं आता हू, मै आया..'

इस कोलाहल ने सबको जगा दिया। यशोधरा भी वातायन मे आई और प्रश्नमयी अरुण आखों मे मुझे देखती रही।

पूरब के कुटीर मे किसी ने आग लगा दी थी। और वहा दूर पर लालिमा दहक रही थी। नीचे पारिजात के नक्कारखाने में शहनाइया बज रही थीं।

25

मैने पूछा—'कौन है ?'

'आज्ञा हो देव ! मै छन्दक हू।' आलीन पर सिर धरे, छन्दक ऊंघ रहा था। मेरा नाम सुनकर, उठ खड़ हुआ।

'छन्ना, इस समय एक आवश्यक कार्य है। तुम अश्वशाला जाकर मेरा अश्व ले आओ।' कुछ न कहने पर भी छन्दक सब कुछ जान गया था। वह भारी मन, भारी पैरों जा रहा था—'प्रभु के महाभिनिष्क्रमण का मुहूर्त्त आ पहुंचा है।' इतना धीमे

कह, वह सिसक उठा। मै बाहर आया। उसके कंधे पर हाथ रख, बोला—'रोता है पगले !' और मेरी आखे भी छलछला आईं।

अपने कमरे से कथक की कचन-वल्गा और जरूरी सामान ले वह चला गया। अश्वशाला मे छन्दक ने सुगन्धित स्नेह से आलोकित प्रकाश मे देखा महाश्व कथक अपनी स्वप्नावलियो में लीन था। उसके सिर पर सुन्दर वस्त्र का वितान तना था। ओर जपा-पुष्प के गजरे उस पर लहरा रहे थे। छन्दक ने घोडे को जब बहुत कसा, तो घोड़े ने सोचा, 'आज यह मुझे बहुत कस रहा है। और दिन तो ऐसा नही करता, आश्चर्य है ! सम्भव है, आज स्वामी महाभिनिष्क्रिमण कर रहे हो।' और इस विचारानुभाव के हर्पातिरेक मे कंथक जोर से हिनहिनाया।—वाद में मैंने जाना था।

कथक का यह उद्घोष नगर भर को जगा देता, किन्तु देवो ने इस महाध्वनि को अवरुद्ध कर लिया। तत्पश्चात् मैंने सोचा—'जब तक छन्दक अश्व के लिए आता है, मै तनिक राहुल को एक बार देख लू।' और मैं अपने कक्ष से देवी के कक्ष की ओर चला।

धीमे मैने यश के शयन-गृह का द्वार खोला। गंधित तेल-द्वीप की मंद आभा मुखरित थी। यशोधरा अपनी सुमन-सेज पर लेटी थी। उसकी सांसो की गति से उसका वक्ष उठ-गिर रहा था। सचमुच उसे गहरी नीद आ रही थी। वह अपना एक स्तन राहुल के मुख में दिए थी। रोते-रोते दूध पीते, वह सो गया था। देवी की बाह राहुल को अपने आंचल की छाया में लिये थी।

द्वार-देहली पर मै रुक गया और वहीं से दोनों को देखता रहा। आनन्द से मेरे नेत्र उन्मीलित हो गए। फिर आगे बढा। यश का दीपित वदन देखा। मन को तृप्ति मिली। हाथ उसकी ओर बढा, किन्तु अन्तर से आवाज आई—'यह क्या करते हो सिद्धार्थ ? यह जाग जाएगी तो सिद्धि का स्वप्न अधूरा रह जाएगा !'

राहुल का मुख एक पल देख लेने की चाह उठी, परन्तु मा के पयोधरो मे छिपा उसका नन्हा-सा चेहरा मैं न देख सका। देवी का दूसरा हाथ उठाए बिना मै राहुल को नहीं देख सकता था और हाथ हटाने पर यश की नींद अवश्य उड़ जाती। कही यह उस रात की तरह स्वप्न से चौंक उठी तो.. सब धरा रह जाएगा। मैं दबे पग पीछे लौटा। बाहर से धीमा बुलावा आया—'स्वामि !'

'आया, छन्ना !' मेरे मन में द्वन्द्व था। यश के शयन-गृह के बाहर, मैं विमूढ-सा खडा था। फिर विचार उठा, अब जाने कब लौटूंगा। यशोधरा से अन्तिम बिदाई लेनी चाहिए और बेटे का मुह भी केवल एक बार देख लेना चाहिए। यश को जगाऊ, न जगाऊं ? इन दो विचारों का तुमुल सगर चलने लगा। नीचे से फिर पुकार आई—'नाथ !'

'आया, छन्ना !' यश की शैया की ओर मैं झपटा। उसका गात छूने ही वाला था कि एक अजाने विचार ने रोक लिया। नेपथ्य मे जैसे, अभागिन खिलखिलाई—'मै तुम्हारी यशोधरा नहीं ?' और कुटिया के बालक का वह चेहरा कहने लगा—'मैं तुम्हाला

लाहुल नहीं !' अन्तर के अन्तराल में प्रतिध्वनिया गूंजी—'समय आ गया है। समय आ गया है !' फिर मै एक पल भी न रुका। देहली पर खड़े होकर मैंने अपनी हृदयेश्वर से मन-ही-मन विदा ली। लोचनो मे, दो बूद रोके, न रुके। टपक ही गए। एक राहुल के लिए, दूसरा उसकी मा के लिए।

कथक मेरे चरणो को अपने मुंह से सूघने लगा। बडा बेचैन था वह। मैंने उसकी पीठ थपथपाई—'ठीक है, ठीक है।' छन्दक ने उसकी पूंछ थाम ली और मैंने कथक को ऐड लगाई। मार्ग मुझे सूझता नही था, क्योकि मेरी आखो मे आसुओं की जालिया बह रही थीं। उस दिन के खारे अश्रु-जल का स्वाद मेरे होठों पर अब भी ताजा है।

अजिर के प्रस्तर-निर्मित कुट्टिम पर जब कंथक के पैर पड़े, तो उसकी टाप पारिजात के कक्ष-कक्ष मे गूज उठी। मुझे लगा, गजब हो गया। छन्दक ने पीछे ऊपर देखा—'कुमार, देवी के कक्ष की खिडकी खुली है। आलोक फैला है। ऐसा प्रतीत होता है, वे जाग गई हैं। देव, सुनिए राहुल का महीन रुदन आ रहा है।'

कथक भयकर वेग से उडा जा रहा था। अर्ध-निमिष मैंने पीछे देखा, राज-झरोखे मे एक छाया खड़ी थी, केश उसके हवा में उड़ रहे थे—'लौटो सिद्धार्थ, लौटो... सि...द्धा...र्थ. .कायर !'

छन्दक ने कहा—'स्वामी, खिडकी बन्द हो गई है !' मैं चुप रहा। कंथक पवन बन रहा था। मैं उसकी रास खींचे रहा।

आषाढी पूर्णमासी की देवी की मौलि-वेणी खुली थी। आकाश मे घुमडते-मेघो के पर्दे-पीछे से निकलने की राका-शशि कोशिश कर रहा था। कपिलवस्तु-नगरी—नवविवाहिता-सी सजी, निद्रा में निमग्न थी।

कथक राज-रथ्या पर आ गया। उसकी टापों से दोनों ओर के भवन गूंज रहे थे। मैं संविग्न था, कहीं प्रहरी न जाग जाएं। सामने सघन-तमिस्रा थी, मेघदूतों के कारण।

पहले सघन तमा थी, सहसा, अब पथ प्रकाशित हो गया। छन्दक ने कहा—'कुमार, कथक की टाप ध्वनि-रहित हो चली है। नाथ, जहां-जहा उसके पैर गिरते है, वहा-वहा, देवगण पहले ही अपनी हथेलियां रखते जाते हैं। स्वामि, सहस्र-सहस्र देव मशालें लिये आपके आगे है। उतने ही पीछे है। उतने ही दाए और उतने ही बाएं हैं। देव की जय हो !'

अब मै अपना मन बस में कर पाया। नगर-द्वार तक हम पहुंच गए। मैने सोचा, यहा तो पिताजी ने सहस्र धनुर्धारियों का पहरा बिठा रखा है कि मैं छटक न जाऊं। द्वार बद है। इतना भारी है कि कई सौ लोगो के बल से ही खुलता है। मैंने कंथक की गति ही से जान लिया, वह भी चिन्तित है। निश्चय किया—'यदि द्वार बद रहा, तो मैं कथक को ऐड़ लगाकर नगर का परकोटा लाघ जाऊंगा।'

छन्दक ने सोचा—'यदि कपाट न खुला, तो मैं स्वामि को अपने कंधों पर बिठा लूगा, कथक को अपनी बगल में उठा लूगा और दोनों को लिये दीवार के पार हो जाऊगा !'

और तभी कंथक ने सोचा—'द्वार रुद्ध रहा, तो मै युवराज को ऐसे आरूढ रहने दूगा। छन्ना पूछ थामे रहेगा और मै एक ही छलांग मे उत्तुग द्वार के पार पहुच जाऊंगा।'

लेकिन द्वार स्वयमेव खुल गया। कथक अपनी समगति से सरपट दौड़ा जा रहा था। नगरान्त पर वन-पथ आ गया। मन मे मोह उठा—एक बार कपिलवस्तु के दर्शन तो कर लूं। मैने अश्व को रोक लिया। उसका मुह फिराया। प्रसुप्ता कपिला की ओर मैने अन्तिम दृष्टि डाली। टकटकी लगाकर देखता रहा। एक उसांस रोकने पर भी पिजरे से वाहर आ गई—'छन्ना, अपनी इस जन्मभूमि से अन्तिम विदा लेता हू। इस वेला जिस प्रकार नभ मे मेघ छाए हैं, उस प्रकार मेरे अन्तर्नभ मे द्वद्वात्मक विचारो का बादल-दल उमड़ रहा है। सौम्य, शारदीया आएगी, और पूर्णेन्दु अपनी सोलह कलाओं मे खिल उठेगा। मेरा मन कहता है आर्य, उसी भांति मेरा अन्तस्तल सत्येन्दु की ज्योति से सिद्धि पाएगा। सम्यक्-ज्ञान जब प्राप्त हो जाएगा, अपनी इस मातृभूमि मे फिर आऊगा मै। तब पिताजी के पैरों पडूगा और यशोधरा से भी क्षमा माग लूंगा...और जब तक मै जन्म और मृत्यु के पार शाश्वत-जीवन के चरम-विन्दु को न देख लूगा, तब तक कपिल के नाम से सम्बोधित इस पुरी में प्रवेश न करूगा। छन्दक, चलो अब हम राजगृह के मार्ग पर चलें।'

हम आगे बढ गए।

कुछ दूर जाने पर मैने देखा कि रस की रागिनी गाता हुआ एक व्यक्ति सामने से आ रहा है। वह कंथक के सम्मुख हवा मे अधर खडा हो गया और कहने लगा—'रुको सिद्धार्थ ! आगे न जाओ, क्योकि आज के सातवें दिन राज्य-चक्र तुम्हारे कर-कमलों मे आएगा और तुम सप्त-द्वीप नौ-खण्ड पृथ्वी के प्रतिपालक बनोगे। अब लौट जाओ।'

'कौन हो तुम ?' मैंने पूछा।

'मै वसवत्ती मार हू।'

'मार, मै जानता था कि राज्य-चक्र मेरे सामने प्रकट होने वाला है। परन्तु मेरे मन में सार्वभौम राजत्व की कोई कामना नहीं है। मैने दस पारमिताओं की पूर्ति न इन्द्रासन पाने के लिए की, न ब्रह्म या चक्रवर्ती का पद पाने के लिए की है। मै तो धर्मचक्र-परिवर्तन करूंगा।. जिस दिन लोक-सेवा के पंथ पर चलते-चलते, मेरे मानस में स्वार्थरहित जन-सेवा का अटल निश्चय स्थिर हो जाएगा, जिस दिन मे जरा और मरण के पार मनुष्य को ले जाने का मार्ग निश्चित कर लूंगा उस दिन अवश्य मुझे बुद्धत्व की प्राप्ति होगी। मार, मैं सम्राट् या चक्रवर्ती बनना नही चाहता, मुझे राजचक्र नही चाहिए, मै धर्म-चक्र धारण करूगा। तू मुझे प्रलोभन दे रहा है, वह मुझे अपने मार्ग से विचलित न कर सकेगा। मुझमें देवत्व के प्रति कोई आकर्षण

नहीं ह। मे देव बनना नही चाहता, मे इश्वर भी बनना नही चाहता मे मानव बनना चाहता हूं कि मानवमात्र की सेवा कर सकू।'

तव मार मुह नीचा किए चला गया। उसने शायद सोचा होगा, कि इसे अवसर देखकर अपने वश मे करूंगा। आगे ज्यो ही इसके मन मे पहली बार बुराई आएगी, त्यो ही मै इसे पकड़ लूगा।

हम वढते गए। उस रात हमने तीन राज्यो की सीमाएं पार की। छन्दक कहता था, सुषमाशील समय था वह। दिशा-मण्डलों से स्वर्गीय सगीत की ध्वनियां आ रही थीं, मानो अड़सठ लाख वाद्य-यन्त्र एक साथ वज उठे हों, मानो झझाकर मेघ सागर पर उल्का के आरे चला रहे हो। मानो युगधर-चट्टानो से महा-समुद्र का आलोडन टकरा रहा हो !

वन-पथ का अंत आया। नदी का कगार दिखलाई पड़ा।

'इस सरिता का क्या नाम है छन्ना ?'

'देव, यह अनोमा है।'

'तो मेरा निष्क्रमण भी ससार मे अनोमा के नाम से जाना जाए।' इतना कहकर मेने घोडे को ऐड लगाई। कथक उछला और आठ-उसभ चौडी सरिता को पार कर, दूसरे तट पर खड़ा हो गया। तट-प्रदेश की सिकता रजत-पत्र-सी चमक रही थी। मै अश्व से उतर पडा। कुछ कहने से पूर्व, मन रुद्ध रहा। कैसे कहूंगा छन्दक से कि तुम लौट जाओ अब !

छन्दक समझ गया—'नाथ !' कहते रो पड़ा।

'हा, छन्दक अब तुम मेरे ये वस्त्राभूषण और कथक को लेकर लौट जाओ। मे विराग की शरण जाऊगा।'

'तो, मुझे भी ले चलिए। मैं भी विरागी बनूंगा। आज तक आपने मुझे अकेला नही छोडा।'

तीन बार मैंने सौम्य छन्ना को समझाया। तीन बार ना किया। तब कही मे उसे लौटने के लिए राजी कर सका। वस्त्र और आभूषण मैंने उतार दिए। और सोचा यह केश-कलाप साधुओं को शोभा नही देता। इसे मै अपनी तलवार से काट देता हू। तब अपने कुछ केश छन्दक की ओर बढ़ाकर मैंने कहा—'यह कुतलराशि यश को आकर्षित करती रही है, उसे तुम मेरी कुशल कहकर, देना। वह कुछ अधिक पूछे, तो उसके मन की सुकुमारता का ख्याल कर मौन रह जाना। भिक्षु को प्रसाधन से क्या प्रयोजन ?'

मैंने कुछ केश ऊपर उड़ाते हुए कहा—'यदि मेरा बुद्ध होना निश्चित है तो ये केश वायुमण्डल मे विहरें, नही तो, भले भूमि पर गिर पड़ें।' केश अधर रह गए।

कथक की रास मैंने छन्ना के हाथ में दे दी—'सबसे कहना, मै सकुशल हू।'

अब तक कथक हमारी बाते सुन रहा था। चुप था। अब मुझसे बिछुड़ने का

समय आया तो वह मुह से शब्द तक न निकाल सका। जैसे उसका हृदय फटा जा रहा है। वह पछाड खाकर पृथ्वी पर गिर पड़ा और जब तक मैं अपनी गोद मे उस का सिर रख लूं, तब तक उसने अश्रुमयी-दृष्टि से मेरी ओर देखते-देखते सदा के लिए बिदा ले ली।

मेरा कण्ठ भरा था। छन्दक तो वही नदी की बालू मे लोटने लगा—'नाथ, मुझसे तो यह कथक ही अधिक भाग्यवान है, स्वामी से बिछुडने के पूर्व ही इसने अपने प्राणो का त्याग कर दिया। परन्तु मेरे ये पापी प्राण नहीं निकल रहे है।'

मैने देखा, धैर्य की परीक्षा है। अपने पैरो पड़े छन्दक को उठाकर मैंने हृदय से लगा लिया—'बालक न बनो आर्य ! ससार मे किसका साथ सदैव रहा है ? आज हम सग रह भी लेगे, तो कल मृत्यु हमें जुदा कर देगी। इसके पूर्व कि मौत हमे अलग कर दे, हम खुद ही अलग क्यो न हो जाए। और हम-तुम तो फिर मिलने वाले हैं। कुछ ही दिन की बात है। ज्ञान की मशाल लेकर मै जल्द लौट आऊगा। तुम सबसे जी जुड़ाकर मिलूगा। हम फिर साध्य-वेलाओ मे उद्यान-भूमि की सैर को जाएंगे। अब जा, मन को बोझिल न होने दे। मेरा यह हार अन्ना को मेरी स्मृति-रूप मे देना। और मेरा प्रणाम कहना। महाराज का ध्यान रखना !...'

रोता, कल्पता, चीखता छन्दक लौट पडा।

मै उसके उठते पैर देखता रहा। पैर जब ओझल हो गए, तो अनोमा के उस रेतीले तट पर अकित उसके चरण-चिह्न खोजता रहा। 'मुझे नही ले गए अपने साथ'—उसका क्रन्दन नदी-कगारो के आर-पार अपनी परछाइया डाल रहा था और धीरे-धीरे ऊचा उठता हुआ, मानो पेडो की चोटियो पर जा बैठा !

अब मेरे पास एक ही चीवर रह गया था। उसके छोर से छानकर पत्तों के एक द्रोण मे मैंने जल-पान किया। कुछ देर विश्राम लेकर आगे बढ़ना चाहता था कि दो वृद्ध-तापस आते दिखाई दिए। उनकी आयु कई सौ वर्ष की होगी। वे बोले—'हम तुम्हे ही खोजते आ रहे हैं। हमे ज्ञात था कि आज के दिन अनोमा के इस कुंआरे जल-दर्पण मे तुम अपना रूप निहारोगे। सच, सिद्धार्थ तुमने बडा त्याग किया है। लो, भिक्षु की ये आठ आवश्यक वस्तुए।'

मैने सधन्यवाद ग्रहण कीं—'पूज्यपाद, आप कौन हैं ?'

'अरे, हमें नहीं पहचाना गौतम ? यह है महा ब्रह्मा और मै हू घटिकार। हम बुद्ध कस्सप काल में तुम्हारे मित्र रहे है।'

मैने उनकी वार्ता सुन ली। मन में सशय था, बुद्ध कस्सप हुआ भी या नही, कोन जाने ?

26

म चलता गया। राजगृह के सस्थागार केतु नजर आ रहे थे। मैने नगर मे जाना उचित न माना। उससे दूर रहना रुचिकर प्रतीत हुआ और अभी तो मुझे अपनी पुरी छोड़े कुछ ही काल बीता था। नगर-पुरो से मुझे अमोह हो गया था। मुझे तो सीधा-साधा ग्राम्य-जीवन ही इष्ट है। वैसे स्वय अपने लिए तो मैने वन मे रहना ही हितकर समझा, क्योकि इस क्षेत्र मे, अदूर ही कई सत दार्शनिको के आराम और आवास थे।

राजगृह से इधर अनुपिया नामक आम्र-निकुज है। मैंने परम एकान्त यहा पाया। ओर यही रहने का निर्णय किया। नगर में जाना तो इस समय ठीक भी न था। सम्भव है, पिताजी के भेजे चर घूम रहे हो, आज नहीं तो कल वे मेरे लौटने पर जोर दे और यों भाति-भाति के विघ्न पहुचाए। एकान्त-वास स्वय एक साधना है। फिर जो सिद्धि का साधक है, उसके लिए तो लाभकर है कि वह वन मे रहे। अनुपिया का वह स्थल आज भी मेरे सम्मुख झलक जाया करता है। उसके लिए मेरे मन मे बड़ा राग है। कितनी मनोरम भूमि है वह ! साधुजनो की गति के समान सीधी अमराइयो की रेखाएं परस्पर मिलकर मानो भूमिति के प्रश्न हल कर रही हैं। घर छोडने के उपरान्त पूरा एक सप्ताह मैने अनुपिया में व्यतीत किया। भोजन की सुधि नहीं थी। कही जाने-आने की इच्छा नही होती थी। मै तो इसी आनन्द मे मग्न था कि चलो, घर-बार का बन्धन छूटा ! बडे सुख मे था कि भूख लगने पर दो-एक आम खा लेता। और कल-कल करते स्रोत का जल पी लेता। चिन्तन-मनन चलता और कब कितना काल आया-गया इसकी स्मृति न रहती। ऐसी गणना करे कौन ? किसलिए ?

पूरे सात दिन आम्र फल पर निर्वाह किया, तो मन मे पकवान खाने की रुचि हुई। स्वाद ने जब बाधा पहुचाई तो मै नगर की ओर चला। हाथ में भिक्षापात्र था। चला जा रहा था, हृदय कही और था, मन कही और था, और पैरो की गति-दिशा तो वे ही जानें !

इसके बाद की कथा उत्पलवर्णा के शब्दों मे यो है—

'नगर मे कुहराम मच गया। झुण्ड के झुण्ड नर-नारी उसे देखने के लिए घरो से दौड पड़े। मै अपने प्रांगण में तुलसी-पूजा कर रही थी। भाभी नीचे दौडी हुई आई—'उत्पल देखो-देखो बाहर कैसा सुन्दर युवा संन्यासी आया है।'

मै उनके पीछे-पीछे बाहर आई। देखकर चकित रह गई। स्त्रियां परस्पर उस युवा सन्यासी के रूप, कुल और शील की चर्चा कर रही थीं। भाभी ने उसके पात्र मे कई व्यजन डाल दिए। मै भी दौड़कर भीतर गई और आज भोर ही मैने अपने हाथो जो मिष्टान्न बनाया था वह इस तरुण तपी के लिए ले आई—'लो' मै आगे न कह सकी। न उसकी नजरें उठी, न मेरी पलके झुकी। मैं तो लोक-लाज छोडकर उसे देखती ही रह गई !

वह चला गया। भाभी बोली—'नया-नया साधु है। घर छोडे अधिक दिन क्या

हुए होगे .तुम्हारा ध्यान कही और है ?'

बोली मैं—'काश यह तपी गृहस्थ युवा होता ! इस वय मे इसे कौन-सी लगन लगी है कि यो जोग रमाए बैठा है।'

फिर हम दौडकर अपने वातायन में आई और वडी देर तक उसको लौटते हुए देखती रही। घर-घर से प्रमदाए, बालाए और युवतियां उसके भिक्षापात्र में खाद्य पदार्थ डालती जाती थी। सारी सामग्री का मिश्रण हो रहा था, मै सोचती रही ये पदार्थ अव यह कैसे ग्रहण कर सकेगा !

वह चला जा रहा था और लोगों के समूह उसके पीछे-पीछे जा रहे थे। झरोखे खुल गए, खिडकियो के पर्दे हट गए और छज्जोंवाली कुलवधुओ की आखे पथ पर अटक गई। और नागरिक थे कि उसकी राह रोक रहे थे। कोई अपनी आयु पूछता। कोई अपना भाग्य पूछता। कोई अपना आगम पूछता।

वह चला जा रहा था और उसके पीछे लोग चले जा रहे थे। अधरों पर बंकिम मुस्कान थी। लोचनों में अजब एक चमक थी। जो देखता, देखता रह जाता। बारम्वार उसे देखने की प्यास उमडती । जिसने नहीं देखा था, वह पछता रहा था, और 'किस दिशा मे वह गया है ?' प्रश्न करता था। वृद्धाए लाठी का सहारा लिये और बहुओं का हाथ थामे उसका पथ रोकने लगी—'बारह बरस हुए मेरी इस बहू की गोद सूनी है। कोई मत्र बताओ, कोई जन्त्र, कोई तन्त्र बताओ।'

लेकिन उन्हें वही छोडकर, रास्ता काटकर तरुण-तपस्वी चला जा रहा था। फिर आवाज आती—'महाराज, ऐसी कोई सिद्धि वताइए, जिससे लोहा सोना हो जाए। दारिद्र्य के चगुल में फसकर मा अधी हो गई है, पिता तो पागल ही हो गए। और ये दस-बारह जो भाई-बहन हैं, पथ के भिखारी हो रहे है।...'

फिर हमने सुना। महाराज बिम्बिसार के कानो तक वात गई—'देव, एक युवा सन्यासी नगर-पथ से जा रहा है। सिर मुंडा है। एक वस्त्र पहने और एक ओढ़े हुए है। हाथ में पात्र है। जो कुछ मिलता है, वह उसी मे ग्रहण कर लेता है कोई राजपुत्र मालूम होता है नाथ ! यो, तभी न सभी खाद्य उसके पात्र में मिश्रित हो रहे है। देव, अत्यन्त सुन्दर है वह ! अवश्य वह देवपुत्र है, नागलोक का कोई निर्वासित राजकुमार हे ! राजगृह अलका के आंगन में खेलता हुआ कोई सुरपुत्र पथ भूलकर आ निकला है ! राजगृह धन्य है, धन्य है, धन्य है हमारे भाग्य कि उसके दर्शन हुए।'

महाराज बिम्बिसार बोले—'कहां है भो, वह देवपुत्र ? मैं भी देखूगा उसे।' तब तक वाहर शोर सुनाई दिया—'जरा रुको साधु ! हमें मगल-कवच देते जाओ। हमे रक्षा-सूत्र दो। युवा संन्यासी की जय !'

महाराज अपने महलों से देखते रहे फिर दूत दौड़ाए—'दौड़ो ! पता पाओ, कौन है यह मौन विरागी ? कहां से आया है यह ? क्या नाम-गोत्र है ? कहां ग्राम-धाम हे ?'

राजा ने अतःपुर मे जाकर रानी को संदेश सुनाया। उधर दूत दौड़ते हुए वहां

पहुचे, जहा पाण्डव-गिरि पर, आम्र-छाया मे वह भिक्षु अपना पात्र लिये बैठा था। उसे आहार के लिए प्रस्तुत देख, वे दबे पाव लौटे और एक ओर खडे होकर प्रतीक्षा करने लगे।

भिक्षा लिये नगर से जब मैं लौटा, तो मेरा मन ग्लानि से भर गया था। कैसे-कैसे अन्धविश्वासी हे हमारे लोग ! कितना अज्ञान ! कितना तमस् ! एक ओर इकहरा वेभव, दूसरी ओर दुहरा दारिद्र्य !

मैंने अपने पात्र की इस मधुकरी को देखा—विविध प्रकार के खाद्य थे। किसी का जल और किसी का तेल, आपस मे रल-मिल रहा था। और इसी मे दूध और खटाई, इसी मे लवण और मिठाई ! मुझे तो उबकाई आने लगी। खाना तो दूर रहा, मेरे लिए उसे देखना भी दूभर हो गया। तन तो क्षुधा से दुखी था ही, अब मन भी दुखी हो गया। आम्र-पल्लवो से मानो एक मर्मर् उठी—'सिद्धार्थ, क्यो व्यर्थ मे काया को कष्ट दे रहे हो ? यह कण्टक पथ तुम्हारे लिए नहीं है। कहां तुम—क्षुद्र से क्षुद्र जाति का दिया यह भोजन लेकर अपने भाग्य को कोस रहे हो, कहां यशोधरा राजपरिवार की रमणियों के बीच राजसी आहार ग्रहण कर रही होगी !...'

नही-नही, मैंने कहा। मुझे यश का चेहरा आज, आठ दिनो में पहली बार याद आया। आसुओ से भरा हुआ मुख ! रोते-रोते रतनारी हो गई अखिया ! अश्रु से धुले अधर ! वह भी भूखी होगी। अपनी हठ में वह एक है। दास-दासिया समझाते हार गई होगी, पर उसने दाना मुंह मे न छुआया होगा।. .लेकिन मै तो संन्यासी हूं। मेरा यशोधरा से क्या लेना-देना !

पात्र सामने था। उससे एक अजीब गध आ रही थी। फिर मुझे ऐसा प्रतीत हुआ, जैसे यह गंध मुझे कह रही है—घर छोडने को तुझे किसी ने न कहा। तू अपने निश्चय से निकला है। गध और स्वाद से तेरी मित्रता नही, शत्रुता नहीं। रस से तुझे क्या प्रयोजन ? तुझे तो सिद्धि पाना है, ज्ञान पाना है।...और शूद्रो का भोजन देखकर तुझे घृणा हो आई ! तेरा वह समत्व कहा गया ? साम्य का वह दावा क्या इतनी जल्दी तिरोहित हो जाएगा ? सबका भोजन तेरे लिए समान है। तूने प्रेमभाव न देखा, पदार्थ-भाव में उलझा है। शूद्रों के घरों की ये बहू-बेटियां कितने स्नेहपूर्वक भिक्षा दे रही थी। तूने उनका दान देखा, उनकी भावना नही देखी। और राजमहल के नीचे से होकर तो तू खाली ही लौटा। वहा प्रेम नहीं, भावना नहीं, सम्मान नही, दान नही !

मेरी आंखे खुल गई। सन्तोषपूर्वक मैने भोजन किया और उसी प्रिय झरने का जल-पान किया। तदुपरान्त स्वस्थ होकर, आसन लगाकर बैठ गया।

राजा का दूत प्रकट हुआ और उसने मुझे अपना मन्तव्य बताया। मैने स्पष्टतया अस्वीकार किया राजप्रासाद में जाना—'भद्र, हम साधुओ को महलो से क्या काम ? अपने राजा से कह देना, हमे क्षमा करे और हमारी साधना में अवरोध न लाए।'

दूत के लौट जाने पर संध्या-समय विम्बिसार स्वय पाण्डव-पर्वत आए। उनकी पटरानी भी साथ थी। दोनों ने, यह जानकर कि मै उनके मित्र शुद्धोधन शाक्येन्द्र का पुत्र हू, मुझे बहुतेरा समझाया कि मै घर जाऊ और यदि न लौटू तो कम-से-कम उनके किसी भवन मे रहकर अपनी साधना पूरी करूं। मुझे रानी-राजा के इस प्रस्ताव पर हसी आई। फिर भी जाते-जाते राजन् यह वचन लेना ही गया कि जब मेरी साधना पूरी हो जाय तो अवश्य मै राजगृह लौटू और उनकी पाटपुरी में अपना एक विहार बनाऊं।

अनुपिया की रम्य अमराइयों में मेरे दिन बीतने लगे। मधुकरो के लिए मै सप्ताह मे दो-एक बार ही नगर जाता था। एक तो मैं आस्वाद पर नियत्रण चाहता था, दूसरे नगर मे मेरा मन भ्रमित न हो जाए, मुझे भय था। उत्पलवर्णा मेरी ओर खिची जा रही थी, यह तो मै पहले दिन जान गया था, जबकि भिक्षा देते समय उसके हाथ काप गए थे और पलक झुके रह गए थे ! इस जाल से मै रक्षित रहना चाहता था इसलिए मुझे अपना अरण्य-वास ही श्रेयष्कर लगा। मैने उत्पल के मुहल्ले तक मे जाना बन्द कर दिया, जब वह उस दूसरे मुहल्ले में, जहा मै भिक्षार्थ जाया करता था, अपने भैया के घर आकर रहने लगी, तब मै उसे दूर से ही देखकर, बिना भिक्षा मागे पथ से गुजर गया। फिर मेरे कानों में उसका गीत स्वर आया—'ओ पंथी, ओ सन्यासी, मुझे छोड़ मत जा।

मैने निर्णय किया, अव इस राजगृह को ही छोड़ दूगा।

दूसरे दिन, मैं नदी से स्नान कर लौट रहा था कि मैने पथ पर जाते एक विशाल अजा-दल देखा। अजपाल उसके पीछ-पीछे आ रहा था, मैने उसे पुकारा—'भद्र !' इस पुकार पर उसने इस हेतु ध्यान न दिया कि 'भद्र' शब्द का प्रयोग उसके लिए तो नही हो सकता है। फिर पूछा, 'भाई, यह रेवड कहां जा रहा है ?'

वह बोला—'महाराज बिम्बिसार एक बहुत बडा जगन कर रहे हैं, उसी में बलि देने के लिए, यह पशु-दल लिये जा रहा हू।'

मै विस्मित रह गया ! धर्म-धरा पर यह रक्त-प्रवाह ! मै यह अनाचार न होने दूगा। मैंने कहा—'बन्धु अजपाल, मुझे भी अपने साथ ले चलो। आज मै भी राजा का यज्ञ देखूंगा' यो कह, मै उसके पीछे हो लिया।

कुछ दूर जाने पर, मेरी नजर एक नन्हीं-सी प्यारी भेड़ पर पडी, वह बहुत छोटी थी, थकी थी, लावा उगलती धरती पर उससे चला नहीं जाता था। पीछे आती भेडे उसे रुका देखकर सींग मारती थीं और यो उसे आगे बढ़ने का सकेत देती थी। जब मैंने यह देखा कि यह तो पिछले एक पैर से लंगडी भी है, मेरा मन अश्रु-विभोर हो गया। मैंने उसे अपने कंधे पर उठा लिया और चलने लगा। दूसरे कंधे पर गीला उत्तरीय पडा था। भेड़ पहले तो बडे मधुर स्वरों मे मिमियाई, फिर चुप होकर, मेरे मुडित माथे पर अपना रोम-राजित सिर रखे ऊंघने लगी।

भेड़ के इस स्नेह-सम्पर्क से मुझे ऐसा सरस आनन्द मिल रहा था, मानो मै राहुल को लिये जा रहा हूं। मार्ग लम्बा था। बालू तप गई थी। मुझे इन राहों पर चलने का अभ्यास न था। पगतलियो मे छाले पड गए और प्रत्येक कदम भारी मालूम होने लगा, एक-एक अगुल जमीन सौ-सौ योजन लगने लगी। फिर भी, कोई निश्चय था कि अपने साथ बहाए जा रहा था।

उस दिन हसिनी के लिए देवदत्त को वैरी बनाना पडा। आज इस पगु भेड के लिए जाने किस-किस से रार मोल लेनी होगी, कुछ भी हो मै अपने विचार पर अचल हूं। यह हत्या कभी न होने दूंगा।

आगे की कथा उत्पलवर्णा के मुंह से सुनिए—

"भाभी, याद है उस दिन वह जो तपस्वी हमारे द्वार पर आया था ? कल मै देवी-पूजा से लौट रही थी कि पौर-द्वार पर अजा-पशुओ की भारी भीड देखकर रुक गई। अजपाल के पीछे-पीछे वही तपस्वी आ रहा था। और भाभी, तुम्हे मै क्या बताऊ, मै यह देखकर ठगी रह गई कि उसके कंधे पर एक पशु-छौना ऊघ रहा है। दूसरे पर एक भीगा बस्त्र पड़ा है। उसकी कनक देह से अद्भुत कांति प्रभासित हो रही थी।

उसने मुझे देखा, जैसे न देखा हो। मैने ही साहस कर कहा—'सन्यासिनू, यह क्या भेप बनाए हो ?'

वह मुस्कगया। मै धन्य हो गई। फिर पहली बार मैने उसके बोल सुने—'कल्याणी ! राजा के यज्ञ मे यह पशु-धन अर्पित होगा। मैं इस सहार-लीला को रोकूंगा।'

मै मन-ही-मन उसकी सनक पर पहले खीझी, फिर रीझ गई। कुछ भी हो, यह अपनी लगन का पक्का है। पूछा—'विरागी, तुम्हे सिह-द्वार मे कोई प्रविष्ट भी होने देगा ?'

भाभी, उसने इस प्रश्न को मानों अपमानजनक समझा। मेरी ओर घूरकर ऐसे देखा। ऐसे ..ऐसे।

जब वह कुछ बढ़ गया तो मै भी अनति दूर रह, उसका अनुसरण करने लगी। मेरा कौतूहल मुझे कह रहा था कि यह योगी आज जरूर चमत्कार दिखलाएगा।

आगे-आगे पशु-दल, पीछे-पीछे अजपाल और उसके पीछे छौना उठाए इस तरुण विरागी को देखकर नागरिक दिग्मूढ रह गए। उनके नाना कार्य-कलाप स्थगित हुए। ऊचे स्वर में बात करते, आदान-प्रदान करते व्यापारी निर्वाक् इस तापस को देखने लगे। शीश पर एक गगरी और दूसरी उठाकर, उस पर रखने जा रही थी कि पनघट की पनिहारिनें चित्र-खचित रह गई। कारीगरों के हाथों से कल छूटे। लोहार के हाथो उठा हथौडा, उठा रह गया। और वह यह विचित्र जुलूस देखने लगा। स्वर्णकार सोने का तोल भूला। ग्राहक मोती का मोल भूला। पिजरे का शुक पछी अपने बोल भूला। क्रीडारत बालक अपना गोल भूला। सिगारवतियां कगन मे कील देने जा रही थी कि —ओर झपटीं तरुण के तेज को निहारती रहीं हमारी मामी को तो जानती

हो। कितनी स्थूल है उनकी देह, गठियावात से जकडी हैं, कभी खटिया छोड़ती नही, उन्हे भी मैंने झरोखे में झाकते देखा ।. .कुलवधुए परस्पर वार्तालाप कर रही थीं—'सखि, यह युवा सन्यासी कभी-कभी हमारे द्वार आता है, भिक्षा के लिए। कितना रूपवान और हृदयवान लगता है। आज तो यह यज्ञ के लिए पशु-दल ले जा रहा है।'

दूसरी बोली—जरा इसकी सुन्दर आखें तो देखो। कैसी करुणामय है। प्रतीत होता है, यह नन्हा छौना थक गया है और उसे कधे पर उठाकर लिये जाता है।'

अजपाल प्रासाद के आंगन में प्रविष्ट हुआ। जहा वेदिकाए बनी थी और विप्रो के गम्भीर, सतृष्ण कण्ठो से 'स्वाहा', का घोष यज्ञ-धूम्र के साथ उठ रहा था। अजपाल ओर उसके रेवड को देखकर, ब्राह्मण वडे प्रसन्न हुए। उनमे जो महोदर आचार्य थे, उन्होंने आदेश दिया—महाराज को बुलवाओ। एक सुपुष्ट भेड़ को मन्त्र शुद्ध कर, इधर लाओ। शिष्य दौडे, कुछ पशु-दल की ओर और कुछ राजमहल की ओर। तो भाभी, इस बीच अपने कधे के छौने को उतारकर तरुण विरागी यज्ञ-मण्डप की ओर बढा। हाथ मे छुरा लेकर जो ब्राह्मण मन्त्रोच्चारण कर रहा था, उसके निकट चला गया और दोनों हाथ जोड़, उसने वेदी पर, असिसुना पर, छुरे की छाया-नीचे अपना सिर झुका दिया—'इन मूक प्राणियों के बदले, मेरे सिर पर अपनी छुरी चलाओ।'

मण्डप में कुहराम मच गया। ब्राह्मण वड़े क्रोध से उसे ललकारने लगे, परन्तु उसके अविचल मौन को भग करने मे असफल रहे। शोरगुल को सुनकर यज्ञ के व्यवस्थापक दौडे आए। तब तक महाराज बिम्बिसार भी आ गए। राजा ने वेदिका पर झुका तपी का शीश देखा, तने हुए छुरे की धार देखी।

राजा को देखकर सब शान्त हो गए।

सन्यासी ने वैसे ही खडे-खड़े कहा—'ब्राह्मणो, महाराज, आप लोग देवो को प्रसन्न करने के लिए इन निर्दोष और मूक प्राणियो की बलि देना चाहते है। परन्तु सोचा है कभी, इस कर्म में क्रूरता है। इन जीवों को मारने का अधिकार तुम्हें किसने दिया ?'

तरुण के प्रश्न का उत्तर न मिला। सब स्तब्ध हो सुनते रहे। वह फिर बोला—'धर्म की प्राप्ति निरीह जीवो की हिंसा में नही है। हिसा स्वय महापाप है, उससे धर्म का पुण्यफल प्राप्त नहीं हो सकता। राजन्, बताइए, विष का वृक्ष हो, तो क्या उस पर सुधा के पुष्प, अमृत-फल लग सकते है ?'

सब वैसे ही स्थिर रहे। राजा आगे बढा—'तरुण-तपी, मै तुम्हारी शरण हूं। मेरा अपराध क्षमा करो। आज मुझे सत्य धर्म का रहस्य-लाभ हुआ। मैं आज ही महामात्य से मन्त्रणा कर, राज्य मे प्राणी हिंसा न करने के आदेश प्रकाशित करता हू।'

'तुम्हारा कल्याण हो !' केवल इतना ही कह, वह विरागी एक मुस्कान लिये वन की ओर लौट गया। और भाभी, यह उसी की कृपा का परिणाम है कि पिछले सप्ताह से हमे आमिष-आहार न मिला।'' इतना ही कहा उत्पलवर्णा ने।

राजांगण से लौटकर मै पुनः पाण्डव-पर्वत पर गया और अपन एक प्रिय पीपल-पादप के नीचे बैठा विचार-रेखा के चित्र देखता रहा। वह पूरी वेला हिसा-अहिसा के विवेचन मे व्यतीत हुई। कुछ देर बाद तृषा लगने पर मैं नदी की ओर चला। बीच मे, पहाडी का ढाल जहां आता था, वहा दोनो ओर एक गली-सी बन गई थी। जिसके सिर पर दोनो ओर बड़ी-बडी चट्टानें खडी थीं, जिन पर विशाल शिलाए झूल रही थी। मै अपने ध्यान मे मग्न चला जा रहा था कि सहसा एक बडा, अर्राता प्रस्तर-खण्ड मुझे अपना मस्तक छूता हुआ दिखलाई पड़ा। एक पल चूक जाता, और मेरी दृष्टि उस पर न पडती तो 'राम नाम सत्य' हो जाता है। क्योकि मृत्यु से कोई बच नही सकता। न तो ऊपर आकाश मे, न नीचे समुद्र के मध्य, न पर्वत की कन्दराओ मे, न किसी तहखाने मे ही पैठकर, हम काल के हाथो बच सकते है। ससार मे ऐसा कोई स्थान नही, जहां छिपकर, त्राण पाकर हम मृत्यु की झपट से बच सके।

शिला मेरे सामने गिरी और चूर-चूर हो गई। उसका टुकड़ा मेरे पैर पर लगा और घाव पड गया। उससे रक्त बहने लगा। मै रुका नही। कुछ बढकर एक ऊची शिला पर बैठ गया। तब क्या देखता हू कि देवदत्त भागा जा रहा है ! तो यह इसका कर्म था ! वह समझा, मेरा प्राणान्त हो गया है, सो कलक से बचने के लिए भागा जा रहा है। मैने स्वतः इतना ही कहा—'देवदत्त, तू अबोध है। नहीं जानता, तू क्या कर रहा है।'

आज मुझे गुरु की खोज मे जाना था कि देवदत्त ने मेरी यात्रा मे यह बाधा उपस्थित कर दी। स्वस्थ होने में कुछ दिन लग जाएंगे।

लड़खड़ाता मैं नदी-तीर पहुंचा। पहले पैर का घाव धोया। जल पीया। फिर भी ऐसा लगा, पेट कुछ मांग रहा है। हा , भूख...तुम भी आओ ! मैने आकण्ठ जलपान किया। लेकिन पानी से प्यास बुझती है, भूख नही।

सामने एक नाव आती दिखलाई दी। जब वह निकट आ गई तो मैने देखा, उसमे कुछ यात्री बैठे है। इस पार आकर उन्होंने एक छायादार पेड़ के नीचे अपनी गठरियां रखी और तनिक सुस्ताकर वे आहार लेने बैठे। उनके विविध व्यजनों और अचार-मुरब्बो की गन्ध मेरी नासिका पा रही थी। मैने स्वाद और क्षुधा के इस उभयपक्षीय प्रहार पर अपने को अरक्षित पाया।

यात्रियों ने कहा—'महाराज, आहार ग्रहण कीजिए।'

'नही, मै कुछ ही समय पूर्व ले चुका हू।' मैने अपने से ही विद्रोह किया। इस भूख और प्यास से मै दबने वाला नही। इसके वार से मैं मरूंगा नही। इस वन मे मैं उदरपोषण के लिए नही आया, तप के लिए आया हू। मेरी तृप्ति भोजन और जलपान से नहीं होगी। ज्ञान ही मुझे तृप्त कर सकता है। बुद्धि ही मेरी क्षुधा का निवारण कर सकती है। जब तक ऐसी सिद्धि उपलब्ध नही होती, स्वाद मेरा शत्रु है और भोजन मेरे लिए विष है।

मैं घोर-कठोर तपस्या करूगा।

27

'क्यों भाई, आचार्य आलार कालाम का आश्रम यही है ?'

मैंने आश्रम मे प्रवेश करते हुए एक तरुण सन्यासी से पूछा। वह बोला—'हा श्रेष्ठ, पूज्यपाद का आश्रम यही है।'

'तो, आवुस ! मै उनके दर्शन करना चाहता हू। इसी अभिलाषा से बडी दूर से आया हू।'

'किंतु सन्यासिन्, तुम मुझे आयुष्मान् न कहकर, लोक-भाषा मे आवुस क्यों कहते हो ? आचार्य सुन लेंगे, तो रुष्ट होगे। हमारे आश्रम के प्रथम नियम द्वारा शूद्र-भाषा का निषेध है।'

मैने कहा—'मै जानता था, ब्राह्मण और क्षत्रिय आख-कान, नाक-मुह लेकर ही जन्म लेते है। आज मुझे मालूम हुआ, वे अपनी मां के गर्भ से, भाषा को साथ लेकर भी, जन्म लेते हैं। तुम्हारा आभारी हूं।'

'बडे उद्दण्ड हो युवक !'

मैंने उत्तर दिया, पूछा—'तुम्हारी तपस्या का उद्देश्य क्या है ?'

'आत्म-कल्याण।' उसने रट्टू तोते की तरह घिसी हुई बात कही। मै बोला—'नही, लोक-कल्याण।' और यदि लोक-कल्याण हमारा लक्ष्य है तो लोक की भाषा हमारी भाषा है। अच्छा, जाने दो इस विषय को। मै गुरु की खोज में निकला हूं।'

शिष्य ने चतुर दलाल की तरह अपने प्रचार की थैली खोली—'आचार्य से बडा गुरु कौन है ? उन्होंने सकल सिद्धिया प्राप्त की हैं। वे हवा मे उड़ सकते है और पानी में चल सकते हैं।'

'हवा में तो पंछी भी उडते है। और पानी मे जल-जन्तु जितनी प्रवीणता से चलते है, उतनी प्रवीणता दिखाने के लिए आचार्य को मगरमच्छ का जन्म लेना पड़ेगा।'

'अतिथि ! इतनी अश्रद्धा अच्छी नहीं। लो, गुरुजी सामने ही आ रहे हे।'

मैंने अपनी श्रद्धा समेटकर आलार कालाम को प्रणाम किया। उन्होने शुद्ध व्याकरण सम्मत, ब्रह्मनिष्ठ संस्कृत में मुझे आशीर्वाद दिया। बोले—'तरुण, वृद्ध माता-पिता को छोड़कर आए हो न ! और उस तरुणी पत्नी और नवजात शिशु का मोह भी तुम्हें न बाध सका ?'

मै आचार्य की वाणी से बडा प्रभावित हुआ। कैसे अपूर्व त्रिकालदर्शी है ! बाद मे मुझे ज्ञात हुआ कि कपिलवस्तु के कुछ सैनिक मुझे ढूंढते हुए इधर आ निकले थे। उन्हीं से आचार्य को मेरा परिचय प्राप्त हुआ था। इस समय तो, मैने उनके पैर पकड़ लिये, अवश्य अपना शिष्य बनाइए मुझे। मेरा उद्धार आपके हाथ है। आचार्य ने शिष्य-समुदाय की ओर गर्व से देखा—'तुम्हें इन्द्रिय दमन करना होगा।'

'आचार्यवर का कथन यथार्थ है। परन्तु पिछले वर्ष मैंने स्वाद को वश में किया है और रसना को जीता है।'

'तब तुम्हे स्थूल से सूक्ष्म म पहुचना होगा। देह से मन की ओर आना होगा।

'गुरुदेव, मैंने सूक्ष्म और स्थूल को भली-भांति जान लिया है। मेरा मन मेरे वश मे है। जिस प्रकार राह चलता पथी विगत पंथ की ओर नहीं देखता, उस प्रकार मैं भोग-मार्ग को छोड़ चुका हू, मुडकर उसे नही देखा।' आलार कालाम अपनी तीक्ष्ण दृष्टि से मेरी तरुण काया और अत्यन्त काले केश देखते रह गए।

'क्षमा करे, आवुस कालाम। आप इस धर्म को स्वय जान, साक्षात्कार कर बतलाते हैं ?'

'हा, आवुस। मै इस धर्म को स्वयं जानकर, साक्षात्कार कर विहरता हू।'

'यह सब तो मै भी जानता हूं।'

'तब तो वडा लाभ होगा हमें। तुम जैसे ब्रह्मचारी को देखकर मुझे प्रसन्नता हुई। मै तो जिस धर्म को स्वय जानकर बतलाता हूं, उस धर्म को तुम भी स्वय जानकर विहरते हो। उस धर्म को मै स्वयं जानकर, उसका उपदेश देता हूं। जिस धर्म को मै जानता हू। इस दृष्टि से, जैसे तुम, वैसा मै। जैसा मै वैसे तुम। अब आओ आवुस, हम दोनों सन्यासियो के इस गण को धारण करे। आज से तुम भी यहा के मेरे समकक्ष आचार्य हो।'

इतना कहकर आलार कालाम ने अपने शिष्यों को बुलाया और मुझे आचार्य पद पर प्रतिष्ठित किया। आचार्य कालाम के हृदय की सहज गुण-मुग्धता देखकर मै बहुत प्रभावित हुआ। उनकी इतनी आयु ! जितने वर्ष उन्होंने व्यतीत किए, उतने दिन भी संसार मे आए, मुझे नही हुए। उन्होने आचार्य होते हुए भी मुझ अन्तेवासी को समान पद प्रदान किया। कुछ दिवस पश्चात् मुझे ऐसा लगा आलार-कालाम जिस धर्म की शिक्षा दे रहे है, वह धर्म न निर्वेद के लिए है, न विराग के लिए, न निरोध के लिए है, केवल आकिचन्य आयतन प्राप्त करने के लिए है। जब मुझे इस विश्वास की प्रतीति हो गई तो मै इस धर्म-दीक्षा को अपर्याप्त मानकर उससे विरक्त हो गया। और एक सुबह आलार कालाम को नमस्कार कर, चल दिया।

सोचा, मै इस तरुण वय मे घर से निकल पडा हू। केश-श्मश्रु मुंड़ा, काषाय पहन उदास ब्रह्मचारी बना हू। अश्रुमुख पत्नी और माता-पिता को अत्यन्त कठोरता से, रोता छोड़ आया हू। यदि फिर भी मेरे मन का प्रश्न-प्रश्न ही बना रहा, तो क्या लाभ प्रव्रजित होने से ? इस दृश्य-अदृश्य जगत् में 'क्या उत्तम है' की मैं खोज कर रहा हूं, यों मैं किंकुशल-गवेशी हू। मुझे अपने प्रश्न का निदान पाना है। आश्रमो मे यों पेट-भर खाना और चैन से बैठकर गृहस्थियों से गप्पे लड़ाना मेरा धर्म नही। तब मैंने शपथ ली, जब तक मुझे सिद्धि की ज्योति न मिल जाएगी मै सभी प्रकार के प्रमाद से परे रहूंगा।

वन-वन, पथ-पथ, गिरि-गिरि, कदरा-कंदरा—जहां-जहा, किसी साधु संत के होने का मुझे पता लगता, मै पहुचता। भटकते-भटकते कई दिन निकल गए, तब मैं अनुत्तर शाति के परम पद को खोजता हुआ जहां उद्रक-रामपुत्र था, वहां गया। मै इतना

आकुल था, मेरी ज्ञान-पिपासा इतनी बेचैन थी कि, मै अपने को मौन न रख सका और उद्रक-भिक्षुओं के डेरे-बाहर से ही चिल्लाया—'आवुस राम ! प्रणाम करता हू। मै कपिलवस्तु के शाक्य शुद्धोधन का पुत्र हू और किकुशल-गवेषी हू। तुम्हारे इस धर्म-विनय मे मैं ब्रह्मचर्य वास करना चाहता हू।' एक सास मे मै सब कह गया। मुझमे इतना धैर्य न था कि रामपुत्र मुझसे परिचय पूछे और मैं उसका उत्तर दूं और यो व्यर्थ ही समय नष्ट होकर मेरी अभिज्ञा-प्राप्ति में विलम्ब हो। उद्रक रामपुत्र ने प्रसन्न होकर कहा—'विहरो आयुष्मान् ! यह धर्म-विनय ऐसा आश्रम है जहा विज्ञपुरुष न-चिर मे आचार्यक-विशेषज्ञता को स्वयं जानकर साक्षात्कार कर, प्राप्त कर विहरते हे।' तब राम ने मुझे समाधि की सात अवस्थाएं और 'नैव सज्ञा-नाऽसंज्ञा-आयतन' बतलाया। तो मैंने उससे कहा कि यह सब तो मैं जानता हू। परीक्षा दे सकता हू। कुछ और बताओ। उत्तर मे वह बोला—'हे राजपुत्र, मेरे इस विनय मे कई वृद्ध श्रमण है। कुछ ऐसे भी हैं, जो शताब्दियो से तप कर रहे है परन्तु वे समाधि की अवस्थाओ मे पारगत नही हैं। मैं भी अधिक नहीं जानता हूं। जैसे तुम हो, वैसा ही मै हू। आओ आवुस ! हम दोनो, भिक्षुको की इस मंडली की अध्यक्षता धारण करें।'

मै बोला—'रामपुत्र, मै अध्यक्षता करने नही निकला हू। विश्व की मानवता दु ख और अशान्ति की खन्दक में बिलख रही है। उसे संदेह-मुक्ति का शुभ-सवाद देना है। मैं उसी अनुत्तर शान्ति की खोज में चला हूं, तुम्हारे पास वह नहीं, तो मै और कहीं जाऊंगा। अच्छा, नमस्कार ! कष्ट के लिए क्षमा करना।'

मै चल पडा तो उद्रक रोककर बोला—'सिद्धार्थ कुमार, ये फल तो खाते जाओ। तुम भोर से भूखे हो बन्धु !'

मैने सुना, न सुना।

फल और रोटी, प्रासाद और पद्मिनी—इस चक्कर में मै फंसने वाला नही। मै बहुत कठोर हू। अपने आप से लड़ रहा हूं और अपने ही से न हारूगा।

अब मुझे एक ही बात का खेद था। अज्ञान सब कहीं है, ज्ञान कही नहीं है। मेरी भूख-प्यास, निद्रा-जागृति सब उड गई। पैर बढते गए। अब तो इन्होंने कटको मे चलना सीख लिया था।

दिन, सप्ताह, पक्ष, मास और वर्ष वात्याचक्र के पत्तों की तरह उड़े जा रहे थे : अब तक मैंने सभी दर्शन देखे। योग-विद्याएं सीखीं। समाधियों मे बैठा। और भी बहुत कुछ किया परन्तु शान्ति न पा सका। जब मैं स्वय अशान्त हू, चराचर को शान्ति कैसे दे सकता हू !

मैं उजाड वन-खण्डों में जाता, गिरि-गुहाओ में घुस जाता और महीनो श्वासोच्छ्वास रोके समाधि में लीन रहता। पेट मे भयकर वेदना होती। शरीर में शूल उठता। तप के कारण सारी देह जल उठती पर मेरी लगन और मेरा उत्साह न जल सका। मेरी आशाएं भंग न हुई। निश्चय अचल रहे और उग्रातिउग्र-तप चलते रहे।

शीत-ऋतु मे म अति शीतल जल मे आकण्ठ बैठकर, योग साधना करता ग्रीष्म में जब धरती-आकाश आग उगलते, तब मैं चारो ओर धधकती अग्नि जलाकर बीच में अकम्प बैठा रहता। वर्षा-काल मे मै खुले मैदानो मे नग्न पडा रहता। मैने गुरु की आज्ञा से पावस की अनेक राते उस घनी झाडियो में सो कर बिताई, जहा सभी प्रकार के हिंस्र जन्तु—सिह, रीछ, नाग, साप सोए रहते। उनकी सास की घर्र-घर्र और गध का अब भी मै स्मरण कर सकता हूं। मेरे इस उग्र तप को देख-देखकर व्यवसायी ब्राह्मणो के टोले मेरे पास आते और अपना गुरु बन जाने के लिए विनती करते। परन्तु मैं उनकी मक्कारी खूब जानता था। वे मेरी ओट मे अपना उद्योग चलाना चाहते थे। जब-जब वे आए मैने उन्हे निकाल बाहर किया। मै स्पष्ट कह देता—'मेरे पास शान्ति नहीं, ज्योति नही, विप्रो, तुम कही और जाओ।' तब भी यदि वे मेरा पीछा करते तो मै रात मे उन्हे तजकर चल देता।

मैंने वर्षो वृक्षो पर चढ़कर तपस्या की। डाल से उलटा लटक, नीचे धुआ जलाकर मै ज्ञान के लिए हठ करता रहा। महीनो कांटो की सेज पर सोया। धरती मे गडा रहा। नदियों मे तैरता रहा। एक टांग से खडा रहा। शीर्षासन लगाए रहा। अमावस्या की रात श्मशान मे शव की छाती पर बैठकर मन्त्र-तन्त्रों की साधना देखी, पर मेरे मन का कोलाहल वैसा ही रहा, विश्व का क्रन्दन वैसा ही रहा। मैंने पाया, शान्ति इन सबमे नहीं है। यह सब मिथ्या है। यह सब प्रपच है, यह सब धोखा है। ये तपस्याए झूठी है।

प्रान्त-प्रान्त, बन-बन, देश-देश, आश्रम-आश्रम, मै छानता गया। यात्रा का न आदि मिलता था न अंत।

मैने भविष्य-वक्ता ज्योतिषियों के साथ रहकर आगम-वाणी और सामुद्रिक शास्त्र सीखे। वहा पाखण्ड वर्तमान था। फिर एकान्त-सेवी गुरुओ की सेवा मे रहा। एक गुरु ऐसे मिले, जो केवल खेत मे गिरे हुए अन्न के दानो पर निर्वाह करते थे। उनकी सगति मे रहकर मै भी उंच्छव्रती बना। निरा-पशु-सा जीवन था वह। नैष्काम्य मार्गाख्यायी की प्रतिशरण मिलती नही थी। त्रैचीवरिक संतो का अनुशरण किया। और देखा कि वे तो केवल वस्त्रो की संख्या को ही मनसिकरणीय समझ बैठे है। सो, मै ऐसे धर्म से उदास हो, चल दिया।

किंकुशल-गवेषी मैं शान्ति-पद की लगन में मगन, मगध मे चारिका करता रहा। बडी सुन्दर थी वह धरती—रम्य भू-भाग, मधुर वनश्री, रुचिर, रुचिर प्रान्तर और बहती नदी देखी। पास ही भिक्षाटन-योग्य ग्राम्य देखा। मेरे मुह से निकला—'रमणीय है यह भूमि-भाग। प्रधान के लिए यह अल है।' और मै वहीं बैठ गया। उस समय मुझे अद्भुत, अश्रुतपूर्व तीन उपमाओ का भान हुआ—जिस भाति गीला-काष्ठ जल में डाला जाए। कोई आकर उसे उठा ले, कहे इस काष्ठ से आग जलाऊंगा, तेज उत्पन्न करूगा, भोजन बनाऊगा आदि। और वह उत्तरारणी (रगडकर अग्नि निकालने की लकडी)

से उस गीली और भारी लकडी से अनल जला लेने का प्रयत्न करे, तो वह व्यक्ति पीडा का ही भागी होगा। और भले ही थककर चूर हो जाए, लकडी नही जलेगी। उसी भाति जो व्यक्ति वासना मे लीन हो विचरते है, जिनकी काम-रुचि, काम-स्नेह, काम-मूर्छा और काम-पिपासा, लकडी की आर्द्रता की भाति भीतर से नहीं छूटी है, अशमित है, तो ऐसे व्यक्ति प्रयत्न-बद्ध होने पर भी निरन्तर वेदनाए सह रहे हैं और उन्हे परम ज्ञान का अनल प्राप्त नहीं होता।

और जिस प्रकार स्नेह युक्त गीला काष्ठ जल के समीप स्थल पर पडा हुआ हो, और उससे भी अग्नि प्रकट नही हो सकती। और केवल उसी नीरस, शुष्क काष्ठ से हो सकती है, जो जल से दूर सूखे स्थल पर पडा हो। उसी प्रकार जो कोई व्यक्ति—श्रमण, ब्राह्मण, काया-द्वारा, काम-वासना और भोगों से अलिप्त हो विहरता है, और जिसका अन्तरतम भी काम-दाह से सुप्रहीण है, सुषमित है वही उस परम ज्ञानरूपी अग्नि को प्रकट करने में समर्थ है, जो सारे बाधा-बन्धनों को भस्म कर देती है।

इसके दूसरे मास, जाने कैसे मेरे मन मे आया—क्यो न मै दातों पर दांत रख, तालु को जिह्वा से दबाकर, मन से मन का निग्रह करू। और मैंने दात पर दात रख, जिह्वा से तालु दबाया। इस प्रक्रिया मे कुक्षि से स्वेद बहने लगा, जैसे कि कोई बलवान पुरुष किसी दुर्बल का शीश और कन्धा पकडकर उसे धर दवाए, तपाए। इस प्रयत्न मे मेरी स्मृतिया बनी रही, काया तत्पर रही। मेरे सम्मुख दूसरी क्रिया श्वास रहित ध्यान की थी। तत्काल मैने उसका अनुसरण किया। मुख और नासिका में सांस का आना-जाना रोक दिया। तब मेरे मुख और नाक से श्वास-प्रश्वासों के रुद्ध हो जाने पर, कर्ण-छिद्रो से निकलते वात के कारण बहुत अधिक झकार होने लगे। जैसे लोहार की धौंकनी से धौकने पर बहुत अधिक शब्द होता है, वैसे ही मेरे कानो मे धौकनिया चल रही थी। फिर मैने मुख, नासा और कर्ण तीनो इन्द्रियो से श्वास-रहित ध्यान किया तो मूर्धा मे बहुत-सी वात टकराने लगी। और ऐसा प्रतीत हुआ मानो कोई मेरे सिर का मन्थन कर रहा है। सिर मे पीड़ा होने लगी। मेरा यह संकल्प उग्र था। पेट मे शूल उठने लगा, मानो कोई विकर्तन से उदर काट रहा है। सारी देह में दाह होता था। जैसे कोई अंग-अग को अंगारों पर तपा रहा है।

यही मुझे कौन्डिय और उसके चारों साथी—वप्र, भद्रिय, महानाम और अश्वजित मिले। ये मेरे जन्म के समय से ही प्रव्रजित हो, वर्षों से भिक्षाटन कर रहे थे। जब इन्हे मेरा पता चला, तो खोज करते हुए आ पहुंचे और तन-मन से मेरी सेवा करने लगे। ये मेरे चीवर धोते, वासस्थान को स्वच्छ रखते और विविध भाति की परिचर्याओ से प्रसन्न रहते कि श्रमण गौतम जिस धर्म को प्राप्त करेगा, उसे हमें भी बतलाएगा। सदैव मेरे अनुचर बने रहते और मेरे आदेश की प्रतीक्षा करते। इन्हे मेरा तप देख, सदैव यह आशा लगी रहती कि अब गौतम बुद्धत्व को प्राप्त होंगे, अब यह बुद्ध बनेगे। और मैं सोचता रहता, अभी मेरी मंजिल बाकी है, अभी मुझे बहुत चलना

हे, अभी तो मेने चलना साखा है। इस धुन मे मै तप-लीन रहा और इन पाचो शिष्यो ने सोचा—'छः वर्ष होने आए श्रमण गौतम उग्रतर तप कर रहा है, परन्तु इसे अभी तक बुद्धत्व प्राप्त नहीं हुआ। अब इसके साथ अधिक रहने मे कोई सार नही। यह स्वय असफल रहा है। जिधर जाना है ग्राम और नगर-जन इसका परिहास करते हे, इसलिए, इसका साथ छोड देने मे ही कल्याण है, यदि सग रहे तो इसकी असफलता मे हिस्सा बंटाना पड़ेगा। यह तो केवल एक बदरी-फल पर रहता है, किंतु हम तो ब्राह्मण है ! हमें तो पेट-भर भोजन चाहिए। भूखा रहकर तो भजन नही किया जा सकता।'. .यह जान, मै स्थूल आहार ग्रहण करने लगा। तो इन्होंने इसमें भी बुराई देखी। और 'श्रमण गौतम बाहुलिक है। बाहुल्य-परायण है। पेटू है। इससे कुछ आशा रखना ओस-बिन्दु से सिर धोने के समान है'—कहते मेरा तिरस्कार कर, अपने झोली-झडे उठा, चले गए।

जब ये पांचों अनुचर न रहे, तो मैने चैन की सास ली। चलो छन्द छूटा। अब मै अधिक एकाग्र होकर सिद्धि का स्वागत करूगा। लेकिन पेट ने पूछा—भद्रिय के बिना भिक्षा कौन लाएगा ? मैंने कहा, मैं भूखा ही रह जाऊंगा। और निश्चयपूर्वक मैने भावी कार्यक्रम बनाया—क्यो न आहार का सर्वथा त्याग कर दूं ! तब देवो ने आकर कहा—'मार्ष, तुम भले भोजन तज दो। हम तुम्हारे रोम-कूपो-द्वारा दिव्य ओज डाल देंगे, उसी से तुम निर्वाह करोगे। इस भव्य भोजन के योग से तुम्हें क्षुधा-बाधा न व्यापेगी।'

'नही। रहने दो'—मैंने देवों का भोज अस्वीकार किया। यदि ऐसा न करता तो, मेरा तप मृषा होता।

दिनो से निराहार और श्वास-निरोध के कारण एक दिन मैं असुध अवनी पर पडा रह गया। मेरी यह दशा देख-देख पथिकजन कहने लगे—'श्रमण गौतम मर गया है। सन्यासी सिद्धार्थ मर गया है।' 'चलो एक पाखंडी कम हुआ।' सुनकर ब्राह्मण बोले।

यह मिथ्या सवाद यों फैलता गया, फैलता गया। झूठी अफवाह की गति पवन से भी अधिक होती है।

खबर यह कपिलवस्तु पहुची। और शाक्य शुद्धोधन से कहा गया, 'आपका बेटा मर गया।'

शुद्धोधन ने पूछा—'क्या वह बुद्ध बनकर मरा या उससे पूर्व ?'

'देव, वह बुद्ध बनने मे असमर्थ रहा। और बुद्धत्व प्राप्ति के प्रयत्न मे असफल भटकता रहा। उसकी मूर्खता, हठ और दुराग्रह के कारण किसी ने उसका साथ न दिया और बनान्तर मे वह अकेला ही भूखो मर गया। अन्त समय मे कोई पानी पिलाने वाला भी न मिला। न कोई उसे चिता-दान दे सका। यों ही खुले मैदान मे चील- कौए नोंच कर खा गए।...राजन् ! हमने अपनी आंखों से देखा है।'

'मैं नहीं मानता। मुझे विश्वास नहीं होता। जब तक मेरे बेटे को बुद्धत्व प्राप्त

नही हो जाता, मृत्यु उसका बाल भी बाका नही कर सकती। तुम सब झूठ हो। . प्रहरी, इन बदमाशो को पकड़ लो। और इनके हाथ-पैरो मे मन-मन-भर लोहे की बेडियां डाल दो। ताकि उनकी झंकारें सुनकर इन्हे अपने किए पर पश्चात्ताप हो।...मै इस बात पर कदापि विश्वास नहीं कर सकता। मैंने स्वय कालदेवल को सिद्धार्थ की चरण-रज लेते देखा है ! कौन्डिय ने सिद्धार्थ के बुद्ध बनने की घोषणा की थी। विधाता की रेखाएं झूठ हो सकती है, कालदेवल का कथन मिथ्या नही हो सकता। और बन्धुमान्, तुम्हे याद होगा उस दिन जम्बू-वृक्ष के नीचे हमने सिद्धार्थ का, भावी बुद्ध के रूप में दर्शन किया था।'

सूनी पगडण्डियों के किनारे, वन वृक्षो के नीचे बैठा मै राहगीरों के मुख से विविध वार्ताएं सुनता रहता। और जो ज्ञानी थे, वे कहते थे—'श्रमण गौतम नही मरा, न मरेगा। श्रमण गौतम अर्हत है। अर्हत का विहार इसी प्रकार होता है।'

तब मैंने निराहार को मिथ्या मान, यह सोचा कि क्यों न मै थोड़ा-थोड़ा आहार ग्रहण करू—पसर-भर मूंग का जूस, मटर या आहार का जूस लेना चाहिए। थोडा, पसर-भर मूंग या दूसरी दालो का जूस लेते रहने पर भी, मेरी देह दुर्बलता की परम सीमा पर पहुंच गई। मेरा अंग-प्रत्यंग आसीतिक की ग्रन्थियों-सा गोचर हुआ। उस अल्पाहार से मेरा आनिसद ऐसा हो गया जैसे ऊंट का पैर हो। पीठ की हड्डिया सूओ की पाति-जैसी ऊची-नीची हो गई। मेरी पसुलियां पुरानी शाला की कडियो के समान ओलुग्ग-विलुग्गा (अहण-बहण) हो गई। जैसे गहरे कुएं में पानी का तारा—उदकतारा गहराई में बहुत दूर दिखाई देता है, वैसे मेरे चक्षु-तारक थे। जिस प्रकार कच्चा ही तोड लिया गया कडुआ लौका पवन और धूप से चिचुककर, मुरझा जाता है, वैसे ही मेरे सिर की चमड़ी चिचुक गई थी। यदि मैं पेट की खाल को मसलता, तो पीठ के कांटों को पकड़ लेता और पीठ के कांटों को मसलता तो पेट की खाल पकड लेता था। उन दिनों मेरा पीठ और पेट एकदम सट गए थे। यदि मै दिशा जाता, वहीं चकराकर गिर पडता था। और जब मैं अपने शरीर को सहलाते हुए हाथ से गात को मसलता था, तब देह से सड़े मूलवाले रोम झड़ पड़ते थे।...मुझे इस दशा मे देखकर पनघट की अपरिचित स्त्रियां भयभीत हो भाग जातीं। लोग कहते थे—श्रमण गौतम काला है। नहीं, काला नही श्याम है।...वे परस्पर तर्क करते। श्रमण गौतम न काला है, न श्याम ही है, वह तो मंगुर वर्ण है। इस कथोपकथन से मेरी उस अवस्था का अनुमान लग सकता है। मेरा वह पूर्वकालीन परिशुद्ध परिअवदातछवि-वर्ण नष्ट हो गया !

इस तपस्या पर मैने निर्णय दिया—पुराकाल मे जिन-किन्ही साधकों ने घोर कष्ट सहे, कटुतम वेदनाएं सही, वे इससे अधिक नही, इतने ही पर्यन्त थीं। भावी मे भी जो कोई साधक कठोर कष्ट सहेगा, उसकी सीमा का अन्त भी यहीं होगा। और आज वर्तमान में भी जो कोई साधक तीव्र तप ताप सह रहे हैं, वह भी यही

तक है। इतने पर भी परम तत्त्व अप्राप्य रहा। और इस दुष्कर कारिका से भी उत्तर-मनुष्य-धर्म--अलमार्य-ज्ञान-दर्शन विशेष न पाया, तो अवश्य बोध के लिए कही कोई दूसरा मार्ग है। अव मुझे उस मार्ग की खोज करना चाहिए।

तब मै कुल्माष (दाल-भात) ग्रहण करने लगा। इससे सबल हो, वितर्क तथा विचार सहित, विवेकज, प्रीति-सुखवाले प्रथम ध्यान को प्राप्त हो विहरने लगा। इसी प्रकार मुझे द्वितीय ध्यान की प्राप्ति हुई। फिर मैं प्रीति और विराग की उपेक्षा कर, सुख विहारी बन विहार करने लगा।

इस प्रकार मेरे दिन बोतते गए। पर परम-ज्ञान परे और परे रहा। और तपस्या के ये वर्ष तो ऐसे बीते, मानो कोई वर्षो हवा की गाठे बाधने का विफल प्रयत्न करता रहे। तथापि, लोग आते, साधुओ के सघ आते और मुझे नाना प्रलोभन देते। वे मेरी तपस्या का प्रदर्शन करना चाहते थे। मुझे सुख-सुविधा, गुण-गरिमा और धन-कचन से ढंक देना चाहते थे और जब मैंने यह सब अस्वीकार किया, तो वे कहने लगे—'सिर फिरा है गौतम।'

वे मुझे पागल कहते थे क्योकि मै अपने अनमोल क्षण सोने-चादी के बदले बेचने को तैयार न था। मैं पेट के उन गुलामो से घृणा करता था। और मुझे इस वात पर तरस आता था कि क्यो कर वे सोचते है—मेरे प्रयत्न और पलो का मोल किया जा सकता है। मेरे परिजन छूटे थे, नाते टूटे थे। साथ मे साथी नही था। दिशाएं विपरीत थीं और पवन प्रतिकूल थे। पर, मन मे मर मिटने का मान और सिद्धि पाने का सकल्प था—कौन जाने, शायद इसी कारण, मै इन दिनों बहुत प्रसन्न रहता था।

28

मगध में चारिका करते हुए मै उरुवेला नामक सेनानी निगम मे पहुचा। वहा मैने एक प्रासादिक प्रान्तर के वन-खड में बहती एकाकिनी सरिता को देखा।

उस निर्जन में किससे पूछू इसका नाम ? लेकिन अपनी कल-कल में नेरजरा नाम वह स्वयं ही बता रही थी। पास ही कुछ और ग्राम भी थे। नेरजरा के स्वर से ऐसी ध्वनि आती थी मानो तुषित-लोक की किसी देवकन्या का स्नेह इस लोक मे सरित् बन बह निकला है और कल-कल में अपना पूर्व-प्रेम-गीत गा रहा है। एक स्वर, एक तान, एक लय—मुझे नेरजरा की यह एकनिष्ठता भा गई। मन मे किसी ने कहा—'यदि ऐसी निष्ठा ले तुम अटल बैठ जाओ, तो बुद्धत्व स्वयं चला आएगा। तुम्हे कहीं जाना न पडेगा।' और परमाथ-उद्योगी कुलपुत्र की साधना में सहयोगिनी होगी यह भूमि। इस अनुमान पर मैं वही विचरण करने लगा।

तप मेरा चल रहा था। एक ऊची, काफी चोडी और सघन श्याम शिला पर मैं बैठा था। यह समाधि कई दिनो तक चलती रही। एक दिन की बात है। दोपहर का प्रचण्ड प्रभाकर पृथ्वी के अग-अग को उबाल रहा था। चारो ओर सूना-सन्नाटा था। ऐसे समय, जाने कैसे मै सज्ञा-शून्य हो गया और जाने कब तक वैसा ही पडा रहा। तभी उधर से एक मेषपाल गुजरा। उसने मेरी यह दशा देखकर सोचा, अभी जब इधर से निकला था तो यह सन्यासी ध्यानावस्था मे बैठा था, और अब इसे क्या हो गया है ? क्या तो, क्षुधा से जर्जर इसकी देह तीव्र ताप को सहन न कर सकी है, क्या यह तृषाकुल होकर बेसुध हो गया है। अब मे क्या करूं, कहां जाऊ ? मैं तो शूद्र हू और यह उच्चवर्ण है। इसे कैसे छू सकता हू ?.

उसने अपनी प्रेमिका को, जो कही दूर, गाए चरा रही थी, पुकारा—'अरे ओ ..शएला...आ...आ...अइ...शैला !'

किंतु कही से कोई उत्तर न मिला और दूर चरागाहो और पास की पहाडियो से गूंजकर उसकी पुकार खाली लौट आई। मेषपाल दुःखी हुआ। उसकी आखो मे आसू आ गए। मेरे जीवन मे मेरे लिए बहाए गए वे सबसे कीमती आंसू थे।

मेषपाल नेरंजरा-तीर से एक द्रोण मे जल भर लाया और उसने मेरी आखो पर उसका अभिसिंचन किया। सिर पर भी जल के कुछ छींटे दिए। धीरे-धीरे मेरी सज्ञा और उसकी मुस्कान लौट आई । परन्तु दो पल पर ही वह मन्द पड गई। भयभीत-सा वह बोला—'मुझे शाप न देना स्वामी ! मैने अपराध किया है कि भगवान् का स्पर्श कर लिया है। मै परम शूद्र हूं।'

सस्मित मैं बोला—'दूसरो के प्राण बचाने वाला शूद्र नही होता। और भगवान् इसीलिए है कि तुम उसका स्पर्श करो। वह भगवान् नही है, जिसका स्पर्श करते भक्त का मन भयग्रस्त हो जाए।'

'मैं देव का दर्शन कर, धन्य हुआ महाराज !'

'भाई, तुम मुझे थोडा दूध दे सकोगे ? उससे मेरी भूख का शमन होगा।'

'देव, मेरे हाथ का पय आप पान करेंगे ?'

'क्यों नहीं, तुम ऊच-नीच के भेद से न डरो। यह मनुष्य-कृत है, दूध देवकृत है। और जो देवकृत है वह कभी मानवीय पंक से कलकित नही हो सकता।.. बडा मधुर है तुम्हारा दूध। कुछ और दो भाई !'

और वह निर्द्वन्द्व, भोला ग्रामीण मुझे बड़े प्रेम से पय-पान कराता रहा। उसकी मुद्रा से मुझे ऐसा सकेत मिला, मानो वह कुछ कहना चाहता है, पर अपने मे ही उलझ रहा है। मैने पूछा—'कुछ कहना चाहते हो ?'

"महाराज " वह लजा गया। अभी तरुण ही था यह मेषपाल। मूछ की रेखा बन रही थी। घने घुघराले बाल थे उसके ! दृष्टि स्वच्छ थी और भावना निर्मल थी।

मैने उसे आश्वस्त किया—'कहो।'

'महाराज ! मेरा हाथ तो देखिए। यह शैला है न, मेरे पड़ोस में रहती है। यही

नेरजरा के पार गौएं चराती है। बड़ी लड़ाकू है महाराज ! पर मुझे मानती है। उस दिन कहती थी.. । जरा हाथ देखिए न ! आप तो तीन लोक की लीला जानते है।'

मै बड़े सकोच मे पड़ गया। अपने इस उपकारी को कैसे समझाऊ ! दुनिया मे किसी का तनिक भी उपकार लेना, कितना बोझिल कर्तव्य बन जाता है ! ज्यो-त्यो बुझाकर मैने उसे बिदा किया। दूसरे दिन वह फिर आया—'महाराज, कल आपने भविष्य नही देखा, किन्तु शैला स्वय ही हमारी चौपाल चली आई। मा कहती थी, अगले बैसाख हमारा ब्याह हो जाएगा। मै समझ गया था, यह आपकी कृपा का फल है। आपने हाथ तो न देखा, पर पीत जरूर कर दिया।'

और वह जैसे दक्षिणा देता हो, बोला,—'दूध पीएंगे महाराज !'

'नही, आज मेरा व्रत है।'

वह दण्डवत् बिदा हो गया। फिर बडी देर तक दो दिशाओ में दो बसरिया बजती रहीं। बासुरी दो थीं, पर सुर उनका एक था। कण्ठ दो थे, किंतु राग एक था, शरीर दो थे, पर प्राण एक था।

प्रेम की इस तन्मयता पर मेरा मन मोहित हो गया। फिर मै समाधि की तैयारी मे लग गया।

मैने अभी लोचन-पट बद कर, दृष्टजगत् से दूर प्रस्थान किया ही था कि उस मार्ग से होकर कुछ राहगीर निकले। गायक और वादक थे यह। किसी सामन्त के घर पुत्र जन्मा था, वहां समारोह में सम्मिलित होने जा रहे थे। आगे-आगे अपने घुघरू छमछमाती एक नर्तकी और पीछे-पीछे उसकी दो सहेलियां थीं। उनमें से एक बजाने वाली और दूसरी गाने वाली थी। परस्पर परिहास करती वे जा रही थी कि गायिका ने वाद्य-तन्त्री बजाने वाली सहेली से कहा—'क्यो री झुन्नो, तूने बीना के तारों को इतना तो नहीं कस दिया है कि वे टूट जाए ? टूटे तारों से झंकार नहीं निकलेगी, यह याद रखियो।'

इस पर आगे जो नर्तकी चल रही थी, वह बोली—'और सुन री कट्टो, तारो को इतना ढीला भी न छोड़ दीजियो कि तान ही न निकले।'

इस पर गायिका ने कहा—'हा री बन्नो, मै क्या कोई अयानी हू, जो ऐसा करूगी, मैंने अपनी बीना के तारों को न तो अधिक तान लिया है और न अधिक ढीला ही रख दिया है, जब तार ही न रहेगा, तो तान निकलेगा कहां से ?'

इन पथियो ने मेरी आखें खोल दीं। ये नर्तक, गायिकाएं और इनकी सहेलिया मेरी पथदर्शिकाएं बन गई। ओह मेरे भ्रम का, मेरी भटकन का अन्त नहीं। मैंने अपनी जीवन-वीणा के तारों को इतना कस दिया है कि वे अब टूटने ही वाले हैं। पहले यह तार ढीले थे, जब मै राजप्रासाद मे था। उस रागातिरेक ने मुझे दुःख दिया ! अब विरागातिरेक मुझे व्यथित कर रहा है। सचेतना जागी—मध्यम मार्ग ही आत्म-कल्याण का सही मार्ग है। गति ऐसी न हो कि दुर्गति बन जाए, विगति ऐसी न हो कि अवगति

बन जाए। आज से मध्यम-मार्ग मेरा मार्ग होगा, मैंने निश्चय किया।

वशाख का महीना था। अस्थि-अन्तर्धान के लिए मै कठिन तपस्या कर रहा था। तव एकान्त मे ध्यान करते समय एक मुहूर्त मेरे चित्त मे यह प्रश्न उठा—संसार दु ख का अनन्त-सागर है। इसके प्राणी जन्म लेते है, वृद्ध होने है, मरते हैं। निखिल विश्व का सर्जन-विर्सजन है। दु ख के कारण संसार जरा और मृत्यु से छूटने का उपाय नही जानता। इस महारोग मे निःसरण का पथ उसका परिचित नही। दुःख के रहते उस पथ को कैसे पाया जाएगा ?

तव मैंने सोचा—किस कारण से जरा मरण है ? किसके होने से जरा-मरण होते है ? इनका प्रत्यय क्या है ? बहुत देर विचार-विमर्श के बाद मुझे अपनी प्रज्ञा से बोध हुआ—जन्म के होने से जरा और मरण होते है। जन्म के कारण जरा और मृत्यु हैं।

तब दूसरा प्रश्न उठा—जन्म का प्रत्यय क्या है ? क्या होने से जन्म होता है ? तब विचार का सूत्र वढता गया—भव के प्रत्यय से जन्म होता है। जन्म का कारण आवागमन है। लेकिन प्रश्न का निदान नही मिला—क्या होने से भव होता है ? किस प्रत्यय से भव है ? उत्तर मिला, उपादान के होने से भव होता है। भव का प्रत्यय उपादान है। फिर मन ने पूछा—और इस उपादान का मूल क्या है ? इसके अस्तित्व का आधार क्या है, कहा है ?

मन का प्रवाह स्वाभाविक गति से बह रहा था। अपने प्रश्न का उत्तर स्वय ही उसने दिया—ओ पगले, इतना भी नही जानता, उपादान का कारण तृष्णा है। तृष्णा के मूल से अशान्ति की शाखाए फूटती हैं।

और यह तृष्णा कहा से आई ? किसने इसे जन्म दिया ?

तृष्णा का आधार वेदना है। अनुभव के प्रत्यय से वेदना होती है। इन्द्रिय और विषय के एक साथ मिलने के पश्चात् चित्त मे जो विकार उत्पन्न होते हैं, वही वेदना है। बडी भयकर होती है यह वेदना। आदमी की मजबूरी है यह ! मजबूर आदमी क्या नहीं करता ?

तब नया प्रश्न आया—जब स्पर्श से वेदना, और वेदना से तृष्णा उत्पन्न होती है, तो स्पर्श का प्रत्यय क्या है ? क्या होने से स्पर्श होता है ?

षडायतन यानी छ. आयतन के होने से स्पर्श को आधार मिलता है। ये स्पर्श के कारण हैं। और ये छः आयतन कौन-कौन-से है, जरा उन्हें भी देखें।

आंख, कान, नाक, जीभ, काय और मन—ये हैं स्पर्श और वेदना, तृष्णा और उपादान के पूर्वज ! मन को चैन मिला। समस्या और समाधान का सूत्र बढ़ता जा रहा था। उत्तर यदि मिलते रहे, तो चिन्ता नही प्रश्न चाहें कितने ही आएं ! सो विचार उठा—इस षडायतन के जनक कौन हैं ? जिस प्रकार यह अपने पुत्रो का जनक है, उस प्रकार इसका भी कोई जनक होना चाहिए ?

तुरन्त निदान आया—नाम-रूप, नाम-रूप। ठीक। लगता है महामूल दूर नही है। और जानता हू, इस नाम-रूप का जनक है विज्ञान। विज्ञान सबका प्रत्यय है।

अब मन को अपने ही प्रश्नो ने मोह लिया। उसे अपने ही उत्तर प्रिय लगे। किंतु आगे का मार्ग ओझल था।

संसार की अनित्यता मेरे अन्तर मे गहरी पैठ गई थी। ससार का दूसरा नाम दु ख है, मजबूरी है, मायूसी है, असमता है और विषमता है। मैं इस दुःख को दूर करूगा। 'मै' का अर्थ सिद्धार्थ नही, मनुष्य, आज का मनुष्य, आगामी कल का मनुष्य। मेरा स्वप्न पूरा होगा, आज होगा। कल होगा। मेरे स्वप्नो को मूर्त्त आकार-प्रकार मनुष्य देगा। दु.ख की उत्पत्ति मनुष्य के हाथों हुई, तो उसकी मृत्यु भी मनुष्य के हाथों होगी। मनुष्य ने दु ख की रचना की, तो वह सुख की सृष्टि भी करेगा। सकाल समीप है, असमता पर समता विजयिनी होगी। मनुष्य अमर होकर विहार करेगा। क्योकि वह अमृत-पुत्र है।

और इन चक्राकार बहती तरग-मालाओ के बीच किसी की याद का सरोज खिल उठता। घनवती-सांझ के धूमिल अधकार के बीच दीपक की लौ-सी किसी की याद जल उठती—यशोधरा ..य शो ध रा। तुम हो।

और दो पल बाद वह आलोक-छवि अदृश्य हो जाती। मन अजाने, मायावी शून्य से भर जाता और उस अकाम शून्य की गहराइयो से एक अलबेली रागिनी गूज उठती। बडा लुभावना था उसका स्वर, यशोधरा तुम्हें बुला रही है। यशोधरा विकल है। लौट चलो। लौट चलो।

घने-घने अधकार। श्याम-श्याम राते। कोरे-कोरे आकाश। सूनी-सूनी वसुधा और यह एकाकी अन्तर। मर्म की मादक पुकार—सिद्धार्थ, अब लौट चलो ! सिद्धार्थ, अब लौट आओ। मै तुम्हारा वियोग अब नही सह सकती सिद्धार्थ। मेरे प्राण, लौटो-लौटो, तुम्हे राहुल की कसम ..सुनते हो निष्ठुर।...

नहीं। नहीं। नहीं।

मन ! अनोतत्तदह का पानी गंगा में बहता है। गंगा उसे बहाकर समुद्र की शरण ले जाती है। समुद्र उसे पाताल मे बहा देता है। मन, पाताल से वह पानी फिर कभी लौटकर नही आता, उलटकर नही बहता, उसी प्रकार मैं नहीं लौटूगा। तू पारिजात नही लौटेगा। सिद्धार्थ नहीं लौटेगा।

झाडियो में बरसती मतवाली राते। उरुवेला के वनान्तरों को पार कर आने वाला किसी वियोगिनी का गीत मेरे कानों में गूंज-गूंज उठता। इस निष्ठुरता की सीमा है ? इन बेकल झड़ियों-सी विकल घडियों में महल के वातायन मे यशोधरा जाग रही है। प्रत्यक्ष को छोड़कर अप्रत्यक्ष की ओर न दौड़ो हठी ! इस प्रण को छोडो, इस तप को छोड़ो। यश स्वयं मुक्ति है। अपनी मुक्ति तो तुम पारिजात में छोड आए, अब किस मुक्ति की खोज मे हो ? मुक्ति एक है, दो नही। और उसका नाम

है, यशोधरा .

लो, अपनी मुक्ति को पहचानो। कितनी दुर्बल पड गई है। इसकी इस दुर्बलता का श्रेय तुम्हे है। वक्ष के भार से आगे झुकी जा रही है। राहुल को दूध पिलाती इसकी यह झांकी देखो। इन प्रबुद्ध-पयोधरो का अमृतपान करके ही मनुष्य ने मृत्यु का ललकारा है। इस अमृत का एक ही बिन्दु पाकर कोई बुद्ध बन सकता है। तुम इसी को छोडकर अनास्था के इस विपिन मे चले आए, सन्यासिन्! अब भी समय है, चलो, लौट चलो, ! वह मदिराक्षी पत्नी, वह पिता, वह पुत्र। तुमने देखा हे, सामतो और श्रेष्ठियो को पुत्र्यष्ठि-यज्ञ करते। पर अपने दुलारे की ममता तुम्हे न व्यापी निर्मोहि! तो लौट चलो। यशोधरा अगवानी के लिए द्वार पर आकुल खडी है। महाराज तुम्हारा राजतिलक करना चाहते है। वे तुम्हारी बाट देख रहे हैं। क्यो भूल रहे हो कि मोह भी कभी-कभी जीवनाधार होता है। और तुम हो कि विमोह को जीवन मान बैठे हो। चलो, पिता बुलाता है, उसकी आखे देखो ! मा बुलाती है, उसके आसू देखो। पत्नी पुकारती है, उसका क्रन्दन देखो। पुत्र रोता है, उसका रुदन देखो, और कुछ न देखो, तो अपनी ओर ही देखो। लौट चलो, कपिलवस्तु का कण-कण तुम्हारी प्रतीक्षा कर रहा है। तुम्हारे आगमन पर सोती हुई शहनाइया जाग उठेगी और बीती हुई वधाइयां बज उठेगी। मा की, पिता की, पत्नी की पुकार सुनो!...हां, ऐसे खडे हो जाओ। अच्छा, हा हां...इधर है राह, तुम उठो तो सही।

मै गरजकर ललकार उठा—मारदेव, दूर हो जा! मुझे मोह की मकडी के जाले मे बांधना चाहता है? मै जानता हूं, माता बन्धन है। पिता वन्धन है। स्त्री बन्धन है। बन्धु-बान्धव बन्धन है। मित्र बन्धन है। धन बन्धन है। लाभ-सत्कार बन्धन हे। पाच काम-गुण बन्धन है। मैंने इन सभी बन्धनों को काट दिया है। मार, मे कटे पाश मे फिर नही बध सकता। मैं अपने ज्ञान को पका रहा हूं। तू बाधा न दे। मैंने दु:ख-चर्या का अभ्यास किया है, मुझे सुख से न ललचा। लालच मेरा अवरोध नहीं। माया मेरा बन्धन नहीं।

तू जा। मै नहीं लौटूंगा। देव-पुत्री गंगा अपनी मर्यादा छोडकर, भले उल्टी बहने लगे, किंतु सिद्धार्थ नही लौट सकता। गो-पद-जल के समान धरित्री के समस्त, अथाह सागर भले ही सूख जाए, परन्तु मै नहीं लौटूगा। सुमेरु पर्वत के सहस्रो टुकडे हो जाना सम्भव है किंतु सिद्धार्थ का घर लौटना सम्भव नहीं। ऊँचे फेके गए ढेले जिस भॉति नीचे गिरते हैं, उस भॉति चाहे ये चॉद सूरज और सितारे गिर जाएं, परन्तु बिना सम्यक् सम्बोधित्व पाए शुद्धोधन का बेटा घर नही लौट सकता। मुझे अपनी मा के दूध की सौगन्ध यदि मैं बुद्ध न बनूं। मुझे यशोधरा के प्यार की शपथ, जो मैं परम-ज्योति की प्राप्ति का प्रत्यन अधूरा छोडूं। कामदेव ! मेरा रोम-रोम मेरी यशोधरा है। यशोधरा मेरे अन्तर में विराजमान है। उस मुक्ति-लक्ष्मी की छवि मेरा पथ आलोकित कर रही है। वह मुझे कह रही है—सिद्धार्थ, तुम्हारा बुद्धत्व निकट है। अमृत का रहस्य खुलने ही वाला है। मरण का मरण निकट है। सिद्धार्थ, अचल रहो, अचपल रहो।

सुजाता को मैंन तब पहचाना था, जब वह खीर लेकर आई थी जब मे खीर स्वीकार कर चुका, तव मैंने पूछा—

'देवि, तुम कौन हो ?'

'मै उरुवेला के नगर-श्रेष्ठि की पुत्र-वधू हू। क्षमा करे, पानी पीकर जाति पूछते हे ?' वह खिलखिलाई।

उसकी यह खिलखिलाहट और स्मिति मुझे पहचानी-सी लगी।

'तुम्हे कही देखा है।'

'संभव है। मै आपसे अपरिचित हू।'

उसके साथ की दासी ने कहा—'देवी का नाम सुजाता है।'

'ओह !' मै उसे कैसे पहचान पाता ! अब तो वह चचल तरुणी से गभीर गृह-वधू बन गई थी। अब वह पर्वतीय सरित् न रहकर मैदान मे बहने वाली अपने आप मे आश्वस्त नदी वन गई थी। उसके चेहरे की रेखाओ से यह भी परिलक्षित होता था कि कोख भरी है। दासी फिर कहने लगी—

'भगवन्, आज का दिन धन्य है। देवी ने अपनी कौमार्यवस्था मे, बरगद के नीचे यह व्रत लिया था कि—'हे बरगद देव, यदि मुझे अपने तुल्य वर मिला और मेरी प्रथम सतति पुत्र हुआ, तो मै प्रति वर्ष तुम्हे एक लाख मुद्राएं अर्पण करूंगी।' आज वह दिन आया। देवी ने प्रथमत लत्थि-मधुवन में एक सहस्र गौओं के पालन का प्रबन्ध किया और उनका दूध पाच सौ गौओ को पिलाया। दूध पीकर ये पाच सौ गौएं अति स्निग्ध और बलवान बनी और उनका दूध अढाई सौ गौओं को पिलाया गया। इस प्रकार सोलह गौओ का पय आठ को पान कराया गया। इससे प्रत्येक बार पय पुष्ट और घना होता गया। उसकी मधुरता बढती गई और उसके तत्त्व अधिकाधिक पोषक होते गए।

'और आज जब व्रत का दिवस आया। देवी प्रात काल शुभ-वेला मे उठी। इन्होंने गौ-दोहन की आज्ञा दी। उस समय बछडे अपने स्थान पर ऊघ रहे थे। जब तक सेवक उन्हें लाएं, तब तक गौ के थनों से दूध की धाराए बहने लगीं। हमने दौडकर देवी को सूचना दी। आकर, देवी ने स्वयं अपनी आखो से यह दिव्य दृश्य देखा। और स्वयं अपने सुकुमार करों से पात्रो मे उस पय को झेल लिया। अपने ही हाथो देवी ने खीर बनाई।

'जिस समय खीर पक रही थी, पात्र में बडे-वड़े बुद्-बुद उठने लगे। उठ-उठकर वे दाहिनी ओर घूम जाते और आपस में विलीन हो जाते, किंतु सबको आश्चर्य रहा कि एक भी बूंद पात्र के बाहर नहीं छलका, और न धुए की एक लघु रेखा भी अग्नि से ऊपर उठी।

तब देवी ने मुझे आदेशा—'पुन्ना, जा रि ! आज मेरे भाग्यदेव तुष्ट प्रतीत होते है, जल्दी जा, और उस पवित्र बरगद-वृक्ष के नीचे सभी उपकरण तैयार रख, तब तक मैं सास-मां की आज्ञा लिये आती हूं।' मैं तत्क्षण चली और यहा आई। उस

माधवी लता के पास पहुची थी कि देव पर मेरा दृष्टि पड़ी- भगवन् शान्त बैठे है नयन मूंदे, ध्यान-मुद्रा में। और शीश पर, महानाग पीछे से फन फैलाए, छाया कर रहा है। मैंने सोचा, बरगदवासी वन देवता स्वयं आज मेरी स्वामिनी का नैवेद्य लने आए हैं। और शायद उसी की प्रतीक्षा मे बैठे है।'

'ठीक कहती है पुन्ना ! मै भिक्षा के लिए जाने ही वाला था।'

आगे वह बोली—'मै जैसी आई थी वैसी उल्टे पैरो दौडी-दौडी, लौट पडी। मैने देवी को सारा प्रसग सुनाया। बोलीं ये—'धन्य भाग्य है। आज भोर ही तूने यह सुसवाद दिया है, आज मे तू मेरे कक्ष की प्रधान परिचारिका बनी।' इतना कहकर देवी ने मुझे वस्त्र और आभूषणो का पुरस्कार दिया और तन-मन पूजा में लगाए, एक लक्ष मुद्रा के पात्र मे खीर परसे, यहां आई।'

अब सुजाता की बारी थी—'देवता ! उपकृत हू मैं। मेरा यह नैवेद्य अगीकार कीजिए। और इस शिशु को आशीष दीजिए।' उसने इतना कहकर अपने बालक को मेरे पैरो में लिटा दिया। मैंने आखे बन्द कर ली। मन ने कहा—ठीक राहुल-जैसा ही तो है।

'भगवन् !'

'देवि, मैं वनदेव नहीं हूं। न कोई सिद्ध-संन्यासी ही हूं। मैं एक साधारणजन हू।'

'भगवन् ! अब और परीक्षा न लें। वर्षो से जिस व्रत-कामना को सहेजती आ रही हू, आज वह समूर्त्त दृष्टिगोचर हो रहा है। फिर मै कैसे मान लू ? क्या मै साधारणजन और असाधारण संत का भेद भी नहीं जानती ? अब अधिक विलम्ब न करे। मेरा स्वल्प पुजापा, ये पत्र-पुष्प स्वीकार करें।'

'देवि ! तुम वरव्रती हो। मै अवश्य यह पायस ग्रहण करूगा। शायद यह मेरी ज्ञान-क्षुधा की भी तृप्ति कर सके।'

उसका मुख उमंग से खिल उठा—'भगवन्, अवश्य आपको ज्ञान-ज्योति प्राप्त होगी। जिस प्रकार मेरी मनोकामनाए पूर्ण हुई, उस प्रकार आपकी साधना भी सफल होगी।'

सुजाता मुझे देखती रही। मन ने कहा। कहीं यह पहचान न ले, यों अपलक जो देख रही है। परन्तु वह मुझे कैसे पहचान पाती ! मैं कितना बदल गया था ! ओर क्यो कर उसे विश्वास होता कि उसकी सहेली का सुख-सगी काम-दूतिकाओ के हास्य से गुजित रास-गृहों को छोड़कर, यों न्यग्रोध के नीचे हवा खा रहा है !

'अब आज्ञा हो, मेरे स्वामी प्रतीक्षा करते होगे।'

मैं समाधि के सोपान पर ही स्थित रहा। अपना दाहिना हाथ उठाकर, अभय-मुद्रा-द्वारा मैने विदा का संकेत दिया।

वह अपनी दासियों के सग लौट गई।

खीर का वह स्वर्ण थाल लिये मै नेरंजरा के तीर पर आया. थाल को पत्तो से ढककर एक ओर रख दिया। तदनन्तर मै स्नान के लिए जल मे उतरा। स्नान कर मैने खीर खाई।

उस वेला मेरा मुख पूर्व-दिशा की ओर था। सिर पर अजपाल की शीतल छाया थी। मैंने पायस के उन्चास छोटे-छोटे ग्रास बनाए थे।

तृप्ति हुई।

क्षुधा निवृत्ति हुई कि फिर मुझे उन्चास दिनो तक भूख न व्यापी।

पायस खाकर मैंने सुजाता के स्वर्णथाल को यह कहते हुए नदी मे प्रवाहित कर दिया—

'यदि आज मेरा बुद्ध होना निश्चित हो तो, उरुवेला की धन्यव्रता कुलवधू का यह पवित्र-पात्र धारा के ऊपर बहता जाएगा, यदि नही तो, भले यह लौटकर, नीचा बहता आए।'

और मैने सस्मित वदन देखा—यशोधरा की सहेली का वह सद्पात्र धारा मे बढता गया, चढता गया! और जब नदी के मध्य मे पहुंच गया तो क्षिप्र नौका के समान वेग से ऊपर बहने लगा।

वह दुपहरिया मैने नेरंजरा के कगार पर खडे फुल्ल-कुसुमित शाल-द्रुमों की छाया मे बिताई। और जब रात की तंत्री सस्वर हो उठी—'समय आ गया है, समय आ गया है' तो मै वनराज की तरह उठा और वहा से आठ उसभ दूर अश्वत्थ-वृक्ष की ओर आया।

वन-वेलियां महक उठी। विहग-बालाए चहक उठी। कलियो की हसी उनका यौवन बन गई। पंक्षियो का गीत उनका जीवन बन गया। वातावरण युग-युग की अलमस्त उमगो से नर्तित हो उठा।

उसी दिन—

सामने से आते सोत्थिय घसियारे से मेरी भेंट हुई। उसके सिर पर घास का गट्ठर था। बड़ा भोला था वह। उसके मन मे भाव उठा, गौतम को देने के लिए आज मुझे कुछ न मिला। पश्चात्ताप के पीर से अधीर हो रहा था। फिर जाने क्यों-कर उसने आठ मुट्ठी घास मेरी ओर बढाया; किंतु, ज्यों ही अपनी मुट्ठी उसने खोली, क्या देखता है कि वह तृणदल सुरभित सुमन बन गया है।

मैं मुस्करा दिया—'जा रे सोत्थिय, तूने मुझे जितनी मुट्ठी फूल दिए, उतनी ही कोटि मुद्राए तुझे मिलेंगी।'

वह अपने पोपले मुंह मे हसी न रोक सका—'श्रमण गौतम, आज क्या बात है, वडे प्रसन्न दिखते हो ? फूल कही मुद्रा बन सकते हैं !'

'क्यो नहीं ? जब तृण फूल बन सकते हैं, तो फूल मुद्रा क्यो नहीं बन सकते ?'

'मै तो समझता था, मै ही पागल हू। परन्तु श्रमण गौतम भी...' वह यो कुछ बडबड़ाता हुआ, हवा में अपना हंसिया घुमाता हुआ, अपने गेह गया।

सोत्थिय के जाने पर, मै उत्तराभिमुख हुआ, वे तृण या वे फूल, अब भी मेरी अजलि मे थे। सहसा पीछे का भू-भाग पाताल मे जाने लगा। मैंने कहा, सिद्धार्थ, यह तो भूमि नहीं है ऐसी कि बुद्धत्व यहा मिले। फिर अश्वत्थ की ओर अपनी दाहिनी बाजू रखे, मैं पश्चिम में आया और पूर्वाभिमुख खडा रहा। सहसा, पश्चिमी गोलार्द्ध धसने लगा। पूर्व भूगोल ऊंचा और ऊंचा उठने लगा। अब जहा-जहा मैं पैग धरता था—धरती उठती और गिरती थी, जैसे गाडी का पहिया अपनी धुरी पर धरा हो, और कोई उसके किनारे-किनारे चल रहा हो। यह भी उपयुक्त स्थल नही है। मैने इस बार दक्षिण दिशा में प्रयत्न किया, उसका भी यही हाल हुआ। अश्वत्थ के पूर्वीय पक्ष की ओर आया। धरती अब न धसती थी, न कापती थी।

मैंने जाना, यही अचला का वह अचल ठौर है, जहा सभी बुद्धो का आसन लगा है। मार-विकार की हार यही होती है।

काम यही भस्म होता है। माया जाल यही टूटता है। मुक्ति का द्वार यहीं खुलता है।

मन में मानो एक झकार उठी।

अनहद एक पुकार उठी। मैं अश्वत्थ पादप की ओर पीठ करके पूर्वाभिमुख बैठा। मैंने निश्चय किया कि कोई शक्ति चाहे इस वसुन्धरा को बेर की तरह निगल जाए, चाहे इस समग्र आकाश को चटाई की तरह लपेट ले, परन्तु मार-पुत्रियां अपनी वासना के मदिरावरण में मुझे नही लपेट सकतीं। और आज तो मैं अपनी ही शपथ लेता हू—इस अविचल आसन पर अखंड संकल्प करता हूँ कि जब तक बुद्धत्व की प्राप्ति नही होती, मेरा यह आसन वज्रासन होगा। वज्र का वार चूक सकता है, मेरा निश्चय अचूक, मेरा यह आसन अडोल, अकम्प रहेगा। इसके बाद मैं अपने समस्त ज्ञान, तारुण्य और बल को बुलाकर बोला—

'चाहे मेरी त्वचा, नसे, अस्थियां ही शेष क्यो न रहे, अथवा वे भी न रहें। चाहे रक्त, मास और शरीर सूख जाए, रहे न रहे किंतु सम्यक् सम्बोधि प्राप्त किए बिना, इस आसन को न छोडूंगा।'

मैंने फिर गर्जना की :

'आओ वज्र लाख-लाख बार एक साथ वार करो, तुम सिद्धार्थ को अविचलित, अपराजेय पाओगे।'

उस दिन जरा-मरण से चलकर, जो विचार-पथी विज्ञान तक आकर रुक गया था, आज फिर से नवोत्साहपूर्वक आगे बढ़ा। मन के चारों ओर की स्थितियां शान्त होने पर, उसकी एकाग्रता अपने विषय के प्रति चिन्मय हुई—विज्ञान से लौटना पड़ता है, नाम-रूप अन्तिम छोर है।

विज्ञान से लेकर दुखों की उत्पत्ति तक मैं निरंतर सोचता रहा। अब मुझमे अश्रुतपूर्व, अपूर्व धर्म विषयक दृष्टि का उदय हुआ, ज्ञान का उदय हुआ, प्रज्ञा का

उदय हुआ, विद्या का उदय हुआ। विद्या उत्पन्न हुई। नवीन आलोक उत्पन्न हुआ। उस आलोक से मैंने पूछा--किसके नहीं होने से जन्म-मरण नहीं होता ? किसके निरोध से जरा-मरण विनष्ट होते है ?

बोध हुआ—जन्म के नही होने से जरा-मरण नही होता। जन्म के निरोध से जरा-मरण का निरोध हो जाता है। उसी प्रकार आवागमन के निरोध से जन्म नही होता। उपादान भोग-शक्ति के नहीं होने से भव-आवागमन नही होता। इसी प्रकार किरणें बढती गई। और मैंने देखा कि नाम-रूप के नही होने से विज्ञान भी नही होता। नाम-रूप का निरोध विज्ञान का निरोध है।

और चार आर्य सत्य है—

दु ख है,

दु.ख का कारण है,

दु·ख का नाश है,

नाश करने का निदान है।

मन ने साक्षी दी—मुक्ति का मार्ग तूने पा लिया है। सारे दुखो के निरोध नाश का कारण तूने जान लिया है। 'निरोध-निरोध' करके पहले किसी मनुपुत्र द्वारा न सुने गए, न जाने गए, अभूतपूर्व धर्म का बोध हुआ है, उसका ज्ञान, प्रज्ञा, विद्या और आलोक उत्पन्न हुआ है। इस आलोक में तूने लोक को देखा है, भौतिक और अभौतिक पदार्थो की उत्पत्ति और विनाश का रहस्य तुझे मिला है। पाच उपादान-स्कन्धो के उदय और व्यय को देखकर विहार करने से तेरा अन्त करण चित्तमलों, आसवो से सर्वथा मुक्त हो गया है।

अब तू मुक्त है। यह तेरा अन्तिम जन्म है, अब दूसरा जन्म नहीं होगा। अमृत मिल गया है।

रात चली गई थी। दिन आ गया था। स्वर्ण-विहान से दिशाए रस और आलोक से भर गई थी। पूरब की उषा आज अधिक छविमान थी। जिस प्रकार प्रकाश से पुष्करणियो में पद्म प्रफुल्लित हो रहे थे, उस प्रकार सत्य के साक्षात्कार से मेरे मानस का प्रज्ञा-पद्म प्रमुदित था।

मैंने सुधा का निर्झर पाया। ज्योति का उद्‌गम पाया। और प्रथम बार विश्वास आया—मृत्यु अब नहीं रहेगी। अन्धकार अब नही रहेगा। मैंने कहा—

'अमृत का द्वार खुल गया है।'

बौद्ध अनुष्ठानों का इतिहास

1

वर्ष (अथवा वस्स अर्थात् ग्रीष्म का एकांतवास) न करने के विषय में

जो भिक्षु वर्ष[1] नहीं करते वे उससे होनेवाले दस[2] लाभों से वंचित रहते है, परतु इस कारण से उनको संप्रदाय में उनके वास्तविक पद से नीचे के पद पर गिराना और सहसा अपनी क्रिया मे परिवर्तन करने और अपने से छोटे भिक्षु को, जो अभी कल ही उसे प्रणाम किया करता था, वंदना करने पर विवश करना उचित नही है। परंतु पद के गिरा देने की यह रीति (चीन में) प्रचलित थी, यद्यपि इसकी पुष्टि मे कोई आप्तवचन या प्रमाण न था।

भिक्षु ने चाहे वर्ष न भी मनाया हो, उसे पद मे नही गिराना चाहिए। यदि हम बुद्ध की शिक्षा का पाठ और मनन करे तो (इस रीति के लिए) उसमे कोई प्रमाण नही। तव पूर्व काल में किसने (चीनियो में) इस रीति का प्रचार किया ?

2

पूज्यों के प्रति व्यवहार

बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, जब कोई भिक्षु पवित्र प्रतिमा के सामने हो, या पूज्य आचार्यो के पास जाय तो, रोग की अवस्था को छोड़कर, उसे नंगे पाव रहना चाहिए। उसका दाया कधा सदा नंगा और बाया उसके कंचुक से ढका हुआ होना चाहिए।

---

1 वर्ष वास्तव में वर्षा-ऋतु के चार मास—आपाढ सुदी द्वादशी से कार्तिक द्वादशी तक—है। यह चातुर्मास्य बौद्ध भिक्षुओ के लिए एकांतवास का समय है। इस काल मे उन्हे यात्रा करने का निपेध है। उनके लिए मठ से बाहर किसी दूसरी जगह रहने की आज्ञा है।

2 दस लाभ वस्त्रो का अधिकार, प्रवास की स्वतन्त्रता, इत्यादि हैं। पाच सत्त्व महानवग्ग और विनय-सग्रह में दिए है।

उसके सिर पर टोपी न हो। यदि बडे की आज्ञा लेकर वह (खड़ाऊ के साथ) दूसरे स्थानों में घूमे तो कोई दोष नही। शीत-प्रदेश में, भिक्षु को छोटी-छोटी खडाऊ अथवा उस देश के अनुरूप किसी प्रकार का जूता पहनने की आज्ञा है।

यह बात युक्तिपूर्वक स्वीकार करनी पडेगी कि शरीर की रक्षा के लिए हमे कडी सरदी के महीनों मे अस्थायी रूप से अधिक कपडे पहनने चाहिए परतु वसत ओर ग्रीष्म में मनुष्य को विनय के नियमों[1] का पूर्ण रूप से पालन करना चाहिए। खडाऊ पहनकर मनुष्य पवित्र स्तूप की प्रदक्षिणा न करे, इस बात की स्पष्ट शिक्षा आरभ से ही दी गई थी।

इस बात की घोषणा चिरकाल से की जा चुकी है कि भिक्षु गधकुटी के पास पादुका[2] पहनकर न जाय कितु कई लोग ऐसे हैं जो सदा ही इन नियमो को भग करते है; और वास्तव में हमारे बुद्ध के नियमो का यह भारी अपमान है।

3

भोजन के समय एक छोटी कुर्सी पर बैठना

भारत मे भिक्षु लोग भोजन के पहले अपने हाथ-पांव धोते और छोटी-छोटी कुर्सियो पर अलग-अलग बैठते हैं। यह कुर्सी सात इच ऊची और एक वर्गफ़ुट चौडी होती हे। उसका आसन बेत का बना होता है। परंतु सघ के छोटे भिक्षुओ के लिए लकडी की पटरिया काम मे लाई जा सकती है। वे अपने पाव पृथ्वी पर रखते है, और थालिया उनके सामने रखी जाती है। गाय के गोबर से भूमि लिपी होती है और उस पर हरे पत्ते बिखेरे हुए होते है। ये कुर्सिया (चौकिया) एक-एक हाथ के अतर पर रखी जाती है, जिससे उन पर बैठनेवाले मनुष्यों का एक-दूसरे से स्पर्श न हो।

पालथी मारकर साथ-साथ बैठना, और घुटनो को बाहर की ओर फैलाकर भोजन करना, उचित रीति नहीं—कृपया इस पर ध्यान दीजिए। मैने सुना है कि चीन मे बुद्ध-धर्म के प्रचार के पश्चात् भिक्षुओं को भोजन के लिए चौकियो पर (पालथी मारकर नहीं) बैठने का अभ्यास कराया गया था। त्सिन-वंश (265 से 419 ई तक) के शासन-काल में इस भूल का प्रचार हुआ और वे भोजन के समय पालथी मारकर बैठने लगे। कोई 700 वर्ष (8 ई. पूर्व; 700—692 = 8) हुए जब भगवान् बुद्ध का पवित्र धर्म पूर्व (चीन) मे पहुंचा, दस वशों की अवधि गुज़र चुकी है। प्रत्येक वंश का एक-एक योग्य प्रतिनिधि था। भारतीय भिक्षु एक-दूसरे के पश्चात्

---

1 बुद्ध की बताई हुई नीति को 'विनय' कहते है। सारी नीतिया के सग्रह का नाम 'विनय-पिटकम्' हे।

2 पाठ मे 'पुर' लिखा हे, जो कि काश्यप के मतानुसार, सस्कृत मे एक प्रकार का जूता है। मालूम नही शुद्ध सस्कृत शब्द क्या है।

चीन मे आए, ओर तत्कालीन चीनी भिक्षुओ ने, उनके सामने दल के दल इकट्ठे होकर, उनसे उपदेश ग्रहण किया। कुछ ऐसे भी थे जिन्होंने स्वय भारत मे जाकर यथार्थ अनुष्ठान को देखा। स्वदेश लौटने पर उन्होंने रीतियो मे अशुद्धिया दिखाई, किंतु उनके निराकरण का उद्योग किसने किया ?

बचे हुए जूठे भोजन को रख छोड़ना, जैसा कि चीन में किया जाता है, भारतीय नियमो के बिलकुल विरुद्ध है। जूठे भोजन को इकट्ठा करने से थालिया भ्रष्ट हो जाती है, और जो लोग परोसते है वे सुच (शुद्ध) बर्तनों को छूते हैं। इस प्रकार पवित्रता की रक्षा व्यर्थ हो जाने से, अभी तक कोई अच्छा परिणाम प्राप्त नहीं हुआ। कृपया इन बातों पर सावधानी से ध्यान दीजिए और प्रत्येक रीति के सापेक्ष गुण को देखिए।

4

पवित्र और अपवित्र भोजन की पहचान

भारत के भिक्षुआ और भक्तजनों में यह रीति है कि यदि केवल एक भी ग्रास भोजन का ग्रहण कर लिया जाय तो वह अपवित्र (मूलार्थत 'छुआ हुआ') हो जाता है, और जिन बर्तनो में भोजन रखा गया था उनका फिर उपयोग नही किया जाता। भोजन के समाप्त होते ही, जिन बर्तनो में भोजन परोसा गया था, उन्हें उठाकर एक कोने में ढेर लगा दिया जाता है।

यह रीति धनवान् और निर्धन दोनों में पाई जाती है। यह केवल हमी मे नही, प्रयुक्त ब्राह्मणो (देवों) मे भी प्रचलित है। कई शास्त्रों में कहा गया है :—'शोच होने के बाद दातुन न करना तथा हाथ न धोना, पवित्र तथा अपवित्र भोजन मे भेद न करना नीचता समझी जाती है। जो लोग 'विनय' के नियमों पर चलते है, उन्हें इस भेद का कुछ ज्ञान हो सकता है, परतु जो लोग आलसी और प्रमादी है, वे अनुचित मार्ग का अनुसरण करने के लिए इकट्ठे मिल जाते हैं। स्वागत अथवा किसी साधारण भोजन के अवसर पर एक-दूसरे का स्पर्श नहीं करना चाहिए अथवा शुद्ध जल से कुल्ला किए बिना नए भोजन को मुंह न लगाना चाहिए। प्रत्येक परोसन के पश्चात्, जिसका एक ग्रास मनुष्य को अपवित्र कर देता है, उसे दुबारा कुल्ला करना चाहिए। यदि कुल्ला किए बिना ही वह दूसरे को छू देता है तो वह छुआ हुआ मनुष्य अपवित्र हो जाता है और उसे अवश्य कुल्ला करना चाहिए। कुत्ते का स्पर्श हो जाने पर उसे अपनी शुद्धि करनी होती है। जो लोग भोजन कर चुके हैं उन्हें कमरे के एक पार्श्व में इकट्ठा रहना चाहिए, उन्हे हाथ धोना और कुल्ला करना चाहिए, और भोजन के समय काम मे लाई हुई वस्तुओ और मैले बर्तनो को भी धो डालना चाहिए।

यदि वे इन बातो की उपेक्षा करेंगे तो उनकी की हुई प्रार्थना और मंत्र-यंत्र सब निष्फल होंगे, और उनके चढ़ाए हुए नैवेद्य को देवता स्वीकार नही करेगे। इसीलिए मै कहता हूं कि यदि आप 'तीन रत्नो' को अथवा देवताओ को चढ़ाने के लिए, अथवा स्वय अपने साधारण आहार के लिए कोई भोज्य या पेय पदार्थ तैयार करे, तो प्रत्येक वस्तु शुद्ध और पवित्र होनी चाहिए। भोजन करने अथवा शौच होने के बाद जब तक मनुष्य शुद्ध न हो ले, दुबारा चौके मे बैठने के अयोग्य होता है। भिक्षुओ के साधारण खाने अथवा स्वागत के लिए भोजन तैयार करते समय एक मनुष्य कार्याध्यक्ष होना चाहिए। यदि किसी उत्सव के अवसर पर भोजन की तैयारी में विलम्ब हो, या अतिथियों को भय हो कि वे प्रतीक्षा मे निर्दिष्ट भोजन-काल से पीछे रह जाएंगे, तो निमंत्रित मनुष्य—चाहे वह भिक्षु हो और चाहे कोई साधारण भक्तजन—उस भोजन मे से, जो तैयार किया गया है पर अभी तक परोसा नही गया, अलग लेकर खा सकता है। इसकी बुद्ध ने आज्ञा दी है, और इसमें दोष नहीं है।

मैंने सुना है कि अभी भोजनों को प्राय: तीसरे पहर तक अटकाया जाता है (निर्दिष्ट भोजन-काल दोपहर है) और उसकी तैयारी की देख-भाल भिक्षु अथवा भिक्षुणिया करती हैं। यह उचित नही, क्योकि मनुष्य भलाई करने मे एक अपराध कर देता है। अब पांच प्रदेशो के भारत में और दूसरी जातियों में पहला और मुख्य भेद शुद्धता और अशुद्धता का असाधारण भेद है।

एक बार उत्तर के मंगोलो ने भारत मे दूत भेजे। ये लोग पाख़ाना जाने के बाद हाथ नही धोते थे और अपने भोजन को थाल में रख छोडते थे। इसलिए इनसे वहा घृणा की गई और इनकी हसी उडाई गई। इतना ही नहीं, इनका वहा तिरस्कार और निंदा भी हुई, क्योंकि वे (फ़र्श पर) टागे सीधी पसार कर, एक-दूसरे को छूते हुए इकट्ठे बैठ जाते थे, वे सूअरों और कुत्तों के पडोस से दूर नहीं रहते थे, और दातुन नहीं करते थे। इसलिए जो लोग बुद्ध-धर्म का अनुष्ठान कर रहे है उन्हे इन बातों का बहुत ध्यान रखना चाहिए। परतु चीन में प्राचीन काल से पवित्र और अपवित्र भोजन में कभी भेद नही किया गया।

5

भोजन कर चुकने के पश्चात् सफ़ाई

जब भोजन कर चुको तब हाथों को अवश्य साफ़ करो। जीभ और दातों को ध्यानपूर्वक साफ़ और शुद्ध करो। होठों को या तो मटर के आटे से या मिट्टी और पानी को मिलाकर कीच से साफ़ किया जाय, यहां तक कि चिकनाई का कोई धब्बा न रह जाय।

तत्पश्चात् (कुल्ला करने के लिए) किसी साफ़ बर्तन मे से जल एक शख के प्याले मे डालना चाहिए। यह प्याला या तो ताजा पत्तो पर रखा हो या हाथो मे पकडा हुआ हो। यदि प्याला हाथ से छू जाय तो इसे साफ़ करने की तीन सामग्रियो, अर्थात् मटर के आटे, सूखी मिट्टी और गाय के गोबर से मलना, और धब्बे को दूर करने के लिए पानी से धो डालना चाहिए। एकांत स्थान मे साफ बर्तन से पानी सीधा मुंह में डाला जा सकता है, परतु सार्वजनिक स्थान मे ऐसा करने का निषेध है। दो-तीन बार कुल्ला करने से मुंह प्रायः साफ हो जाता है। ऐसा किए बिना मुह का पानी या थूक निगलने की आज्ञा नही। जब तक शुद्ध जल से कुल्ला न कर लिया हो, मुंह से थूक को बाहर फेकते रहना चाहिए। निस्संदेह, साफ बासन में जल तैयार किए बिना अथवा दातुन किए बिना, न तो भोजन के बाद हसी ओर बकवाद मे समय नष्ट करना उचित है, और न दिन-रात अपवित्र और दोषी बने रहना ही ठीक है। यदि कोई अपने जीवन-काल मे ऐसा आलस्य करता है तो उसके दुःखो का कोई अंत नही रहता।

6

जल रखने के लिए दो लोटे

पवित्र जल धोने के जल (मूलार्थत., 'छुए हुए' जल) से अलग रखा जाता है, ओर प्रत्येक के लिए दो प्रकार के लोटे (अर्थात् कुंडी और कलश) होते हैं। पवित्र जल के लिए मिट्टी के वर्तन का उपयोग किया जाता है और धोने के जल (मूलार्थत 'छुए हुए' जल) के लिए ताबे अथवा लोहे का बर्तन होता है। पवित्र जल पीने के लिए और छुआ हुआ मल-मूत्र त्यागने के पश्चात् शुद्धि के लिए हर वक्त तैयार रहता है। पवित्र लोटे को पवित्र हाथ में पकड़ना और पवित्र स्थान में रखना चाहिए, और 'छुए हुए' जल को 'छुए हुए' (अथवा 'अपवित्र') हाथ मे पकडना और अपवित्र (अथवा 'छुए हुए') स्थान पर रखना चाहिए।

लोटे को सीधा सामने रखकर जल पीने में कोई दोष नहीं; परंतु तीसरे पहर जल पीने की आज्ञा नही। लोटा मनुष्य के मुख के योग्य बनाना चाहिए; ढकने की चोटी दो अंगुल[1] ऊंची चाहिए; इसमें (चीनियों की) रोटी खाने की तांबे की लकडी के समान एक छोटा-सा छिद्र किया जाता है।

पीने का ताजा जल ऐसी ही ठिलिया मे रखना चाहिए। ठिलिया के पार्श्व मे, पीने की टोंटी से दो अंगुल ऊपर, एक छोटी मुद्रा के समान गोल एक ओर

---

1 इसका तात्पर्य दो अगुल-विस्तार है न कि दो अगुल-सधि, काश्यप कहता है कि 'यह कोई एक चीनी इच के बराबर होगा।'

छिद्र होता ह। इस छिद्र क द्वारा जल डाला जाता है; इसमे दो-तीन गेलन आ सकती है। छोटी ठिलिया का उपयोग कभी नही किया जाता।

यदि धूल अथवा कीडो के अन्दर चले जाने का भय हो तो टोंटी और छिद्र दोनो को बास, लकडी, टाट अथवा पत्तो से ढक दिया जाता है। पानी लेने के लिए, पहल टिलिया को भीतर से धो लेना चाहिए जिससे मैल अथवा धूल सब धुल जाय तब ताजा जल भरना चाहिए।

ठिलिया रखने का थैला कोई दो फीट लबे और एक फुट चौड़े सूती कपडे का बनाया जाता है। इस कपड़े के दोनो सिरो को इकट्ठा करके दोहरा कर लिया जाता है, और फिर मिलनेवाले किनारो को सीकर जोड़ दिया जाता है। इसके दोनो कोनों को कोई साढे सात इंच[1] लम्बी दो रस्सिया लगाई जाती है। यात्रा में ठिलिया को थैले मे रखकर कधे से लटका लिया जाता है। जिस थैली मे भिक्षा मांगने का कटोरा रखा जाता है उसकी आकृति भी उपर्युक्त थैली के सदृश होती है। इसके भीतर कटोरे का मुह ऐसी अच्छी तरह से ढप जाता है कि उसमें धूल नहीं पड सकती। इसकी पेदी नोकदार होती है जिससे कटोरा इधर-उधर नही घूमता। परतु कटोरे की थैली ठिलिया के थैले से भिन्न होती है।

यात्रा करते समय भिक्षु अपनी ठिलिया, भिक्षा-पात्र, आवश्यक वस्त्र कंचुक के ऊपर कधो से लटका लेता है और छतरी हाथ में ले लेता है। बौद्ध भिक्षु के यात्रा करने की यही रीति है।

राजगृह के चैत्यों, बोधिवृक्ष, गृध्रकूट, मृगदाव, उस पवित्र स्थान जहा शालवृक्ष सारस के पंखों के समान श्वेत[2] हो गए थे (कुशीनगर मे), और उस निर्जन कुज, जो कि गिलहरी[3] को समर्पित किया गया है, की यात्रा के काल मे—यात्रा करनेवाले

---

1 पाठ मे 'वितस्ति' है, अर्थात् अगूठे और मध्यमा उगली को तानने पर उनके बीच की लबाई। काश्यप के अनुसार यह बारह अगुल या साढे सात इच लंबी होती हे।

2 इसका सकेत उस कथा की ओर हे कि बुद्ध के निर्वाण के समय, ऋतु न होने पर भी, वृक्षों मे फूल आ गए (महापरिनिब्बान सुत्त)।

3 'गिलहरी का कुंज' कलतक-निवाप है जिसे वेणु-वन भी कहते हे। कलतक या कलटक एक पक्षी होता ह। परतु यह भूल मालूम होती है।

सघभेदकवस्तु इस कुज का वर्णन इस प्रकार करता है—

बासो का यह कुज एक समय एक धनवान् व्यक्ति का था। बिम्बिसार अपने युवराज-काल मे इस आराम मे आनद लिया करता था और चाहता था कि उसका स्वामी वह उसको दे दे। परतु उसने देने से इनकार कर दिया। जब युवराज गद्दी पर बैठा तब उसने बलात् उस आराम को अपने अधिकार मे कर लिया। आराम के मालिक को इससे बहुत दुःख हुआ और वह हृत्पीडा से मर गया। मृत्यु के बाद वह राजा से बदला लेने के लिए साप बन गया। वसतकाल मे सुदर पुष्प खिल रहे थे, राजा अनेक दासियों-सहित बाग में गया। वाटिका में घूमने के पश्चात् उसे निद्रा ने घेर लिया। पुष्पों से मोहित →

भिक्षु उपर्युक्त स्थाना में से प्रत्येक मे प्रतिदिन प्रदश से सहस्रा की सख्या मे इकट्ठे होते है, और सभी इसी रीति से यात्रा करते है। नालद मठ के पूजनीय और विद्वान् भिक्षु पालकियों मे सवार होते है परंतु घोडे पर कभी नहीं चढते, और महाराज मठ के भिक्षु भी ऐसा ही करते हैं। इस अवस्था में आवश्यक सामग्री या तो दूसरे व्यक्ति उठाते हैं या लडके;—पश्चिम (भारत) के भिक्षुओ में ऐसी ही रीतिया है।

7

कीड़ों के सम्बन्ध में जल की प्रातःकालीन परीक्षा

प्रतिदिन सवेरे पानी की परीक्षा करनी चाहिए। प्रातःकाल पहले ठिलिया के जल की परीक्षा करनी चाहिए। बाल की नोक के समान छोटे कीड़ों को भी बचाना चाहिए। यदि कोई कीड़ा दिखाई दे तो पड़ोस की किसी नदी अथवा पुष्करिणी के पास जाकर कीडोवाला जल बाहर फेक दो, और ताज़ा छाना हुआ जल उसमे भर लो। यदि कुआं हो तो इसके जल को सामान्य रीति के अनुसार छानकर काम मे लाओ।

पानी को छानने के लिए भारतीय लोग बारीक श्वेत वस्त्र का उपयोग करते है; और चीन में बारीक रेशमी कपड़े से, हल्की-सी माड़ देने के बाद, यह काम लिया जा सकता है, क्योंकि कच्चे रेशम के जाल-छिद्रों मे से छोटे-छोटे कीड़े सुगमता से चले जाते है। हूचिह (एक सामान्य माप का नाम) के कोई चार फुट-भर कोमल टसर का टुकड़ा लो और किनारों से पकडकर इसे लम्बाई मे रखो। तब दोनो सिरो को लेकर इसे दोहरा कर दो और उन्हें सीकर एक जाल-सा बना दो। फिर इसके दोनों कानों के साथ रस्सिया और दोनों पार्श्वो के साथ तुकमे लगाओ। तब इसे चौड तानने के लिए इसके आर-पार एक डेढ फुट लबी लकडी रखो। अब इसके दोनो सिरों को बल्लियो से बांधकर इसके नीचे एक बासन रख दो। जब आप बटलोही मे से इसमें पानी डालें, तब इसकी पेंदी चालनी के अदर होनी चाहिए, जिससे जल-बिंदुओ के साथ कोई कीडा न गिर पडे, और भूमि पर अथवा बासन में गिरकर नष्ट न हो जाय। ज्यों ही चालनी मे से पानी निकल आए, इसको उलचो और इसकी परीक्षा करो। यदि इसमें कीडे हों तो इसे वापस कर दो, और यदि यह यथेष्ट स्वच्छ हो तो इसका उपयोग करो। जब पर्याप्त पानी प्राप्त हो जाय तब

होकर सब दासिया राजा को छोडकर चली गई, केवल एक ही दासी खड्ग लिये राजा की रक्षा कर रही थी। उस समय एक विषधर साप प्रकट हुआ। वह सोए हुए राजा पर आक्रमण करना ही चाहता था कि इतने मे कलदक जोर से चिल्लाने लगा। पहरे पर खडी दासी ने साप को देखकर काट डाला। राजा की इस सेवा के बदले में, महाराज ने इस आराम को पक्षियों के नाम पर समर्पण करके इसका नाम 'कलदक-वेणुवन' रखा।'

कलदक के लिए देखिए 'महावग्ग।'

चालनी को उलट दो। इसे दो मनुष्य दोनों सिरो स पकडते ह। इसे 'जीव-रक्षक-पात्र' मे रखो, इसे तीन बार पानी से खंघाल डालो, और इसके बाहर की ओर से इस पर फिर पानी डालो। इसमे एक बार फिर पानी डालो, ताकि चालने से मालूम हो जाय कि कही अव इसमें कोई कीडा तो नहीं। इस प्रकार छान लेने पर भी, रात-भर के रखे हुए पानी को. दुवारा जाचने की आवश्यकता होती है; क्योंकि जो मनुष्य रात-भर के पडे हुए जल की जांच नही करता, विनय मे, उसे दोपी कहा गया है।

नदी या जलाशय की अवस्था मे पानी को एक दोहरी ठिलिया-द्वारा, जो कि जल मे सुरक्षित रूप से रखे हुए बेत के बासन के भीतर होती है, छाना जा सकता है। छठे अथवा सातवे, मास मे कीडे इतने सूक्ष्म हो जाते हैं, और दूसरी ऋतुओ से वे इतने भिन्न होते है कि वे कच्चे रेशम की दस तहो मे से भी निकल जाते हे।

कीडों को स्वतत्र करने के लिए एक पत्तल जैसे थाल का उपयोग किया जा सकता है, किंतु रेशम की चालनी भी वडी उपयोगी है। भारत मे, बुद्ध के बताए हुए नियमो के अनुसार थाल प्राय' ताबे के वनते है। जीव-रक्षक वासन एक छोटा-सा जल-पात्र होता है जिसका मुह स्वयं पात्र जितना ही चौडा होता है। इसकी पेदी के पार्श्वो पर दो लट्टू होते हैं, जिनके साथ रस्सियां बाधी जाती है। जब इसे पानी मे उतारा जाता है तब उलट दिया जाता है, और दो-तीन बार पानी में डुबाने के पश्चात्, इसे ऊपर खीच लिया जाता है।

उच्च भिक्षुओं को चाहिए कि वे न तो मंदिर की चालनियों को और न छानने के लिए कोठरी मे रखे हुए जल को ही स्पर्श करे। छोटे भिक्षु, जिन्हे अभी पूरी दीक्षा नहीं मिली, कोई भी जल लेकर पी सकते हैं; किंतु यदि वे किसी अनुचित समय पर पीने लगें तो उन्हें एक साफ चालनी, स्वच्छ ठिलिया और पवित्र बर्तनो का, जो कि काम देने योग्य हों, अवश्य उपयोग करना चाहिए। जीवों की हिसा पाप है, और बुद्ध ने इसका निपेध किया है।

यह निषेध सबसे अधिक महत्त्व रखता है, और हिसा को सब पापो मे सबसे मुख्य ठहराया गया है।

प्रत्येक व्यक्ति के लिए उचित है कि वह जल की परीक्षा के लिए एक बर्तन रखे, और प्रत्येक स्थान में एक जीव-रक्षक पात्र होना चाहिए।

8

दातुन का उपयोग

प्रतिदिन सवेरे मनुष्य को दातुन से दांतो को साफ़ करना चाहिए, और जीभ का मेल उतार डालना चाहिए। हाथो को धोने और मुह को साफ करने के बाद ही मनुष्य प्रणाम करने के योग्य होता है; अन्यथा प्रणाम करनेवाला और जिसको वह प्रणाम करता है, दोनो दोषी ठहरते है। दातुन कोई बारह अगुल लबी बनाई जाती है, और छोटी-से-छोटी भी आठ अगुल मे कम नही होती। इसका आकार कनीनिका के जैसा होता है। यदि दातुन करते-करते किसी को लाचार आश्रम-गुरु के पास आना पडे, तो उसे बायें हाथ से मुह को ढाप लेना चाहिए।

दातुन के अतिरिक्त लोहे अथवा ताबे की बनी हुई दंत-खोदनी (खड़का) का भी उपयोग किया जा सकता है, अथवा बाम या लकडी की छोटी-सी छडी, जो कनीनिका के उपरिभाग के समान चपटी और एक सिरे पर तीक्ष्ण हो, दातों ओर जीभ को साफ करने के उपयोग में लाई जा सकती है, इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि मुह में कोई घाव न लग जाय। सेवन कर चुकने के बाद उसको धोकर फेंक देना चाहिए।

दातुन को नष्ट करने अथवा जल या थूक को मुह से बाहर फेकने के पहले कठ में तीन बार उगलियां फेर लेनी अथवा दो से अधिक बार खांस लेना चाहिए।

छोटे भिक्षु जैसे भी चाहें दातुन को चबा सकते है, परंतु बड़े भिक्षुओ को चाहिए कि उसे कूटकर कोमल कर ले। सबसे अच्छी दातुन वह है जो स्वाद मे कटु, सकोचक अथवा तीक्ष्ण हो, अथवा जो चबाने से रूई की तरह हो जाए। दातो को पूरी तरह से चबाने, दांतो को साफ करके चमकाने और मुख से निकलनेवाले सारे पानी को बाहर थूकने का खूब ध्यान रखो; और फिर बहुत-से जल के साथ कुल्ले कर डालो। रीति यह है। एक बार नाक से पानी अन्दर ले जाओ। यह बोधिसत्त्व नागार्जुन का ग्रहण किया हुआ दीर्घायु-प्राप्ति का साधन है। यदि यह क्रिया बहुत कठिन हो तो जल पीना भी अच्छा है। जब मनुष्य को इन क्रियाओ का अभ्यास हो जाता है तब उस पर रोग का आक्रमण कम होता है। दांतों की जडों पर काल के प्रभाव से जमे हुए मैल को पूरी तरह से साफ़ कर देना चाहिए। गरम पानी से धोने से दात आयु-भर के लिए मैल से मुक्त हो जाते है। दातुन करने के कारण भारत में दन्तशूल बहुत कम होता है।

चीन में कुछ लोग बेत की छोटी-छोटी लकड़ियो का व्यवहार करते हैं। इन्हे वे सारी-की-सारी चबा डालते हैं, पर उन्हें कुल्ला करने और रस को फेंकने की रीति का कुछ भी ज्ञान नही। कभी-कभी यह समझा जाता है कि दातुन के रस

को पीन से राग की शाति हो सकती है। परतु इसे पीने से मनुष्य, अपनी शुद्धि की अभिलाषा के विपरीत, अपवित्र हो जाता है। यद्यपि उसकी इच्छा रोग से छुटकारा पाने की होती है, परतु वह उससे भी बड़े रोग मे फंस जाता है। भारत के पाच खडो के लोगो मे दातुन का करना बिलकुल सामान्य बात है। यहां तक कि तीन बरस के बालको को भी दातुन करना सिखाया जाता है।

9

उपवसथ[1]-दिवस पर भोज के नियम

मै भारत तथा दक्षिणी सागर के द्वीपो मे, भिक्षुओ को भोजन के लिए निमत्रित करने की प्रक्रिया का सक्षेप में वर्णन करूगा। भारत में अतिथि-सेवक पहले भिक्षुओ के पास आता है, और प्रणाम करके उन्हे पर्व पर निमंत्रण देता है। उपवसथ के दिन वह उन्हे 'यह ठीक समय है' कहकर सूचना देता है।

भिक्षुओं के लिए ताबे के बर्तनो का ही उपयोग किया जाता है। ये बारीक राख से रगडकर साफ़ कर दिए जाते है। मिट्टी के कोरे बर्तनो का एक बार उपयोग करना अनुचित नही। उनका उपयोग हो चुकने पर उन्हे एक खाई मे फेक देना चाहिए, क्योंकि उपयोग में आए हुए (मूलार्थत 'छुए हुए') बर्तनों को बिलकुल नहीं सुरक्षित रखना चाहिए। फलत. भारत मे, जहा-जहा सड़क के किनारे सदाव्रत हैं, वहां, फेके हुए बर्तनो के ढेर लगे रहते हैं, और इनका दुबारा उपयोग नही किया जाता।

दानपति के घर में भोजन करने की कोठरी की भूमि गाय के गोबर से लीप दी जाती है और नियमित अतरों पर छोटी-छोटी कुर्सिया बिछाई जाती हैं; और एक साफ ठिलिया में बहुत-सा जल तैयार किया जाता है। भिक्षुगण आकर पहले अपने कचुकों के बोताम खोलते है। सबके सामने साफ लोटे रखे होते हैं। वे जल की परीक्षा करते है। यदि उसमें कोई कीडा न हो तो वे उससे पांव धोकर उन छोटी कुर्सियो पर बैठ जाते हैं। वे कुछ समय तक विश्राम करते हैं। तब दानपति, समय देखकर और यह मालूम करके कि सूर्य अब प्रायः खमध्य पर पहुच गया है, यह घोषणा करता है—'यह ठीक समय है।' तब प्रत्येक भिक्षु अपने कचुक को दोनो कोनों से लपेटकर और अपने अचल के दाये कोने को लेकर, कमर के साथ बायीं ओर पकड लेता है। भिक्षुगण मटर के चूर्ण अथवा बारीक मिट्टी से रगडकर हाथ साफ करते है। तब वे अपने स्थानो पर वापस आ जाते हैं। तत्पश्चात् अतिथियों को भोजन के बर्तन बांटे जाते हैं। भोजन के पहले ईश-प्रार्थना करने

---

1 अर्थात् उपवास का दिन। यह भिक्षुओं और उनके भक्तजन के लिए धर्मानुष्ठान और कीर्तन का दिन है और यह एक त्योहार है।

की रीति नही दानपति इस समय तक) हाथ पाव धोकर आसनो की पक्ति के ऊपरी सिरे पर महात्माओ (अर्हतों की प्रतिमाओं) को चढावा चढाता है। तत्पश्चात् वह भिक्षुओ को भोज बाटता है। पक्ति के सबसे निचले सिरे पर माता, हारिती को भोजन चढाया जाता है।

हारिती चार दिव्य राजाओं[1] की प्रजाओं मे से एक है। उसमें धन प्रदान करने की शक्ति है। जो लोग अपनी शारीरिक निर्बलता के कारण सतानहीन है, वे यदि भोजन का चढावा चढाकर, सतान के लिए उससे प्रार्थना करें, तो उनकी मन कामना सदा पूर्ण हो जाती है। इसका पूरा वृत्तांत विनय मे दिया गया है।

अपरञ्च भारत के बडे-बड़े विहारो मे, पाकशाला में स्तम्भ के पार्श्व पर, अथवा उसके सम्मुख, लकडी में खुदी हुई एक देवता की दो-तीन फुट ऊची मूर्ति होती है। इसके हाथ में सोने की एक थैली होती है। इसका मुखमडल काला हो जाता है, और यह देवता महाकाल कहलाता है। प्राचीन ऐतिह्य कहता है कि यह (स्वर्ग मे) महेश्वर के प्राणियो मे से था। वह स्वभावत 'तीन रत्नों' से प्रेम ओर विपत्ति से पाच परिषदो[2] की रक्षा करता है। उसके उपासकों की सभी कामनाए पूर्ण हो जाती है। भोजन के समय पाकशाला मे काम करनेवाले धूप और दीप चढाते है, और सब प्रकार के तैयार किए हुए भोजन देवता के सामने सजाते हैं। मै एक बार पदन[3] विहार (बधन) देखने गया था। वहां सामान्यत एक सौ से अधिक भिक्षु भोजन किया करते हैं। एक बार, कोई दोपहर के समय, वहा सहसा पांच भिक्षु आ पहुचे। उनके लिए दोपहर से ठीक पहले भोजन तैयार करने के लिए समय न था। विहार के एक नौकर की माता ने तत्काल बहुत-सी धूप जलाई और काले देवता के सामने भोजन चढ़ाकर उससे प्रार्थना की—'यद्यपि महामुनि निर्वाण को प्राप्त हो चुका है, परतु तेरे जैसे प्राणी अभी तक मौजूद हैं। अब इस पवित्र स्थान की पूजा के लिए यहा प्रत्येक स्थान से भिक्षुगण पधारे है। हमारा भोजन उनके लिए कम न निकले; क्योंकि यह तेरी शक्ति में है। कृपा करके इस समय को मनाइए।' तब सब भिक्षुओ को बिठला दिया गया। भोजन उस भारी भिक्षु-समूह के लिए पर्याप्त निकला, और सामान्य रूप से जितना पहले बचा करता था उतना बच भी रहा। मैं स्वय उस स्थान की पूजा के लिए वहा गया, इसलिए मैंने उस काले देवता की प्रतिमा देखी जिसके सामने भोजन की प्रचुर भेट चढाई गई थी। (गया के समीप) महाबोधि विहार के नाग महामुचिलिंद[4] मे ऐसी ही अलौकिक शक्ति है।

---

1 चतुर्महाराजदेवा (चातुम्महाराजिका देवा), महावग्ग।

2 पांच परिषद् ये हैं—(i) भिक्षु, (ii) भिक्षुणी, (iii) शिक्षमाणा, (iv) श्रमणेर, (v) श्रमणेरी।

3 कुशीनगरांतर्गत मुकुट-बधन का एक विहार।

4 महावग्ग मे लिखा है कि मुचिलिद बुद्ध की रक्षा करने तथा उनका उपदेश सुनने आता था।

भोजन परोसने की विधि आगे दी जाती है। पहले कोई अंगूठे के परिमाण के अदरक के एक-एक या दो-दो टुकडे (प्रत्येक अतिथि को) परोसे जाते हैं और साथ ही एक पत्ते पर डेढ-डेढ चमचे भर नमक दे दिया जाता है। जो मनुष्य नमक परोसता है, वह हाथ जोडे हुए प्रधान भिक्षु के सम्मुख घुटनो के बल झुककर, धीरे से कहता है, 'सप्रागतम्' । इसका अनुवाद है 'शुभागमन' । अब प्रधान भिक्षु कहता है—'समान रूप से भोजन परोसो।'

भोजन परोसनेवाला अतिथियो के सामने खडा होकर, जिनके पैर एक पक्ति मे होते है, सत्कारपूर्वक प्रणाम करता है, और हाथो में भोजन-पात्र, मीठी रोटिया ओर फल लेकर भिक्षु के हाथो से कोई एक वितस्ति (ऊपर) से उन्हे परोसता है। प्रत्येक दूसरा बर्तन अथवा भोजन अतिथि के हाथों से एक या दो इंच ऊपर से देना चाहिए। यदि कोई वस्तु अन्यथा परोसी जाय तो अतिथियों को चाहिए कि उसे स्वीकार न करे। भोजन के परोसे जाते ही अतिथि खाना आरभ कर देते है, उन्हें इस बात का कष्ट नही उठाना चाहिए कि जब तक सबको समान रूप से भोजन न परोसा जाय तब तक प्रतीक्षा करते रहे।

फिर सुखाए हुए चावल और लोबिए के झोर की बनी हुई कुछ लपसी छाछ की गरम चटनी के साथ स्वाद के लिए परोसी जाती है। इसे दूसरे भोजन के साथ उगलियों से मिलाया जाता है। वे (अतिथि) दायें हाथ से खाते है। इसे वे पेट के मध्य भाग से ऊचा नहीं उठाते। अब रोटियां, फल, घी और कुछ खाड परोसी जाती है। यदि किसी अतिथि को प्यास लगे तो वह, गरमी हो या सरदी, ठंडा जल पीता है। दैनिक जीवन तथा विशेष सत्कार के अवसर पर भिक्षुओ के खाने का यह संक्षिप्त वर्णन है।

उपवसथ-दिवस ऐसे समारोह से मनाया जाता है कि सब थालियां और रकाबिया रोटियों से भर दी जाती है और चावल अलग बच रहते हैं, घी और मलाई जितनी चाहो खा सकते हो।

बुद्ध के समय में राजा प्रसेनजित् ने सघ को भोजन के लिए निमत्रण दिया था। उस समय पेय, आहार घी, मलाई इत्यादि इतने ज़्यादा परोसे गए थे कि वे बहुतायत से भूमि पर बह रहे थे।

जो मनुष्य निर्धन होता है वह, भोजन के अनंतर, अपनी सामर्थ्य के अनुसार छोटी-छोटी चीज़ों का दान करता है। भोजन कर चुकने के पश्चात् थोडे-से पानी से कुल्ला किया जाता है, जिसे पी लेना चाहिए। दायें हाथ को तनिक धोने के लिए बासन में कुछ जल अवश्य डाल रखना चाहिए। हाथ धो चुकने के पश्चात् मनुष्य भोजन करने के स्थान से जा सकता है। वहा से बाहर निकलते समय, दूसरो को देने के लिए, उसे दायें हाथ मे मुट्ठी भर भोजन लाना चाहिए। बुद्ध

न इसकी आज्ञा दी हे चाहे यह भोजन वुद्ध का हो चाहे सघ का परन्तु खान से पूर्व भोजन के देने का विधान विनय में नही। इसके अतिरिक्त भोजन का एक थाल मृतको और अन्य आत्माओ को, जो भेंट दिए जाने के योग्य हों, चढाया जाता है। इस रीति का मूल गृध्रकूट बताया जाता है जेसा कि सूत्रों में पूर्ण रूप से वर्णित ह।

उस मुट्ठी-भर भोजन को स्थविर के सामने लाकर उसे प्रणाम करना चाहिए। वह स्थविर जल की कुछ बूंदे छिडककर निम्नलिखित प्रार्थना करे—

'जो धर्म-कार्य हम करनेवाले है उनके वल से हम प्रेतलोक को उदारतापूर्वक लाभ पहुचावे, और वे प्रेत, इस भोजन को ग्रहण करके, मृत्यु के अनतर सुखद अवस्था मे पुनः जन्म ले।'

तत्पश्चात्, भोजन को वाहर लाकर, मृतको को देने के लिए, किसी गुप्त स्थान, वन, कुंज, नदी अथवा सरोवर में डाल देना चाहिए।

इस प्रक्रिया के समाप्त हो जाने पर दानपति अतिथियो को दातुनं और शुद्ध जल देता है।

यदि दानपति पसद करे तो संगीत—ढोल और सारंगी के साथ गीत गाना—भी होता है। तब जैसे-जैसे प्रत्येक को भोजन परोसा जाता है वह खाना आरभ करता जाता है, और जब वह समाप्त हो जाता है तब प्रत्येक अतिथि के सामने एक बासन मे लोटे से जल डाला जाता है। अब स्थविर दानपति के लिए एक छोटी-सी दान-गाथा सुनाता है। यह शेपोक्त बात भारत मे (उपवास के दिन) भोजन का चढावा लेने की वैकल्पिक रीति है।

अब मैं विनय के नियमो के अनुसार भोजन करने की सामान्य विधि से स्थूल वर्णन करना चाहता हूं।

पचभोजनीयम् और पंचखादनीयम् का विनय मे बहुत बार उल्लेख हे। भोजनीयम् का अर्थ है वह वस्तु जिसे निगलना और खाना पडता है (अर्थात् गीला ओर कोमल भोजन), और खादनीयम् का अर्थ है वह वस्तु जिसे चबाना या पीसना पडता है (अर्थात् कड़ा और ठोस भोजन)। पचभोजनीयम् ये है—1. चावल; 2 जो ओर मटर की उवली हुई खिचड़ी; 3. भुना हुआ मक्की का आटा, 4 मास, 5. मीठी रोटियां। पंचखादनीयम्—1. मूल; 2. डठल, 3. पत्ते, 4. फूल, 5. फल। यदि पाच का पहला समूह (अर्थात् पंचभोजनीयम्) ग्रहण कर लिया जाय तो फिर उन लोगो को जिनके पास और अधिक भोजन करने के लिए कोई कारण नही, किसी प्रकार भी पाचों का दूसरा समूह न खाना चाहिए, परतु यदि पिछले पांच पहले खा लिये हों तो अपनी इच्छा के अनुसार मनुष्य पहले पाच भी खा सकता है।

हम दूध, मलाई इत्यादि को उपर्युक्त पाच के दो समूहो के अतिरिक्त गिन सकते हैं; क्योकि विनय मे इनके लिए कोई विशेष नाम नही, और यह स्पष्ट है

कि ये विशेष भोजन के अन्तर्गत नही।

आटे की बनी हुई जो भी चीज़ (जैसा कि गुलगुले अथवा लपसी) यदि इतनी कडी हो कि उसमे डाला हुआ चमचा बिना किसी ओर झुके सीधा खडा रहे तो उसे रोटियो और भात के अंतर्गत रखना चाहिए। पानी के साथ मिलाए हुए, भुने हुए, आटे पर यदि उंगली का चिह्न बन सकता है तो उसका भी पाच मे से एक मे समावेश है।

अब भारत के पाच देशो को लीजिए। उनकी सीमाए लंबी-चौडी और दूर है। स्थूल रूप से कहे तो मध्य भारत से प्रत्येक दिशा मे सीमा तक की दूरी (मूलार्थत , पूर्व, पश्चिम, दक्षिण और उत्तर) कोई 400 योजन है। इस माप मे दूरस्थ सीमाप्रात नही गिना गया। यद्यपि मैंने स्वय भारत के ये सब भाग नही देखे, फिर भी मै सावधानतापूर्वक अन्वेषण करने से प्रत्येक बात जाच सकता था।

सारा भोजन, ग्रहण करने के लिए और क्या-क्या चबाने के लिए, बड़ी उत्तमता से नाना विधियो से तैयार किया जाता है। उत्तर मे गेहूं का आटा वहुत होता है, पश्चिमी प्रदेश मे सबसे अधिक सेंका हुआ आटा (चावल या जौ का सत्तू) बर्ता जाता है। मगध में गेहू का आटा वहुत कम परतु चावल बहुतायत से होता है। दक्षिणी सीमान्त प्रदेश और पूर्वी उपान्त्य-भूमि की उपज वही है जो कि मगध की।

घी, तेल, दूध और मलाई सब कही मिलती है। मीठी रोटियो और फलो जैसी वस्तुओं की इतनी प्रचुरता है कि उनका यहां गिनना कठिन है। यहा मीठा ख़रबूज़ा और तरबूज होता है; गन्नों और आलू-कचालू आदि भूमि के भीतर लगनेवाले खाद्य पदार्थो की बहुतायत है।

भारत के पांचों भागों में कोई भी लोग किसी प्रकार का प्याज, अथवा कच्ची तरकारियां नही खाते, इसलिए वे अजीर्ण से बचे रहते हैं; उनका आमाशय और अतडियां नीरोग रहती है और उनके कड़ी हो जाने या दुखने का कोई कष्ट नही होता है।

दक्षिणी सागर के दस द्वीपों में उपवास के दिन एक बड़े परिमाण में आतिथ्य किया जाता है। पहले दिन दानपति पिन-लंग सुपारी, फ़ू ट्जू (मुस्तक) से बनाया हुआ सुगधित तेल, और एक थाली में पत्ते पर पिसे हुए थोडे-से चावल तैयार करता है। इन तीनो चीज़ो को एक बड़ी पटरी पर चुनकर एक सफ़ेद वस्त्र से ढक दिया जाता है। एक सुनहरे लोटे में जल डालकर रख लिया जाता है, और इस पटरी के सामने की भूमि पर जल छिडक दिया जाता है। ये सब बातें हो जाने पर भिक्षुओ को भोजन के लिए बुलाया जाता है। अंतिम दिन दोपहर के पहले भिक्षुओं को शरीर पर तेल मलने और धोने तथा स्नान करने के लिए कहा जाता है। दूसरे दिन के अश्व-समय (मध्याह्न) के पश्चात् (विहार से) गाड़ी अथवा पालकी पर एक

पवित्र प्रतिमा ले जाई जाती है। इसके साथ भिक्षुओ और सामान्य लोगों का एक बडा समूह ढोल और बाजे बजाता, धूप और पुण्य चढाता और धूप मे चमकते हुए झडे हाथो मे लिये चलता है। इस प्रकार इसे घर के आगन मे पहुचाया जाता है। एक बड़े विस्तीर्ण छत्र के नीचे, चमकीली और सुचारु रूप से अलंकृत सोने अथवा कासे की प्रतिमा पर कोई सुगंधित लेई (उबटन) मली जाती है। फिर इसे एक साफ बासन मे रख दिया जाता है। जितने लोग वहा उपस्थित होते है वे सब इसे सुगधित जल (गंधोदक) से स्नान कराते हैं। सुगधित वस्त्र से पोंछने के पश्चात् इसे घर के मुख्य दालान में पहुचाया जाता है। वहा इसे प्रचुर धूप और दीप चढाया जाता है और स्तुति के भजन गाए जाते है। तब भविष्य जीवन के सबंध मे धार्मिक भोज के पुण्य को प्रकट करने के लिए स्थविर दानपति के लिए दान-गाथा सुनाता है। फिर भिक्षुओ को हाथ धोने तथा कुल्ला करने के लिए घर से बाहर ले जाया जाता है, और, इसके अनतर, उन्हे शरबत (पान) और पिन-लंग फल (अर्थात् सुपारी) यथेष्ट परिमाण मे दिए जाते हैं; तब वे उस घर से वापस चले आते है। तीसरे दिन के पूर्वाह्न मे, दानपति, विहार को जाते हुए, भिक्षुओं से कहता है–'यह ठीक समय है।' वे, स्नान करने के बाद, भोजवाले घर में आते हैं। इस समय भी मूर्ति स्थापित की जाती है और इसको स्नान कराने की प्रक्रिया अधिक संक्षेप से पूरी की जाती है। परतु धूप तथा पुष्पो का चढ़ावा और सगीत पहले दिन से दुगुना होता है। प्रतिमा के सामने नाना प्रकार के चढावे यथाक्रम सजाए जाते है, और उसके दोनों ओर पांच या दस कन्याएं पंक्ति में खड़ी होती हैं। सुभीते के अनुसार कुछ लड़के भी खड़े किए जाते हैं। इनमे से प्रत्येक के पास या तो धूप जलाने का पात्र होता है, या सुनहरा जल-पात्र, या दीपक अथवा कुछ सुंदर पुष्प, सफेद चवर होता है। लोग सब प्रकार की शृंगार की वस्तुएं लाकर बुद्ध की मूर्ति के सामने चढाते हैं। एक बार मैंने उनसे पूछा–'आप यह किस प्रयोजन से कर रहे हैं ?' उन्होंने उत्तर दिया–'यह क्षेत्र है, और हम अपने पुण्य का बीज बो रहे हैं। यदि हम अब चढावा नही चढाएंगे, तो भविष्य में पुण्य का फल कैसे प्राप्त कर सकेंगे ?' यह युक्तिपूर्वक कहा जा सकता है कि ऐसा काम भी पुण्य-कर्म ही है। फिर अनुरोध करने पर, एक भिक्षु मूर्ति के सामने घुटनो के बल बैठकर बुद्ध-गुण-गान करता है। इसके बाद, अनुरोध करने पर, दो और भिक्षु, मूर्ति के निकट बैठकर एक पृष्ठ अथवा पत्ते पर से एक छोटा-सा सूत्र पढ़ते है। ऐसे अवसरों पर, वे कभी-कभी मूर्तियो की प्रतिष्ठा करते, और उनकी आंखो की पुतलियों का चिह्न लगाते हैं, ताकि इसके फल से उन्हें आनंद की प्राप्ति हो। अब भिक्षुगण स्वेच्छा से कमरे के एक पार्श्व मे चले जाते है। वहां अपने काषायो को लपेटकर उनके दोनों कोनों को छाती पर बांध लेते हैं। फिर वे हाथ धोकर खाने के लिए बैठ जाते हैं।

वे बहुधा पत्तो को इकट्ठा सीकर उनसे थाली का काम लेते है ये पत्तल आधी चटाई (जिस पर वे बैठते है) जितनी चौडी होती हैं। वे ऐसी ही पत्तलें बनाकर भिक्षुओ के सामने चढाते है। तब उन्हें बीस या तीस प्रकार के भोजन परोसे जाते है। परतु यह अपेक्षाकृत निर्धन लोगो के दिए हुए भोज की बात है। यदि भोज देनेवाले राजा अथवा धनाढ्य मनुष्य हो तो कासे की थालिया, कासे के कटोरे ओर चटाई जितनी वडी पत्तलें बाटी जाती है, और नाना प्रकार की खाने-पीने की वस्तुओ की सख्या सौ तक पहुंच जाती है। ऐसे अवसर पर राजा लोग अपने उच्च पद की कुछ परवाह नही करते, और अपने आपको सेवक कहते है और सव तरह के सम्मान प्रदर्शित करते हुए भिक्षुओ को भोजन कराते है। भोजन जितना दिया जाय उतना भिक्षुओं को स्वीकार करना पडता है। वह कितना ही अधिक क्यो न हो, वे उसे रोक नही सकते। यदि वे केवल उतना ही भोजन लेगे जितना कि उनकी क्षुधानिवृत्ति-मात्र के लिए पर्याप्त हो, तो दानपति प्रसन्न न होगा; क्योंकि उसे सतोष तभी होता है जब वह आवश्यक से बहुत बढ़कर भोजन परोसा हुआ देखता है।

भिक्षुओ के ग्रहण कर चुकने और हाथ-मुह धो चुकने के अनतर उच्छिष्ट भोजन वहा से उठा दिया जाता है और भूमि को साफ करके उस पर फूल बिखेर दिए जाते है। वाद को दीपोत्सव किया जाता है और वायु को सुगधित करने के उद्देश्य से धूप जलाया जाता है, साथ ही भिक्षुओ को जो कुछ देना हो वह उनके सामने सजाकर रख दिया जाता है। अब, वू-वृक्ष (द्रयंद्र बीज) के फल के परिमाण के लगभग, सुगंध की लेई प्रत्येक को दी जाती है। वे उसे हाथों मे मल लेते है जिससे वे स्वच्छ और सुवासित हो जाय। फिर कुछ पिन-लंग फल (सुपारी) और जायफल, लौंगों और कपूर के साथ मिलाकर, बांटे जाते हैं। इनको खाने से उनका मुख सुगंधित हो जाता है, भोजन पच जाता है, और कफ दूर हो जाता है। ये आरोग्यजनक वस्तुएं और अन्य पदार्थ, शुद्ध जल में धोकर और पत्तों मे लपेटकर, भिक्षुओं को दिए जाते हैं।

अब दानपति स्थविर के पास आकर, अथवा (सूत्र) पढनेवाले के सम्मुख खडा होकर, कुडी के चोचदार मुख से एक बासन मे जल डालता है, जिससे ताबे की एक पतली छडी के सदृश जल लगातार निकलता है। भिक्षु दान-गाथाए मुह मे पढता है। उसके हाथ मे पुष्प होते है और उन पर जल गिरता है। पहले, बुद्ध के शब्दो के श्लोक पढ़े जाते हैं, तत्पश्चात् दूसरे लोगो के बनाए हुए। श्लोको की संख्या, पढ़नेवाले की इच्छा अथवा अवस्थाओ के अनुसार, थोडी अथवा अधिक हो सकती है। तब पुरोहित, दानपति का नाम लेकर, उसके सुख के लिए प्रार्थना करता है, और उस समय किए हुए शुभ कर्मो का पुण्य-फल मृतकों, राजाओं, नागो तथा प्रेतो को देने की कामना करता है, और प्रार्थना करता है कि 'देश मे उत्तम

फसलें हो, मनुष्य और अन्य प्राणी सुखी हो, शाक्य की श्रेष्ठ शिक्षा चिरस्थायी हो।'
ये स्वय जगत्-पूज्य (बुद्ध) के दिए हुए आशीर्वाद हैं। पुण्यात्मा (बुद्ध) ने हमें आज्ञा दी है कि दानपति के आतिथ्य का पुरस्कार देने के लिए भोजन के अनतर हम एक-दो दान-गाथाए पढनी चाहिए। यदि हम इसकी उपेक्षा करते है तो पवित्र नियमो के विरुद्ध चलते हैं, और दिए हुए भोजन को ग्रहण करने के अधिकारी नही।

एक और रीति है, जिसका प्रचार मध्यम स्थिति की जनता मे है। पहले दिन, भिक्षुओं को निमंत्रित करके उन्हे सुपारी दी जाती है; दूसरे दिन, तीसरे पहर बुद्ध की मूर्ति को स्नान कराया जाता है, दोपहर के समय भोजन किया जाता है, और सायकाल सूत्र पढे जाते हैं। इसके अतिरिक्त एक और भी रीति है, जिसका प्रचार दरिद्र लोगो में है। पहले दिन, दानपति भिक्षुओ को दातुने भेट करता ओर उन्हे भोजन के लिए निमंत्रण देता है; दूसरे दिन, वह केवल भोजन तैयार करता हे या कभी-कभी दानपति जाकर भिक्षुओ को प्रणाम करता और उन्हे दान दिए बिना ही भोजन के लिए बुलाने की इच्छा प्रकट करता है।

यद्यपि भिन्न-भिन्न देशों मे उपवसथ-दिवस की प्रक्रियाए साधारण परिपाटी आर भोजन मे इतनी भिन्न-भिन्न हैं, फिर भी सघ की व्यवस्था, पवित्रता की रक्षा, उंगलियो से भोजन करने की रीति, और अन्य सारे नियम बहुत कुछ वही हैं। सघ के कुछ भिक्षु कई एक धूतांगों (अर्थात्, भिक्षुओं के लिए दैनिक जीवन के विशेष नियमों) का अभ्यास करते है, जैसा कि भिक्षा पर निर्वाह करना और केवल तीन कपडे धारण करना (अर्थात् पैंडपातिकांग और त्रैचीविरकांग)। ऐसा भिक्षु कोई निमत्रण स्वीकार नहीं करता, और स्वर्ण जैसे बहुमूल्य पदार्थो के दान को थूक के समान समझकर उसकी कुछ परवाह नहीं करता, तथा किसी एकाकी वन में छिपकर रहता है।

ये नियम गुरुदेव के आदेश है, और मनुष्य को हर तरह से उनका पालन तथा अनुष्ठान करना चाहिए। परंतु इसके विपरीत कुछ लोग ऐसे हैं जो असावधानी से अपने आपको निष्पाप समझते हैं, और जो यह नहीं जानते कि खाने से अशौच पैदा हो जाता है।

कुछ लोग व्यभिचारीसंबधी एक-आध आज्ञा का पालन करने से ही कहते है कि हम पाप से मुक्त हैं। परतु उन्हे यह विदित नहीं कि प्रत्येक आहार, अधर्म होने पर, नरक मे पसीना बहाने का कष्ट देता है, उन्हें यह मालूम नहीं है कि भूल से उठाए हुए प्रत्येक पग के परिणाम से मनुष्य को विद्रोही के रूप मे जीने का क्लेश सहना पड़ता है।

बोधिसत्व का मूल-संकल्प वायु के थैले को (जो कि भवसागर में पडे हुए सभी प्राणियों को दिया गया है) कसकर रखना है, जिससे वह टपकने न पावे।

अपने छोटे-से-छोटे अपराध पर भी यदि हम आख खोले रहे ता इस घोषणा को कि यह जन्म अंतिम है, पूर्ण कर सकते है। छोटे-छोटे अपराधो को गेककर ओर शून्यवाद का चिंतन करके, हम दयालु पूज्यदेव की शिक्षा के अनुसार महायान ओर हीनयान दोनो सप्रदायो का अनुष्ठान युक्तिसगत रीति से कर सकते है।

बुद्ध की शिक्षा का प्रचार ससार मे दिन पर दिन कम हो रहा है। मैंने अपने बाल्य-काल में जो कुछ देखा था उसकी तुलना जब मैं उसके साथ करता हू जो कुछ कि मैं आज अपनी वृद्धावस्था में देख रहा हूं तब अवस्था बिलकुल भिन्न मालूम होती है, और हम इसकी साक्षी दे रहे है। आशा है कि भविष्य मे हम अधिक सावधान रहेगे।

खाने और पीने की आवश्यकता चिरस्थायी है, परंतु जो लोग बुद्ध का पूजन ओर सेवन करते है उन्हे उसकी श्रेष्ठ शिक्षा की किसी भी बात की कभी उपेक्षा न करनी चाहिए।

मै फिर कहता हू—बुद्ध के अस्सी सहस्त्र वादो में से केवल दो-एक ही सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण हैं, मनुष्य को सासारिक माग के अनुकूल होना, परंतु भीतर से सच्ची प्रज्ञा प्राप्त करने का यत्न करते रहना चाहिए। अच्छा, अब वह सांसारिक मार्ग क्या है ? यह है निषेधात्मक नियम का पालन करना और प्रत्येक प्रकार के पाप से बचना। सच्ची प्रज्ञा क्या है ? यह है विषयी और विषय के बीच के भेद-भाव को मिटा देना, उत्कृष्ट सत्य पर चलना और अपने आपको सासारिक आसक्ति से मुक्त करना; कारणत्व की लडी की वर्तमान बेडियो को फेक देना; बहुत-से शुभ कर्मो का संग्रह करके धार्मिक पुण्य-लाभ करना और अन्ततः पूर्ण तत्त्व के उत्कृष्ट अर्थ का अनुभव कर लेना। मनुष्य को न तो किसी त्रिपिटक से अनजान होना चाहिए, और न इसमें वर्णित सिद्धांतों और शिक्षा से घबराहट में ही पडना चाहिए।

जो मनुष्य नित्यता की सच्चाई का अनुभव करना चाहता है उसे पवित्रता से नैतिक आदेशो का पालन करना चाहिए। मनुष्य को चाहिए कि छोटे-से दोष से भी बचता रहे क्योंकि, तैरने की मशक से थोडी-सी हवा निकल जाने के सदृश, इससे प्राण-हानि की सम्भावना है; मनुष्य को बडे अपराध को रोकना चाहिए, क्योकि वह मनुष्य के जीवन को निष्फल बना देता है। सारे बडे-बडे अपराधों में से मुख्य और प्रधान वे है जिनका सबंध भोजन और वस्त्र से है। बुद्ध की शिक्षा पर चलनेवाले के लिए मोक्ष बहुत दूर नहीं, परंतु जो उन पवित्र वचनों की उपेक्षा करता है, उसके लिए पुनर्जन्म सदा बना रहता है।

10

आवश्यक भोजन और वस्त्र

पार्थिव शरीर केवल भोजन और वस्त्र द्वारा ही रखा जाता है, और आध्यात्मिक ज्ञान शून्यता के सिद्धान्त के द्वारा ही बढाया जा सकता है। यदि भोजन और आच्छादन का व्यवहार उचित नियमो के विरुद्ध हो तो पग-पग पर कोई-न-कोई अपराध होता रहेगा। इसलिए जो लोग मोक्ष की तलाश में हैं, उन्हे बुद्ध के श्रेष्ठ वाक्यों के अनुसार भोजन और आच्छादन का व्यवहार करना चाहिए।

इहलोक के जीवन की रक्षा करो, जो कि भूले-भटके लोगों के लिए कारागार-मात्र है, परतु निर्वाण-रूपी तट की ओर उत्सुकता से देखो, जो कि बोधि और विश्राम का मुक्त-द्वार है। धर्म-रूपी जहाज दुःख-रूपी समुद्र के लिए तैयार रखना चाहिए, ओर प्रज्ञा के दीपक को अधकार के दीर्घकाल मे ऊपर उठा रखना चाहिए।

प्रव्रज्या के जीवन के लिए आच्छादन के नियम सबसे अधिक महत्त्व रखने है, इसलिए मै यहा परिच्छेद के ढग का सविस्तार उल्लेख करता हू, क्योकि इनकी उपेक्षा अथवा सक्षेप नही किया जा सकता। तीन परिच्छेदों (चीवर) को लीजिए, तो भारत के पांचों खंडों में थेगलियां सटी-सटी सी दी जाती हैं, परंतु एक चीन मे वे खुली रहती है और सी नही जातीं। मैने स्वय अन्वेषण किया है कि उत्तरीय देशों में (भारत से परे) कैसी रीति प्रचलित है। मुझे पता लगा है कि जहा-जहा चतुर्निकाय के विनय पर आचरण होता है, वहां सभी स्थानां मे थेगलियां सटी-सटी सी दी जाती हैं।

मान लीजिए कि पश्चिम (अर्थात्, भारत) के किसी भिक्षु को चीन का चीवर मिलता है; वह सम्भवत· थेगलियों को सीकर फिर से धारण करेगा।

सभी निकायो की विनय-पुस्तकों मे थेगलियो को सीने तथा बांधने की आज्ञा है।

विनय में छः आवश्यक द्रव्यों (परिष्कारों) और तेरह अपरिहार्य वस्तुओ के सबध मे कडे नियमो की पूरी-पूरी व्याख्या है। भिक्षु के छ· परिष्कार आगे दिए जाते हैं—

1. सघाटी, जिसका अनुवाद 'दोहरा कचुक' किया जाता है।
2. उत्तरासग जिसका अनुवाद 'ऊपर का परिच्छेद' किया जाता है।
3. अंतर्वास, जिसका अनुवाद 'भीतर का परिच्छेद' किया जाता है।

ऊपर कहे गए तीनों चीवर कहलाते हैं। उत्तर के देशो मे भिक्षुओं के ये कचुक अपने गेरुवे रंग के कारण प्रायः काषाय कहलाते है। परन्तु इस पारिभाषिक शब्द का विनय में व्यवहार नही हुआ।

4. पात्र।

5. निषीदन, अर्थात् बैठने अथवा लेटने के लिए कोई चीज।

6. परिस्रावण, अर्थात् पानी की चालनी।

दीक्षार्थी के पास ये छ: परिष्कार होने चाहिए।

तेरह अपरिहार्य वस्तुएं निम्नलिखित है—

1 संघाटी, एक दोहरा कचुक।

2 उत्तरासग, ऊपर का परिच्छेद।

3. अतर्वास, भीतर का परिच्छेद।

4 निषीदन, बैठने अथवा लेटने की चटाई।

5. (निवासन), एक अतरीय वसन।

6. प्रतिनिवासन (एक दूसरा निवासन)।

7 संगक्षिका, बग़ल को ढंकनेवाला कपडा।

8. प्रति-संगक्षिका (एक दूसरी सगक्षिका)।

9. (काय-प्रोंखन), शरीर पोछने का तौलिया।

10. (मुख-प्रोंखन), मुह पोछने का तौलिया।

11. (केश-प्रतिग्रह), मूड़ते समय बाल गिराने का कपडा।

12. (कडुप्रतिक्खदन), खुजली को ढांपने का कपडा।

13 (भेषजपरिष्कारचीवर), अर्थात् (आवश्यकता के समय) औषधियो देने के लिए रखा हुआ कपड़ा।

यह एक गाथा-द्वारा इस प्रकार बताया गया है—

तीन चीवर, बैठने की चटाई (1, 2, 3, 4)।

निवासनो और सगक्षिकाओ का एक जोडा (5, 6, 7, 8)।

शरीर और मुख के लिए तौलिए, क्षौर के लिए कपडा (9, 10,

खुजली के लिए कपड़ा और औषध के लिए वास (12,13)।

प्रत्येक भिक्षु को ये तेरह अपरिहार्य वस्तुएं रखने का अधिकार हे।— प्रतिष्ठित नियम है, और बुद्ध की शिक्षा के अनुसार इनको उपयोग मे लाना इसलिए इन तेरह को विलासिता की दूसरी सामग्री मे नही रख देना चा वस्तुओं की नामावली अलग बननी चाहिए। इन पर चिह्न लगाना चाहिए स्वच्छ और सुरक्षित रखना चाहिए।

इन तेरह में से जो-जो मिलें उन्हे रखो, परतु उन सबको लेने का करो। शेष सब विलासिता के कपडे—जिनका उल्लेख ऊपर नहीं—इन वस्तुओं से भिन्न रखने चाहिए, परंतु ऐसी चीजे, जैसा कि ऊनी सामग्री अथ लिये जा सकते और दानियों की इच्छा को स्वीकार करते हुए उपयोग मे

औषधियों का मूल्य चुकाने के लिए बुद्ध ने भिक्षु को जो कपडा रखने की आज्ञा दी है वह कोइ 20 फीट लम्बा अथवा रेशम का एक पूरा थान होना चाहिए सम्भव है, मनुष्य पर अकस्मात् रोग का आक्रमण हो जाय, और औषधि की प्राप्ति का उपाय शीघ्र ही ढूढने पर मिलना कठिन हो। इस कारण एक फालतू कपडा पहले से ही तैयार रखने का विधान था, और चूंकि बीमारी के समय इसकी आवश्यकता होती है, इसलिए और प्रकार से इसे प्रयोग मे न लाना चाहिए।

बारीक और मोटे रेशम की आज्ञा बुद्ध ने दी है। यदि जान-बूझकर जीव-हत्या की जाय तो उस कर्म के फल की आशा रखी जाएगी; परंतु यदि जान-बूझकर न हो तो, बुद्ध के वचनानुसार, कोई पाप न लगेगा। तीन प्रकार के शुद्ध मास ऐसे मास ठहराए गए है, जिनके खाने मे कोई पाप नही। यदि इस नियम के भाव की अवहेलना की जाएगी तो कुछ-न-कुछ अपराध, वह थोडा भले ही हो, अवश्य लगेगा।

(तीन प्रकार का मास खाने म), हमारा हत्या का कोई सकल्प नहीं होता, इसलिए हमारे पास एक ऐसा कारण अथवा हेतु है जो हमारे मास-भक्षण को निष्पाप बना देता है।

ऐसे काम, जैसा कि रेशम के कीडो की कुसियारियां स्वयं जाकर मांगना, अथवा कीडों की हत्या होते देखना, उन लोगों का तो कहना ही क्या जो अंतिम मोक्ष की आशा रखते है, सामान्य लोगो के लिए भी उचित नहीं है। ये कर्म, इस दृष्टि से देखने पर, सर्वथा अनुचित सिद्ध होते है। परंतु मान लीजिए कि कोई दानपति (कोई ऐसी वस्तु जैसे रेशमी कपडा) लाकर भेट करता है और भिक्षु 'अनुमत' कहकर उस दान को स्वीकार कर लेता है ताकि तपस्या मे उसका शरीर बना रहे; तो कर्म से उसे कोई पाप नहीं लगता। भारत में भिक्षुओं के वस्त्र यों ही बे ठौर-ठिकाने टाके और सिये जाते है, कपडे के ताने-बाने पर कुछ ध्यान नहीं दिया जाता। उनके निर्माण में तीन या पाच दिन से अधिक नहीं लगते।

रेशम के कीडों का नाम कौशेय है, और जो रेशम उनसे बनवाया जाता है वह भी कौशेय ही कहलाता है; वह बड़ी मूल्यवान् चीज है, और (गदेले के लिए) इसका उपयोग निषिद्ध है। गदेला बनाने की दो विधिया हैं; एक विधि यह है कि कपडे की थैली सीकर उसमे ऊन भर दिया जाता है, और दूसरी यह कि (सूत के) धागे (गदेले मे) बुन दिए जाते है। गदेले का परिमाण दो हाथ चौडा और चार हाथ लंबा होता है; यह ऋतु के अनुसार मोटा और पतला होता है। गदेले के लिए मागने का निषेध है, पर यदि कोई दूसरा दे तो (उसके लेने में) कोई पाप नही, किंतु इसके (वास्तविक) उपयोग के लिए (बुद्ध की) आज्ञा नहीं थी, और कडे नियम

सविस्तार बनाए गए थे। ये सब वस्तुए लेटने के लिए है, और वही चीज़ नही जो कि तीन कपडे (अर्थात् त्रिचीवर) है।

फिर 'विनय' में वर्णित 'शुद्ध-वृत्ति' का अर्थ, सबसे बढकर, मनुष्य का खाना (मूलार्थत', मुख और आमाशय) है। भूमि को जोतने का कार्य इसके योग्य रीति के अनुसार करना चाहिए (अर्थात्, अपने लिए भूमि-कर्षण की आज्ञा नहीं, परतु बौद्ध-संघ के निमित्त ऐसा करने की अनुमति है), परतु बोना और रोपना शिक्षा (मूलार्थतः, शिक्षा के जाल) के विरुद्ध नही। धर्मानुसार भोजन करने में कोई पाप नही, क्योकि आरभ में कहा गया है कि 'चरित्रगठन से सुख बढ़ता है।'

विनय की शिक्षा के अनुसार, जब संघ अनाज का खेत जोते तब उपज का एक भाग विहार के नौकरों अथवा किसी दूसरे परिवारो को, जिन्होंने वास्तव मे जोतने का काम किया है, दिया जाना चाहिए। प्रत्येक उपज को छ' भागो मे बाटना चाहिए, और छठा भाग संघ बटोर ले, सघ को बैल और खेती के लिए भूमि देनी होती है, फिर सघ और किसी वस्तु के लिए उत्तरदाता नही। कभी-कभी उपज की बाट में ऋतुओं के अनुसार परिवर्तन कर देना चाहिए।

पश्चिम के बहुत-से विहारों में उपर्युक्त रीति प्रचलित है, परतु कुछ लोग बडे लालची है और उपज को नही बाटते, किंतु भिक्षुगण स्वय ही, क्या पुरुष और क्या स्त्री, सब नौकरो को काम बांट देते है, और देखते रहते हैं कि खेती का कार्य यथोचित रूप से हो रहा है।

जो लोग धार्मिक उपदेश के अनुसार आचरण करते हैं वे ऐसे लोगो का दिया हुआ भोजन नही खाते, क्योंकि यह समझा जाता है कि ऐसे भिक्षु काम की कल्पना आप तैयार करते है, और 'अशुद्ध वृत्ति' से अपना पोषण करते है, क्योंकि किराए के नौकरों को बलपूर्वक दबाने से मनुष्य के क्रोध में आ जाने की सम्भावना है, भूमि को जोतते समय बीजों के टूटने और बहुत-से जीवों की हिंसा का डर है। मनुष्य का दैनिक भोजन एक शग से अधिक नहीं, फिर उसकी प्राप्ति के यत्न में कौन सैकडों पापों को सह सकता है ?

विनय के अनुसार, भिक्षु को सघ के लिए अर्थ-प्राप्ति की चेष्टा करने की आज्ञा है, परतु बुद्ध की शिक्षा मे भूमिकर्षण और जीवहिसा की आज्ञा नही, क्योकि कृमियो की हिसा और उचित चेष्टा में रुकावट जितनी कृषि मे होती है, उससे अधिक और किसी मे नहीं।

जब मैं पहले-पहल ताम्रलिप्ति में गया तब मैंने विहार के बाहर एक चौक मे इसके कुछ इजारेदार देखे, जिन्होने वहा प्रवेश करके, कुछ तरकारियां तीन भागो मे बांटी थीं, और जो उन तीन भागो में से एक भाग भिक्षुओं की भेंट करके, शेष भाग लेकर वहां से वापस आ गए थे। मैं नही समझ सका कि वे क्या करते थे।

मैने पूज्यवाद तशग तअग (महायानप्रदीप से अभिप्राय पूछा उन्होने उत्तर दिया इस विहार के भिक्षु प्रायः व्यवस्थाओ पर चलनेवाले है। क्योंकि महामुनि ने भिक्षुओ के लिए स्वय खेती करने का निषेध किया है, इसलिए उनकी जिन ज़मीनो पर कर लगता है, उनमें वे खुले तौर से दूसरों से खेती कराते है, और उपज का केवल एक भाग ही आप लेते हैं। इस प्रकार वे सासारिक बातो से बचते हुए और खेतो मे हल चलाने तथा जल-सिचन-द्वारा होनेवाली जीव-हत्या के दोषो से मुक्त रहकर, शुद्ध जीवन व्यतीत करते हैं।

मैंने यह भी देखा कि उस विहार का प्रबंध करनेवाला भिक्षु कुए के घाट पर जल की परीक्षा करता है। यदि उस जल में कोई जीव नही होता तो उसका उपयोग किया जाता है, और यदि उसमे कोई जीव होता है तो उसे छान लिया जाता है, जब दूसरे लोग (भिक्षुओं को) कोई वस्तु, यहा तक कि तरकारी का एक डठल भी देते हैं, तब वे सघ की अनुमति से उसका उपयोग करते है, उस विहार मे कोई प्रधान पद निर्दिष्ट नही किया जाता है, जब कोई काम पड़ता है तब संघ-द्वारा इसका निर्णय किया जाता है, और यदि कोई भिक्षु किसी बात का निश्चय अपने आप कर देता है, अथवा संघ की इच्छा की परवाह न करके स्वेच्छानुसार भिक्षुओ के साथ प्रिय अथवा अप्रिय व्यवहार करता है, तो उसे कुलपति (अर्थात्, उसने गृहस्थों जैसा व्यवहार किया) कहकर (विहार से) निकाल दिया जाता है।

निम्नलिखित बातों पर भी मेरी दृष्टि पड़ी है। जब भिक्षुणियां विहार मे भिक्षुओं के पास जाती थी तब वे पहले (संघ को अपना प्रयोजन) सुनाकर उधर जाती थी। भिक्षुओ को जब भिक्षुणियों की कोठरियो मे जाना होता था तब वे पूछ-ताछ करने के बाद उधर जाते थे। वे (भिक्षुणिया) विहार से दूर होने पर दो-दो मिलकर चलती थीं, परतु जब उन्हे किसी आवश्यक काम के लिए किसी सामान्य मनुष्य के यहां जाना होता था तब वे उधर चार मिलकर जाती थीं। मैंने देखा कि प्रत्येक मास के चार उपवसथ-दिनों में भिक्षुओ का एक बहुत बडा समूह एकत्र होता था। वे सब अनेक विहारो से तीसरे पहर देर से वहां इकट्ठे होकर विहार-विषयक विधियो का पाठ ध्यान-पूर्वक सुनते और बढ़ते हुए सम्मान के साथ उनको मानते और करते थे।

स्त्रिया जब कभी मठ मे प्रवेश करती थीं, कभी (भिक्षुओ की) कोठरियो मे नहीं जाती थीं, वरन् उनके साथ थोड़ी देर तक बराडे में बातचीत करके वापस चली जाती थीं। उस समय उस विहार मे अ-र-हु ('शि' नहीं) ल-मि-त-र (राहुलमित्र) नाम का एक भिक्षु था। वह उस समय कोई तीस वर्ष का था; उसका आचरण बहुत ही उत्कृष्ट और उसकी कीर्ति अत्यन्त महान् थी। वह न केवल त्रिपिटक का ही पारदर्शी पडित था वरन् चार विधाओ के लौकिक साहित्य में भी पूरा-पूरा

निपुण था। भारत के पूर्वी प्रातो मे उसकी पूजा भिक्षु-शिरोमणि के रूप में होती थी। जब से उसने दीक्षा ली थी तब से अपनी माता और बहन के सिवा, किसी स्त्री के साथ आमने-सामने होकर कभी बात नही की थी। वे भी जब उसके पास आती थी, तब वह (अपने कमरे से) बाहर आकर उनसे मिलता था। एक बार मैने उससे उसके ऐसे आचरण का कारण पूछा, क्योकि यह धार्मिक नियम नही हे। उसने उत्तर दिया—'मैं स्वभावत' सासारिक अनुराग से भरा हुआ हूं, और ऐसा किए बिना मै इसके स्रोत को बंद नही कर सकता।' यद्यपि पुण्यात्मा ने हमारे लिए (स्त्रियो से बातचीत करने का) निषेध नही किया, तो भी, यदि खोटी वासनाओ को रोकने का प्रयोजन हो तो यही उचित है (कि उन्हे दूर रखा जाय)।

नालद विहार के रहनेवालों की संख्या बडी और 3,000 से अधिक है। इसके अधिकार में जो भूमि है, उसमें 200 से अधिक गाव है। ये भूमियां अनेक पीढियो के राजाओं ने (विहार को) दान मे दी हैं। इस प्रकार धर्म का अभ्युदय सदा बना रहता है, जिसका कारण सिवा (इस बात के कि) विनय के (अनुसार ठीक-ठाक आचरण किया जाता है) और कुछ नहीं।

अच्छा, अब हम घर क्यों छोड़ते है ? इसका कारण यह है कि हम पाच शंकाओं[1] के भयानक मार्ग का परित्याग करने के लिए सांसारिक दुःखों से अलग रहना, और उससे श्रेष्ठ आठ पर्तवाले (मार्ग) के प्रशांत चबूतरे पर पहुंचना चाहते है। तब क्या यह ठीक है कि हम दुःखों में फस जाए, और एक बार फिर (पाप के) जाल मे पकड़े जाएं ?

यदि हमारा आचरण ऐसा है तो निर्वाण-प्राप्ति की हमारी इच्छा कभी पूर्ण न होगी। बल्कि, कहा जा सकता है कि हम मोक्ष के सर्वथा विरुद्ध कर्म कर रहे है, और निर्वाण-पथ के अनुगामी नही। केवल यही बात युक्तिसंगत है कि हम, अपनी अवस्थाओ के अनुसार, बारह धूतागों का अनुष्ठान करते हुए, और केवल तेरह अपरिहार्य वस्तुएं रखते हुए, अपने जीवन का पोषण करे। कर्म के प्रभाव को नष्ट करना है; अपने गुरु, अपने संग और अपने माता-पिता के किए हुए उपकारो का बदला चुकाना है, और देवों, नागो अथवा राजाओ ने जो प्रगाढ करुणा दिखाई थी उससे उऋण होना है। ऐसा आचरण करना वास्तव मे मानवी घोड़े को सधानेवाले (अर्थात्, बुद्ध) के उदाहरण का अनुकरण करना और विनय-मार्ग का यथार्थ रीति से अनुसरण करना है। इस प्रकार मैंने भिक्षु के जीवन की रीति का विचार किया है, और (चीन तथा भारत के) वर्तमान अनुष्ठानों का वर्णन कर दिया है।

---

1 पांच शंकाए ये है—(i) जीविका की न्यूनता, (ii) अपयश, (iii) मृत्यु, (iv) पशु आदि नीच योनि मे जन्म, (v) और सासारिक प्रभाव।

परमात्मा करे कि सभी धमशील लोगो को मेरा यह विमर्ष बहुत सुदीर्घ न जान पडे

मैं चाहता हू कि बुद्धिमान् लोग गभीर ध्यान दे और परिधान के विशेष नियमो को देखे। फिर भारत के सामान्य मनुष्यो, अधिकारियो और उच्च श्रेणी के लोगो का परिधान श्वेत कोमल कपडे का एक जोडा होता है, परतु निर्धन और छोटी श्रेणी के लोगो के पास सन के कपड़े का केवल एक टुकड़ा ही होता है। प्रव्रजित के पास ही तीन चीवर और छ· परिष्कार होते है, और जो भिक्षु अधिक की कामना करता है (मूलार्थत , जो विलासिता से प्रेम करता है) वह तेरह अपरिहार्य वस्तुओ का उपयोग कर सकता है।

अब मैं जम्बूद्वीप और समस्त दूर-दूर के टापुओ के लोगो तथा उनके वेशो का स्थूल रूप से वर्णन करूगा। महाबोधि से पूर्व की ओर लिन-इ (अर्थात् चम्पा) तक (अन्ना मे) क्वन-चोउ की दक्षिणी सीमाओ तक फैले हुए बीस देश हैं। यदि हम दक्षिण-पश्चिम की ओर चले तो हम समुद्र पर पहुच जाते हैं; और उत्तर मे इसकी सीमा कश्मीर है। दक्षिणी सागर मे, सिंहल द्वीप को मिलाकर, दस से अधिक देश (द्वीप) है। इन सब देशो मे लोग दो कपड़े (सस्कृत, कंबल) पहनते है। ये सन के चौड़े कपडे के होते है जो कि आठ फीट लम्बे होते है। इसमें कोई कटिबध नही होता, और न यह काटा या सिया ही जाता है, वरन् निचले भाग को ढापने के लिए कमर के गिर्द केवल लपेट लिया जाता है।

भारत के अतिरिक्त, पारसों (फारसियों) और तजकों (जो प्राय· अरब समझे जाते हैं) के देश भी हैं जो क़मीज़ और पायजामा पहनते है। नगे लोगों के देश (निकोबार द्वीप) में लोगों के शरीर पर कपड़ा बिलकुल नही होता, पुरुष और स्त्रिया सभी समान रूप से दिगंबरी वेश मे रहते है। कश्मीर से लेकर सूलि, तिब्बत और तुर्क जातियो के देश—जैसे मंगोल देशों—तक रीतियां एक-दूसरे से एक बडी सीमा तक मिलती है; इन देशों के लोग ढापने का कपडा (संस्कृत, कबल) नहीं पहनते, परतु सामर्थ्यानुसार बहुत-सा ऊन या चमडे का उपयोग करते हैं, और वहा कर्पास (अर्थात् कपास) जो हम कभी-कभी पहनी हुई देखते है, बहुत कम होती है। ये देश ठंडे हैं, इस कारण यहां के लोग सदैव क़मीज़ और पायजामा रखते है। इन देशो में पारसों, नंगे लोगो, तिब्बतियों और तुर्क जातियो में बुद्ध-धर्म नही है, परतु अन्य देश बुद्ध-धर्म के अनुयायी थे और हैं; और जिन देशों मे क़मीज़ और पायजामा पहना जाता है वहां के लोग शारीरिक स्वच्छता पर ध्यान नहीं देते। इसलिए भारत के पांचों खडों के लोग अपनी शुद्धता और श्रेष्ठता पर गर्व करते हैं। परतु उच्च सस्कृति, साहित्यिक लालित्य, औचित्य, मिताचार, स्वागत और विदाई के शिष्टाचार, भोजन की स्वादुप्रवृत्ति, उदारता और पुण्यशीलता की प्रचुरता केवल चीन में ही पाई जाती है; कोई दूसरा देश (इन बातो में) उससे बढ नही सकता। पश्चिम से भिन्नता

की बाते ये हे—(1) भोजन की शुद्धता की रक्षा न करना, (2) मूत्रत्याग करने के पश्चात् जल का न लेना, (3) दातुन न करना। कुछ लोग ऐसे भी हैं जो विधिविरुद्ध वस्त्र धारण करने को अनुचित नही समझते, वे सक्षिप्त विनय के वचन का प्रमाण देते है। वह वचन इस प्रकार है—'एक देश मे जो बात अपवित्र समझी जाती है, वही यदि दूसरे देश मे पवित्र समझी जाती हो, तो वहा इस पर अनुष्ठान करने मे कोई पाप नहीं।' परतु इस वचन को कुछ अनुवादको ने ठीक तौर पर नही समझा, इसका वास्तविक अर्थ वह नही जो ऊपर दिया गया है।

बुद्ध और अन्य पूज्य मुनियो की मूर्तियो के सामने सामान्य रूप से मनुष्य कधा नंगा रखता है और इसको ढकने से अपराध लगता है। प्रव्रजित हो जाने का अर्थ दु.खो से मुक्त हो जाना है।

जब शीत-काल मे मनुष्य घर से बाहर नही जाता, तब वह भली-भाति कोयलो की आग का उपयोग कर सकता है, और उसे अनेक वस्त्र पहनने का कष्ट उठाने की आवश्यकता नही। यदि रोग के कारण मनुष्य को मोटे परिधान का प्रयोजन हो तो वह अस्थायी रूप से जो चाहे कर सकता है, परतु शर्त यह है कि वह नियमो को न तोडे। चीन में शीत-काल बड़ा दु:सह होता है, प्राय. हमारे शरीरो को चीरता जाता है, और गरम कपडो के बिना हमारा जीवन जोखिम मे रहता। धर्म मे यह बडी कठिनाई है, परतु मोक्ष को ऐसे प्रदेशों के लोगों का समावेश अवश्य करना चाहिए।

महानदी (चीन मे ह्वागहो) अपनी पवित्र धारा को (बुद्ध गया में) मुचिलिद सरोवर में मिला देती है। 'पतला बेत' (हसी-लीऊ) अपनी शोभा मे उस बोधिवृक्ष के साथ मिल जाता है जो अपनी उज्ज्वल कीर्ति के साथ हरा-भरा है और शहतूत के पेडो के खेत के (समुद्र में) परिवर्तित हो जाने, अथवा कल्प पत्थर के बिलकुल घिस जाने के बाद तक सदा फूला-फला रहेगा। तब (बुद्ध) धन्य है ! आओ हम (उसके सिद्धांत पर चलने के लिए) एक बार प्रयत्न करें। सूर्य-सदृश बुद्ध छिप गया है, और आनेवाले समयों के लिए अपनी शिक्षा पीछे छोड़ गया है। यदि हम उसकी शिक्षा पर आचरण करते हैं तो मानो हम अपने गुरुदेव की विद्यमानता मे ही रहते है, और यदि हम उसकी शिक्षा के प्रतिकूल चलते हैं तो उसमें अनेक दोष प्रकट हो जाएंगे। इसलिए एक सूत्र मे कहा है—"मेरे उपदेशो पर ठीक-ठीक चलो, तब मैं (गुरुदेव) उसी प्रकार इस संसार में मौजूद हूं[1]।'

मनुष्य के जीवन मे, सबसे आगे और सबसे पहले, भोजन और आच्छादन है।

---

1 सभवत यहा महापरिनिर्वाण-सूत्र से अभिप्राय है। 'मेरी मृत्यु के पश्चात् धर्म और सघ के नियम, जिनकी मैने शिक्षा दी है, तुम्हारे गुरु हैं।'

मनुष्य के लिए ये दो बेडिया और हथकड़िया हैं
जो उसको पुनर्जन्म के क्षेत्र के साथ बाधती है।
आर्य-वचन पर चलो,
विश्राम और मुक्ति उसकी होगी।
यदि स्वार्थपरता उसकी पथप्रदर्शिका होगी।
तो पाप और कष्ट उसे घसीटेंगे।
हे बुद्धिमान् मनुष्य ! सावधान। प्रतिफल प्रत्यक्ष है।
जब आठ[1] वायु तुम्हारे शरीर से चले गए।
तब फिर पांच शकाएं[2] तुम्हे नहीं धमकाएंगी।
सदा मणि के सदृश पवित्र रहो जो कि कीचड़ मे भी पवित्र है,
ऐसे उजले जैसे कमल की पत्तियों पर ओस।
यदि तुम्हारा शरीर ढंपा हुआ है, तो परिच्छेद पर्याप्त है।
यदि तुम भूख से नही मरते तो भोजन यथेष्ट है।
केवल मोक्ष की तलाश करो, मनुष्य या देव की नहीं।
धूतांगों का अनुष्ठान करते हुए जीवन व्यतीत करो।
जीवों की रक्षा करते हुए अपने वर्ष समाप्त करो।

11

परिच्छेद धारण करने की रीति

परिच्छेद का दाया कोना लेकर उसे बाये कंधे पर रखो और उसे पीठ पर लटकने दो। यह बांह पर न अटके। उसके खूंट को फिर कंधे पर और स्वय परिच्छेद को गले के गिर्द आने दो। (परिच्छेद गले के गिर्द इस प्रकार रखा जाता है कि) दोनो हाथ इसके नीचे आ जाते हैं; परिच्छेद का दूसरा खूट लटकता है। राजा अशोक की मूर्ति का परिच्छेद इसी प्रकार का है।

छाता बास की छड़ियो से बुनना और बास की पिटारी के समान पतला बनाना चाहिए, परंतु वह दोहरा ढका हुआ न हो। इसका परिमाण, मनुष्य की अपनी इच्छा के अनुसार, (व्यास मे) दो या तीन फ़ीट हो सकता है। मध्य भाग दोहरा बनाना चाहिए, ताकि उसमे मूठ लगाई जाय। मूठ की लम्बाई छाते की चौड़ाई के अनुरूप होनी चाहिए। बांस की छड़ियों के छाते पर लाख का वार्निश किया जा सकता है।

---

1 वेदात सार मे पाच प्राण और कपिल के अनुयायियों के मतानुसार दस वायु।

2 (i) जीविका की न्यूनता, (ii) अपयश, (iii) मृत्यु, (iv) पशु आदि नीच योनि में जन्म और (v) सासारिक प्रभाव।

बास की जगह यह नरकट का बुना जा सकता है यह बेत की बुनी हुई टोपी के सदृश होता है। हम चीन मे ऐसे छाते का उपयोग नही करते; फिर भी इसका उपयोग करना आवश्यक है। इसके द्वारा वर्षा के समय हमारे कपडे भीगने से बच सकते है, और ग्रीष्म की चिलचिलाती धूप मे हम अपने आपको ठंडा रख सकते है। छतरी का व्यवहार विनय के नियमो के अनुरूप और हमारे शरीरों के लिए लाभदायक है, और इसके व्यवहार मे कुछ भी हानि नही।

पानी का बर्तन, भिक्षा का कटोरा और तुम्हारी सारी चीजे तुम्हारे कंधो पर लटकाई जानी चाहिए। उन्हे इस प्रकार लटकाना चाहिए कि वे ठीक तुम्हारे शरीर के पार्श्वो तक पहुचे, सामनेवाला पिछली ओर वाले को पार न करे। वस्तुओ को लटकाने के लिए जिस रस्से का उपयोग किया जाता है, वह लबा नही होता, किंतु केवल कधे पर रखने के लिए ही ठीक पर्याप्त होता है। जब चीजे छाती के साथ लटकती हो तब सास लेना सुगम नही होता और ठीक नियमो के अनुसार ऐसा नही होना चाहिए।

जब तुम किसी मदिर में अथवा किसी सामान्य उपासक के घर जाओ, तब तुम्हे दालान में जाकर अपना छाता रखना और फिर लटकानेवाली वस्तुओ को खोलना होगा। दालान की दीवार पर हाथी-दांत की अनेक खूटिया लगानी होती हैं, ताकि आगंतुक को एक ऐसा स्थान मिल जाय, जहा वह अपनी वस्तुए लटका सके।

पतले रेशम का बना हुआ काषाय बहुत सूक्ष्म होता है और कधे पर नहीं ठहरता; जब पूजा में आप झुकते हैं तब प्रायः फिसलकर भूमि पर आ जाता है। यदि तुम इसे किसी ऐसे द्रव्य का बनाना चाहते हो, जो इस प्रकार सुगमता से नीचे न फिसल पडे, तो सबसे उत्तम खुरखुरा रेशम अथवा सन का नर्म सफ़ेद कपडा है।

अपने घर में सामान्यतः संकक्षिका और साया ही पहने जाते है। जब मनुष्य बाहर जाय और प्रतिमा का पूजन करे तब उसे और कपड़े मिला लेने चाहिए। अब मै संक्षेप में साया पहनने की रीति का वर्णन करूगा। मूलसर्वास्तिवादनिकाय के ग्रहण किए हुए साया के नियमो के अनुसार, साया पांच हाथ लबा और दो हाथ चौड़ा कपड़े का एक टुकड़ा होता है। माल, जैसा मनुष्य को मिल सके, उसके अनुसार, रेशम या सन का कपड़ा हो सकता है।

भारतीय लोग इसे इकहरा, परंतु चीनी लोग दोहरा बनाते है; लबाई और चौडाई निश्चित नहीं। शरीर के (निचले भाग के) गिर्द रखकर इसे इतना ऊपर को खीचो कि तुम्हारी नाभि ढंक जाय। अब तुम्हे अपने साए के ऊपर के खूट को अपने दाए हाथ के साथ बायें हाथ की ओर थामना, और (अपने बायें हाथ के साथ) अपने साये के दूसरे सिरे—जो कि भीतर की ओर तुम्हारे दाहिने हाथ के पार्श्व के इर्द-गिर्द

है बाहर खीचना है अपना बाया पार्श्व अपने उत्तराय चीवर की बायी झूल से (और दायां पार्श्व दायीं झूल से) ढंक दो।

अपने 'निवास' (साये) के दोनों सिरों को दोनो हाथो के साथ बिलकुल सामने ले आओ, मध्य मे उन्हें मिला दो और उन्हे तीन ऐंठे दो। तब उन तीन ऐंठों को अपनी पीठ के गिर्द लाओ; उनको तीन उगली भर ऊचा उठाओ, और तब भीतर की ओर कोई तीन अंगुल नीचे दबा दो। इस प्रकार डोरियां न होने पर भी साया फिसलता नहीं। अब कोई पाच हाथ लंबी कमर की पेटी लो, इसके अकडे (हुक) वाले भाग को अपनी नाभि के ठीक नीचे लाओ, और अपने साये के ऊपरी किनारे के गिर्द बाध दो।

कमर की पेटी के दोनो सिरे तुम्हारी पीठ पर आए और एक-दूसरे को लाये, उन्हे फिर अपने बायें और दाहिने पार्श्वो की ओर पीछे खीचना होता है, जहां तुम्हे उनको अपनी बांहों के साथ दृढतापूर्वक दबाना पडता है, जबकि तुम दोनो सिरो को (सामने) तीन बार मिलाते और बांधते हो। यदि कमर की पेटी बहुत लबी हो तो तुम्हे उसको काटना पडता है; यदि बहुत छोटी हो तो उसमे कुछ और जोडना होता है। कटिबंध के दोनों सिरों को सी देना या सजाना नही चाहिए।

साया पहनने की ऊपर कही रीति सर्वास्तिवादनिकाय को दूसरे निकायो से अलग करती है। यह परिमंडल निवास (—यति) कहलाती है, जिसका चीनी मे अर्थ हे—'साया पहनने की गोल-शुद्ध रीति।' (कटि) बंध की चौडाई एक उंगली के सदृश होती है। जूते का तसमा, मोज़े का बंधन इत्यादि गोल हो चाहे वर्ग; दोनों की आज्ञा है। विनय-पुस्तको में कप्तान के रस्से जैसी वस्तु के उपयोग की आज्ञा नहीं।

जब तुम छोटी कुर्सी अथवा लकड़ी के कुदे पर बैठते हो, तब तुम्हें अपने 'निवास' के ऊपरी भाग को अपने उत्तरीय की झूल के नीचे रखना, और साया को शीघ्रता से ऊपर खींचना होता है, जिससे यह (आसन पर) तुम्हारी जाघों के नीचे आ जाय। तुम्हारे दोनो घुटनें ढके होने चाहिए, परतु तुम्हारी नरहड़ के नगा रहने मे कोई दोष नहीं।

सारा 'निवास' मनुष्य की नाभि से लेकर उसके टखनों की हड्डियों से चार उगली ऊपर तक ढापे रहे, यह एक ऐसा नियम है जिसका पालन उस समय किया जाता है जबकि भिक्षु किसी सामान्य मनुष्य के घर में होता है। परंतु जब हम विहार में हों, तब नरहड़ के निचले अर्धभाग को खुला रखने की आज्ञा है। यह नियम स्वयं बुद्ध ने बनाया था, और इसमें अपनी इच्छा के अनुसार परिवर्तन नही करना चाहिए। शिक्षा के विरुद्ध कार्य करना और अपनी स्वार्थ पर इच्छा पर चलना उचित नहीं। जो निवास तुम पहने हुए हो, यह यदि लंबा है और भूमि से छूता है, तो तुम एक ओर तो किसी श्रद्धालु भक्त के दिए हुए शुद्ध दान को खराब

कर रहे हो, और दूसरी ओर गुरुदेव के आदेशो का उल्लघन कर रहे हो

तुममें से कौन है जो मेरे सदय प्रतिवाद पर चलेगा ? परमात्मा करे कि दस सहस्र भिक्षुओ में एक भी व्यक्ति ऐसा हो, जो मेरे शब्दो पर ध्यान दे।

जो निवास (साया) भारत में पहना जाता है, वह शरीर के निचले भाग के गिर्द आडे रूप से पहना जाना है। भारत का श्वेत कोमल कपडा, जिसका निवास के रूप में उपयोग होता है, दो हाथ चौडा होता है, अथवा कभी-कभी इसकी चौडाई आधी (एक हाथ) होती है।

निर्धन लोग यह कपडा (जितना एक नियमित निवास के लिए आवश्यक होता है उतना) प्राप्त नही कर सकते। (व्यय को बचाने के लिए) मनुष्य कपडे के दोनों किनारों को मिलाकर टाक सकता, और खोलकर उसमे टाके डाल सकता है। इससे मतलब पूरा हो जायेगा।

फिर परिव्राजक के सारे वस्त्र 'कड[1]' (पीले) रंग मे रगने चाहिए। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि रंग बहुत गहरा या बहुत हल्का न हो।

(लागत बचाने के लिए) मनुष्य केवल खजूरों, लाल मिट्टी, पिसे हुए लाल पत्थर, जगली नासपाती, या त'उ-तूजू (मटियाला बैंगनी) का उपयोग कर सकता है।

शहतूत की छाल से तैयार किया हुआ रग, और नीले तथा हरे रंगों का निषेध है। असली बैंगनी और गहरा भूरा पश्चिम मे ग्रहण नहीं किया जाता।

जूतो और खड़ाऊ के विषय मे बुद्ध के बनाए हुए कुछ नियम है। लंबे जूते अथवा अस्तरवाले खडाऊ नियमों के विरुद्ध हैं। बुद्ध किसी भी बेल-बूटेदार अथवा सजाई हुई वस्तु के उपयोग की आज्ञा नहीं देता था।

12

भिक्षुणी के वेश और अंत्येष्टि-कर्म के नियम

विनय के अनुसार भिक्षुणी के लिए पाच वस्त्र है–

(1) संघाटी, (2) उत्तरासग, (3) अंतर्वास, (4) संकक्षिका तथा (5) साया।

पहले चार वस्त्रो के ढग और नियम वही हैं जो सघ के बड़े (पुरुष) सदस्यो के है, परंतु लहगे का एक अश भिन्न है। सस्कृत मे भिक्षुणी के साया को 'कुसूलक' कहते हैं, जिसका अनुवाद 'खत्ता-जैसा वस्त्र' किया जाता है, क्योकि इसकी आकृति, दोनो सिरे इकट्ठे सिले हुए होने से, एक छोटे खत्ते (कुसूल) की-सी होती है; इसकी लबाई चार हाथ और चौड़ाई दो हाथ होती है। यह ऊपर की ओर नाभि तक ढकता

---

1 कड या गड कोई सस्कृत शब्द जान पड़ता है।

है और नीचे की ओर गुल्फो से चार अगुल ऊपर तक आता है।

भिक्षुणी जब घर से बाहर अथवा भिक्षु के सामने हो, या किसी भक्तजन ने उसे अपने घर पर भोज के लिए निमन्त्रित किया हो, तब उसका काषाय सदा उसके कठ के गिर्द होना और उसका शरीर उससे ढका रहना चाहिए; काषाय का कधे का फीता खोलना नही चाहिए। परतु अपने हाथो को (काषाय के) नीचे से बाहर निकालना चाहिए। सकक्षिका पहनने, एक कधा खुला रखने, या कमीज अथवा पायजामा पहनने का निषेध स्वय महामुनि ने किया है। भिक्षुणियो को ये चीजे नही रखनी चाहिए।

जब भिक्षुणी विहार मे या अपने कमरो मे हो, तब एक कुसूलक और एक सकक्षिका पर्याप्त होगी। परतु सब कहीं लज्जा को पर्याप्त रूप से ढकना चाहिए, यहा तक कि मूत्रत्याग करने के स्थान मे भी कंधे नंगे न होने चाहिए।

गरम कपड़े यदि कोई चाहे तो शरत्काल और हेमत मे धारण किए जा सकते है। कटोरे में भिक्षा मांगकर शरीर का पर्याप्त रूप से पोषण हो सकता है।

यदि किसी व्यक्ति का मन, चाहे वह स्त्री ही हो, बलवान् हो तो उसे न धडकी और खड्डी मे लगने का और न साधारण (घरेलू) काम करने का ही प्रयोजन है, फिर अनेक कपड़े—कभी पांच, कभी दस—पहनने की आवश्यकता उसे और भी कम है।

कुछ (भिक्षुणिया) ऐसी है, जिनको ध्यान अथवा पठन का कभी विचार नही आता, जो पार्थिव कामनाओ-द्वारा हाकी जाकर आगे की ओर दौड़ रही है। दूसरी ऐसी है जो शील (उपदेशों) की कुछ भी परवाह न करके गहने और कपडे से बहुत प्यार करती हैं। ये सब व्यक्ति इस योग्य है कि सामान्य अनुयायी इनकी परीक्षा करें। भारत की भिक्षुणिया चीन की भिक्षुणियों से बहुत भिन्न हैं। वे भिक्षा मांगकर निर्वाह करतीं और दरिद्र तथा सरल जीवन बिताती है।

मनुष्य का मूल संकल्प मोक्ष-प्राप्ति के लिए घर-बार छोडने का था। तीन (विषैले) वृक्षों[1] की हानिकारक जडो को काट डालने के लिए, और चार बहती हुई धाराओं[2] के विपुल विस्तार को रोकने के लिए, मनुष्य को 'त' के अनुष्ठान पूरे करने चाहिए और सुख-दुःख के भयानक पथ से बचना चाहिए; मन को स्वच्छ करके और अपनी कामनाओ को दबाकर मनुष्य को मोक्ष के सच्चे मार्ग पर चलना चाहिए। दिन-रात शील पर ध्यान देने से धर्म बढ़ता और फैलता है। यदि मनुष्य सदा अपने शरीर को चैन में रखने का ही विचार करता रहता है, तो वह भूल करता

---

1 लोभ, घृणा और मूर्खता, इनका दूसरा नाम 'तीन विष' है।

2 पार्थिव कामना, भाव की अवस्था, भ्रात बुद्धि और अविद्या, इनका दूसरा नाम 'चार जूए' है।

हे जब मनुष्य विनय की शिक्षा के अनुसार अनुष्ठान मे पक्का और आचरण मे सच्चा होता है, तब नाग, प्रेत, देव और मानव उसके अनुयायी और पुजारी बन जाते हैं। तब मनुष्य को अपनी आजीविका के लिए क्यो इतना चितातुर होना और (सासारिक मार्ग का) व्यर्थ परिश्रम करना चाहिए ?

पाच कपडे, एक ठिलिया और एक भिक्षापात्र भिक्षुणियों के निर्वाह के लिए पर्याप्त हे, और उनके जीवन को बचाने के लिए एक छोटी-सी कोठरी यथेष्ट है। निज के भोज घटाए जा सकते है और इस प्रकार सामान्य भक्तजनों के कष्टों से बचा जा सकता है, भिक्षुणिया कीचड मे पडे हुए रत्न अथवा जल मे कमल के समान शुद्ध हो सकती हैं, और इस प्रकार उनका जीवन, चाहे नीच कहलाए, पर वास्तव मे प्रज्ञा का जीवन है जो कि एक उच्च व्यक्ति के जीवन के समान है।

भिक्षु और भिक्षुणिया अपने माता-पिता की मृत्यु के समय अत्येष्टि-क्रिया मे सदा से यथेष्ट चिता से काम नही लेतीं अथवा सामान्य लोगो के सदृश ही शोक नही करती, और फिर भी अपने आपको पितृ-भक्त सतान समझती है।

कुछ लाग अपने कमरों मे मृतको के मदिर बनाते है, और चढ़ावा चढाते और यह दिखलाने के लिए हम शोक मे है, एक रंगीन कपडा बिछा देते हैं। कई लोग, साधारण रीति के विपरीत, अपने बाल मुंडाते नही हैं, या एक शोक-छडी रखते अथवा पुआल की चटाई पर सोते है। ये सब रीतिया बुद्ध की शिक्षा के अनुसार नही है, और मनुष्य इन्हे बिना दोपी हुए भली-भांति छोड सकता है। मनुष्य के लिए जो कुछ करना आवश्यक है, वह यह है—पहले मृतक के लिए एक कमरा शुद्ध और सुशोभित करो अथवा कभी-कभी कुछ (छोटे) शामियाने या परदे अस्थायी रूप से लगा दो, और सूत्र पढते और बुद्ध का ध्यान करते हुए धूप और पुष्प चढाओ। यह कामना करनी चाहिए कि प्रेतात्मा किसी अच्छे स्थान में जन्म ले। इस रीति से मनुष्य पितृ-भक्त बालक बनता और मृतक के जीवन-काल में किए हुए उपकारो का प्रतिफल देता है।

तीन वर्ष का शोक अथवा सात दिन का उपवास ही केवल ऐसी रीतिया नही जिनसे मृत्यु के पश्चात् हितैषी मृतक का पूजन होता है। (क्योंकि ये अनुष्ठान[1] कुछ लाभ नही देते), मृतक पार्थिव कष्टो के साथ पुनः बांधा जा सकता है (अर्थात् उसका पुनर्जन्म हो सकता है) और (पाप की) हथकड़ी और बेड़ी का दुःख भोग सकता है। इस प्रकार मृतक, कारणत्व की जंजीर के तीन विभागों (बारह निदानों) से सदा अनभिज्ञ रहकर अधेरे से निकलकर फिर अंधेरे में, और पूर्णत्व की दस अवस्थाओं[2] को कभी न देखकर, मृत्यु से मृत्यु में जा सकता है।

1 अर्थात् तीन वर्ष का शोक और सात दिन का उपवास।

2 वे दस अवस्थाए जिनमें बोधिसत्व गुजरता है।

बुद्ध की शिक्षा के अनुसार, जब भिक्षु मर जाता है, और मनुष्य पहचान लेता है कि वह ठीक मर गया है, तब उसी दिन उसका शव अर्थी पर रखकर श्मशान-भूमि मे भेज दिया जाता और वहां जला दिया जाता है। जब शव जल रहा होता है तब उसके मित्र इकट्ठे होकर एक ओर बैठ जाते है। वे या तो बाधी हुई घास पर, या मिट्टी के चबूतरे पर, या ईटों अथवा पत्थरों पर बैठते है। एक विज्ञ मनुष्य अनित्यसूत्र पढता है। यह एक पृष्ठ अथवा पन्ने जितना छोटा होता है जिससे कि थकानेवाला न बन जाय।

तब वे (सब अवस्थाओं की) अनित्यता पर ध्यान करते है। अपने निवास-स्थान पर लौटकर वे, अपने वस्त्रो-सहित, विहार के बाहर तालाब में, इकट्ठे स्नान करते हे। यदि कोई तालाब न हो तो वे कुए पर जाकर नहाते हैं। वे पुराने वस्त्र पहनते है, ताकि नवीनो की हानि न हो। तब वे सूखे हुए कपड़े धारण कर लेते हैं। अपनी कोठरियों मे वापस आकर वे गाय के गोबर से फर्श को साफ करते हैं। शेष सब वस्तुएं वैसी ही रहती है। शोक के वस्त्र पहनने की कोई रीति नही। वे कभी-कभी मृतक के लिए, उसका शरीर रखने के लिए, एक स्तूप की जैसी चीज़ बनाते है। यह 'कुल' कहलाता है। यह एक छोटे स्तूप के जैसा होता है, परंतु इस पर गुम्मट नही होता।

किंतु एक साधारण मनुष्य और एक उच्च व्यक्ति के स्तूपो मे कुछ भेद होता है, जैसा कि विनय-पुस्तकों[1] में अति सूक्ष्मता से वर्णन किया गया है।

13

प्रतिष्ठित भूमियां

पाच प्रकार की प्रतिष्ठित भूमिया है—

1. विहार बनाने के लिए किसी व्यक्ति के द्वारा दान की गई भूमि।

2. विहार बनाने के लिए दो से अधिक भिक्षुओ की घोषणा-द्वारा अलग की हुई भूमि।

3. वह भूमि जहा लेटी हुई गाय की आकृति का भवन खड़ा हो।

4 मंदिर या किसी दूसरे पवित्र भवन के खंडहर।

5. भिक्षुओं-द्वारा पवित्र कर्म के साथ चुनी हुई और भेट की हुई भूमि।

(1) जब विहार बननेवाला हो और आधारशिला रखी जा चुकी हो, तब कार्य की देखभाल करनेवाले एक भिक्षु को अपना संकल्प निम्नलिखित रीति से प्रकट

1 सम्युक्तवस्तु, अध्याय 18।

करना चाहिए—'विहार अथवा घर के इस स्थान पर आओ हम सघ के लिए एक पवित्र पाकशाला बनाए।'

(2) आधार-शिला स्थापित हो चुकने के अनतर यदि तीन भिक्षु रखवाली कर रहे हों, तो एक दूसरो से कहे—'पूज्य महाशयो, ध्यान दीजिए, हमने इस स्थान पर चिह्न लगा दिया और इसे चुन लिया है, और विहार अथवा गृह के ठीक इसी स्थान पर हम सघ के लिए एक पाकशाला बनाएगे।' दूसरे और तीसरे भिक्षु को भी यही उच्चारण करना चाहिए।

(3) ऐसे विहार है जिनके मकान लेटी हुई गाय के सदृश है और कोठरियो के द्वार इधर-उधर बिखरे हुए है। ऐसा भवन, यद्यपि कर्म-द्वारा कभी प्रतिष्ठित नही हुआ तो भी, पवित्र समझा जाता है।

(4) वह स्थान है जिसे सघ ने चिरकाल से छोड़ दिया हो। यदि सघ वहा फिर आए तो वही स्थान, जिसका पुरातन काल मे उपयोग हो चुका था, पवित्र हो जाता है। परंतु उन्हें अनुष्ठान (कर्म) किए बिना वहा रात न बितानी चाहिए।

(5) कर्म और घोषणा दोनों द्वारा प्रतिष्ठित भूमि है। इसका वर्णन मूलसर्वास्तिवाद-निकायैकशतकर्मनू में है।

जब इन पाच पवित्र नियमों मे से एक पूरा हो जाय, तब बुद्ध कहता है कि सब भिक्षु इसमे दुहरा आनद ले सकते हैं—(1) भीतर खाना पकाना और बाहर बटोरना; (2) भीतर बटोरना और बाहर पकाना, दोनों दोषरहित हैं।

यदि भूमि की अभी प्रतिष्ठा न हुई हो तो उस स्थान पर खाने, पीने या रहने से पाप होता है।

विहार (संघ के लिए) निवास-स्थान का एक प्रचलित नाम है। इसकी प्रत्येक कोठरी मे कच्चा और पका हुआ भोजन रखा जा सकता है। यदि विहार में सोने की आज्ञा न हो तो उस समय वहां रहनेवाले सब भिक्षुओं को बाहर जाकर किसी दूसरी जगह निवास करना चाहिए। भारत की परम्परागत रीति सारे विहार को 'पाकशाला' के रूप में प्रतिष्ठित करने की है, परतु इसके एक भाग को लेकर उससे पाकशाला का काम लेने की भी आज्ञा बुद्ध ने दी है।

यदि कोई व्यक्ति अपने कपडो की पवित्रता की रक्षा के लिए स्थान की प्रतिष्ठा किए बिना विहार से बाहर सो जाता है तो वह निंदनीय है। कपड़ो की पवित्रता की रक्षा के लिए धर्मसंगत स्थानो मे वृक्षो के नीचे की जगहो (या गाव में) इत्यादि के बीच भेद हैं।

स्थान की रक्षा केवल स्त्रियों से रखवाली के विचार से ही नही; क्योंकि (स्त्री) सेविका कभी-कभी पाकशाला के भीतर आ जाती है, और फिर भी (प्रतिष्ठित) पाकशाला ग्राम नही समझा जाता, (इसी प्रकार स्त्रियों को छोड़कर प्रतिष्ठित होने पर भी स्थान

पवित्र होता है।) जब मनुष्य गाव मे जाता है तब उसके पास तीन चीवरों के होने का तात्पर्य स्त्रियों से अपनी रक्षा करना नही होता। तब कर्मदान (विहार के छोटे अधिष्ठाना) का तीन चीवरो के साथ विहार के कार्यो की देखभाल करना, विशेपत जब कोई स्त्री भीतर आवे, एक बहुत कडी रीति है।

14

पांच परिषदों का ग्रीष्म-एकांत (वर्ष)

पहला ग्रीष्म-एकात पाचवे चद्र के कृष्णपक्ष के पहले दिन होता है, और दूसरा ग्रीष्म-एकांत छठवे चद्र के कृष्णपक्ष के पहले दिन, केवल इन्ही दो दिनो में ग्रीष्म-एकात आरभ करना चाहिए। इन दो के बीच ग्रीष्म-एकांत को किसी और दिन आरभ करने की पुस्तक मे आज्ञा नहीं। पहला ग्रीष्म-एकांत आठवे चद्रमा के मध्य मे समाप्त होता है, और दूसरा नौवे चद्रमा के मध्य मे समाप्त होता है। जिस दिन ग्रीष्म-एकात बद होता है, भिक्षुगण और सामान्य भक्तजन पूजा की महाप्रक्रिया करते है। उस समय एक सभा होती है।

विनय (विनय-सग्रह, अध्याय-7) मे कहा है—'यदि (बाहर जाने के लिए) उचित अवसर हो, तो मनुष्य को एक दिन की अनुपस्थिति के लिए आज्ञा लेनी चाहिए।' इस वचन का अर्थ यह है कि क्योंकि मनुष्य को बहुत-से अवसर (अर्थात् भोजन के लिए निमंत्रण, या कोई दूसरे काम) मिलते हैं इसलिए उसे उतने दिनो की अनुपस्थिति की आज्ञा लेनी चाहिए, अर्थात् एक रात में करनेवाले काम के लिए मनुष्य को एक दिन की आज्ञा लेनी चाहिए, और इसी प्रकार सात दिन तक (आज्ञा ली जा सकती है), परंतु मनुष्य भिन्न-भिन्न व्यक्तियो के पास ही जा सकता हे। यदि (उसी मनुष्य को मिलने का) दूसरी बार प्रयोजन हो तो विनय कहती है कि मनुष्य को दूसरी बार आज्ञा लेकर बाहर जाना चाहिए। परंतु आधा ग्रीष्म-एकात बाहर रहने की आज्ञा नहीं; इसलिए अधिक-से-अधिक केवल चालीस रातों की आज्ञा दी जाती है। यदि किसी रोगी की सेवा-शुश्रूषा करनी हो या कोई कठिन कार्य आ पडे तो मनुष्य को चला जाना चाहिए; ऐसी दशा में, चाहे अनुपस्थिति की छुट्टी न भी ली हो, ग्रीष्म-एकात नही टूटता।

वर्ष (वर्षाऋतु) के पहले प्रत्येक सदस्य को कमरे दे दिए जाते है; स्थविरो को सबसे अच्छे कमरे दिए जाते हैं और फिर क्रमशः सबसे छोटो को।

15

प्रवारण-दिवस के संबंध में

वह दिन, जब ग्रीष्म-एकात समाप्त होता और ऋतु (शब्दार्थ, वर्ष) बद होती है 'मनुष्य की अपनी इच्छा (आसक्ति) के अनुसार' प्रवारण होना चाहिए, अर्थात् तीन बातों—जो कुछ मनुष्य ने देखा है, और जो कुछ सुना है, जिसका उसे सदेह हुआ है—के अनुसार, स्वेच्छापूर्वक दूसरो के दोष दिखाना चाहिए। इससे अनतर दोषो का स्वीकार और प्रायश्चित[1] होता है।

चौदहवे दिन की रात को (पंद्रहवां दिन एकात का अतिम दिन होता है) सघ एक कथक को बुलाकर एक उच्च आसन पर बैठाता और उससे बुद्ध-सूत्र कहलाता है। इस समय सामान्य भक्तजन और भिक्षुगण मेघों अथवा कुहरे के सदृश इकट्ठे हो जाते है। वे लगातार दीपक और धूप तथा पुष्प चढाते है। अगले दिन सवेरे वे सब ग्रामों और नगरो के गिर्द जाते है और सच्चे हृदय से सारे चैत्यों का पूजन करते हैं।

वे छत्तादार गाड़िया, पालकियों मे प्रतिमाए, ढोल और आकाश मे गूजते बाजे, नियमित क्रम में (मूलार्थतः बंटे हुए और सजे हुए) ऊंचे चढाए हुए, सूर्य को ढकते और लल्लोपत्तो करते हुए झडे और छत्र लाते है, यह 'सा-मा-किन-ली' (सामग्री) कहलाता है, जिसका अनुवाद 'मेल' या भी 'भीड़ लगाना' है। सभी बडे उपवसथ-दिन इस दिन के सदृश होते हैं। पहले पहर के आरंभ में (प्रातः 9 बजे से 11 बजे तक) वे विहार में वापस आ जाते हैं। दोपहर को वे महोपवसथ-प्रक्रिया करते है, और तीसरे पहर हाथों मे ताज़ा नागरमोथा का गुच्छा लिये इकट्ठे हो जाते हैं। इसको हाथों मे पकडकर या पैरों के नीचे रौदकर जो उनकी इच्छा होती है, करते हैं, पहले भिक्षु, फिर भिक्षुणियां; इनके अनतर सदस्यो की तीन निम्न श्रेणिया। यदि आशका हो कि सख्या के बडी होने के कारण समय बहुत लग जायेगा तो संघ अनेक सदस्यो को इकट्ठे जाकर प्रवारण-प्रक्रिया कराने की आज्ञा दे देता है।

इस समय, या तो सामान्य भक्तजन दान देते हैं, या स्वय सघ उपहार बाटता है, और सब प्रकार के दान सभा के सामने लाए जाते हैं। तब पांच पूज्य व्यक्ति (पाचों परिषदों में से एक-एक (?) सभा के मुखियों—स्थविरों) से पूछते है—'ये वस्तुए सघ के सदस्यों को दी और उनका अपना भोग बनाई जा सकती हैं या नही ?'

---

1 देखिए महावग्ग 4, 1, 14, बडे भिक्षु कहें—"मै संघ से निवेदन करता हू कि जिस अपराध का वे मुझ दोषी समझते हों, जो अपराध उन्होंने देखा हो या सुना हो, या जिसका उन्हें संदेह हो वह मुझे चिता दें, महाराज, आप मुझ पर दया करके मुझे बता दीजिए, यदि मैं (अपराध) देखूगा तो उसके लिए प्रायश्चित करूगा।"

स्थविर उत्तर देते है—'हां बनाई जा सकती हैं।' तब सब कपडे, चाकू, सुइया, सुतरिया इत्यादि लेकर समान रूप से बाट दी जाती है। (बुद्ध की) शिक्षा ऐसी ही है। इस दिन चाकू और सुतरियां भेट करने का कारण यह है कि वे चाहते है कि उनको ग्रहण करनेवालों को (तीक्ष्ण) बुद्धि और प्रज्ञा मिले। जब इस प्रकार प्रवारण समाप्त हो जाता है, तब सब अपना-अपना मार्ग लेते है (मूलार्थत., पूर्व या पश्चिम को जाते हैं)। यदि ग्रीष्म मे वे पूर्ण रूप से वहां अपना निवास रख चुके है तो वहा रात बिताने का प्रयोजन नही। इसका पूर्णरूप से वर्णन अन्यत्र किया गया है, ओर मै इसे यहां विस्तारपूर्वक नही कहूगा। 'पापो के स्वीकार' करने का भाव यह है कि अपने अपराध की घोषणा करके और अपने पिछले दोषो की बात कहकर, मनुष्य अपने पिछले आचरण को बदलने (अर्थात् उसका प्रायश्चित करने) और भविष्य को सुधारने और सच्चे हृदय से सावधानता-पूर्वक अपने आपको दोषी ठहराने की कामना करेगा। प्रत्येक अर्धमास मनुष्य को पोषध (पाप-प्रकाशन) करना, और प्रतिदिन प्रातः और सायं अपने दुरितों पर विचार करना चाहिए।

इस प्रकार अपने दोषो को स्वीकार करते और शुद्ध होन की कामना करते हुए, मनुष्य आशा करता है कि एक-एक करके स्वीकार करने से पापों का प्रायश्चित हो गया है। सब पापो को एकबारगी स्वीकार करने की आज्ञा विनय में नही है।

अनुताप का सहिष्णुता से कुछ भी सबध नहीं। हमे, अपराध का प्रायश्चित करते समय, कहना चाहिए—'मै सच्चे हृदय से अपने अपराध को स्वीकार करता हू।'

भूल हो जाने अथवा किसी दूसरे के शरीर का अचानक स्पर्श कर बैठने पर पश्चिम के लोग, जिसका उन्होने अपराध किया है कभी तो उसके शरीर पर हाथ फेरकर, अथवा कभी उसके कंधे को छूकर, 'क्षमा' कहते हैं; इसमे वे अपनी स्थिति पर कुछ ध्यान नहीं देते; यदि दोनो स्थविर हो तो वे हाथ नीचे की ओर लटकाए हुए एक-दूसरे की ओर देखते है, अथवा यदि एक व्यक्ति दूसरे से छोटा हो, तो छोटा हाथ जोडकर दूसरे का उचित सम्मान करता है। क्षमा का भाव है 'मैं आपसे माफी मागता हू', 'कृपया क्रुद्ध न होइए।' विनय मे क्षमा शब्द का व्यवहार उस समय है जब हम दूसरो से माफी मांगते है, परंतु देशन (प्रतिदेशन) का उपयोग अपने पापों को स्वीकार करते समय हुआ है।

संस्कृत शब्द प्रवारण का अनुवाद 'स्वेच्छानुसार (करना)' किया गया है; इसका अर्थ 'परितृप्त करना' भी है, फिर इसका आशय 'दूसरे को उसकी इच्छा के अनुसार उसका अपराध दिखाना' भी है।

16

प्रणाम के लिए उचित अवसर

बुद्ध का कथन है—'दो प्रकार की अशुचिता ऐसी है, जिसमें मनुष्य न तो किसी का प्रणाम स्वीकार करे और न दूसरे को प्रणाम करे।'

वह दो प्रकार का अशौच क्या है ?

कोई वस्तु खाने, यहा तक कि ओषधि का एक परिमाण निगलने से भी मनुष्य, जब तक कुल्ला न कर ले और हाथ न धो ले, प्रणाम करने के अयोग्य रहता है। यहा तक कि शरवत, पानी, चाय या मधु-जल पीने, अथवा घी या गीली शक्कर खाने से भी मनुष्य—जब तक वह उचित रूप से अपनी शुद्धि न कर ले—समान रूप से अयोग्य होता है।

दूसरे, टट्टी जाने से उत्पन्न हुआ अशौच। पाखाना (टट्टी) जाकर मनुष्य अशुद्ध हो जाना है, और उसके शरीर, हाथो और मुह की शुद्धि आवश्यक होती है।

इसी प्रकार जब मनुष्य का शरीर अथवा कपड़े अपवित्र हो जाएं, उन पर थूक, श्लेष्मा-जैसी किसी चीज का धब्बा लग जाय।

सवेरे दातुन न करने का अशौच भी इसी के अतर्गत है।

भिक्षुओं की सभा मे या उपवास के दिन अपवित्र अवस्था में केवल हाथ जोडने चाहिए। हाथो का जोडना सम्मान करना है, इसलिए पूरा प्रणाम करने का प्रयोजन नही। यदि कोई प्रणाम करता है तो यह विनय के विरुद्ध चलता है। जिस स्थान पर लोग काम में लीन हो वहां, अशुद्ध जगह मे या मार्ग मे, प्रणाम नही करना चाहिए। इन बातों का विनय-ग्रंथो में वर्णन है। चाहे मनुष्य ठीक-ठीक रीति से (विनय की) शिक्षा पर चलना चाहता हो, परतु अशुद्ध परपरागत रीति अथवा भिन्न जलवायु के कारण अनेक अनुष्ठानों मे बाधा पड जाती है।

17

टट्टी जाने के विषय में

अव मैं टट्टी जाने के विषय में नियमों का संक्षेप में वर्णन करूगा। मनुष्य को शरीर के अधोभाग पर स्नान करने का साया, और उत्तर भाग पर संकक्षिका[1] परिधान पहन लेना चाहिए। फिर सफ़ाई के लिए एक लोटा (मूलार्थतः, 'छुआ हुआ लोटा') जल से भरना, उस लोटे को लेकर टट्टी जाना, और अपने आपको छिपाने के लिए

1 सकक्षिका एक बगल को ढकनेवाला बागा या कपडा होता है जो शेष सब कपडों के नीचे पहना जाता है इस शब्द के लिए देखिए महाव्युत्पत्ति

द्वार को वंद कर देना चाहिए। मिट्टी के चौदह गोल टट्टी (वर्चस्-कुटी) के वाहर ईट की थाली मे और कभी-कभी एक छोटी-सी पटरी पर रख दिए जाते है। ईट या पटरी का परिमाण एक हाथ लबा और आधा हाथ चौड़ा होता है। मिट्टी के गोला को पीसकर वारीक कर लिया जाता है और उनकी दो पाते वना दी जाती हे। प्रत्येक गोले की पिसी हुई मिट्टी अलग-अलग रखी जाती है। वहा एक फालतू गोला भी रखा जाना चाहिए। मनुष्य को तीन और गोले टट्टी में ले जाकर एक ओर रख देने चाहिए। इन तीनों में से एक तो शरीर को रगड़ने और दूसरा शरीर को धोने के काम मे लिया जाता है। शरीर को धोने की रीति इस प्रकार है—शरीर को बाये हाथ से धोना, और फिर जल और मिट्टी से उसकी शुद्धि करनी चाहिए। अभी तक एक गोला शेष रहता है। इसके साथ बाये हाथ को एक बार स्थूल रूप से धो डालना चाहिए। शुद्धि कर चुकने के अनतर कपडो को छोड देना (अर्थात् सुधारना), पानी के लोटे को एक ओर रख देना, दाये हाथ से द्वार को खोलना, ओर लोटे को दायें हाथ मे पकडे हुए बाहर आना चाहिए। फिर लोटे को बायी बाह से आलिगन करके, परंतु वाये हाथ को बद किए हुए, दाये हाथ से पीछे द्वार वद कर देना और वहां से चल देना चाहिए। अब उस स्थान पर आना चाहिए जहां कि मिट्टी के गोले रखे हुए हैं, और एक ओर उकडू बैठ जाना चाहिए। पहले मिट्टी के साल गोले, जो शरीर के निकट हो, बाये हाथ को धोने के लिए क्रमश. एक-एक करके बर्तन चाहिए, और फिर शेप सात एक-एक करके दोनों हाथ धोने के लिए।

ईट और काठ (की पटरी) के पृष्ठतल को धोकर साफ़ कर देना चाहिए। अभी तक एक और गोला रहता है जिसके साथ लोटा, बाहें, पेट और पैर (पैरो के तलुए) धोए जाते है; जब सब शुद्ध और साफ हो जायें तब मनुष्य, जहा उसकी इच्छा हो, जा सकता है। लोटे का पानी मुंह मे डालने अथवा होठों मे लगाने के योग्य नहीं। मनुष्य को अपनी कोठरी मे वापस आकर एक साफ ठिलिया से जल लेकर मुह धोना चाहिए। टट्टी हो आने के पश्चात् यदि मनुष्य लोटे को छू दे तो जब तक वह दुबारा हाथो को न धोए और कुल्ला न कर ले, दूसरे बर्तनो को छूने के योग्य नही होता। टट्टी जाने के विपय मे ऐसे ही नियम हैं।

टट्टी जाने के अनतर हर सूरत मे मनुष्य को एक-दो मिट्टी के गोलो के साथ हाथ धोने चाहिए, क्योंकि पूजा करने का आधार पवित्रता है।

प्रक्षालन के पूर्व सघ की कुर्सी पर बैठना, अथवा त्रिरत्न को प्रणाम करना नही चाहिए।

जो धर्म पीछे छोड़ा गया है, उसकी केवल छाया और शब्द ही प्रकट होना आरंभ हुआ है[1]। जाओ और अपने आपको उन लोगों को सौंप दो जिन्होंने सांसारिक

1 उसके कथन का आशय यह है कि धर्म का प्रभाव अभी तक थोड़ा है

जीवन का परित्याग कर दिया है, उठो और उन लोगों के पीछे चलो जिन्होंने चिता छोड दी है। तुम्हें अधकार से लिप्त और नीच जगत् को अवश्य त्याग देना चाहिए, तुम्हे पवित्रता का शात और शुभ्र जीवन व्यतीत करना चाहिए। वाहर का मैल ओर भीतर की भूल दोनो पोछ जाये, और ऊपर की गांठ और नीचे का वधन दोनो समान रूप से कट जाये। जब तुम्हारा शरीर शात और मन पवित्र होगा तब तुम्हारे चार कर्मो[1] को कभी कष्ट न होगा, और सम्मान के तीन विषय[2] सदा मित्र होंगे।

तब तुम जीवित मनुष्यो मे उपहास के विषय न होंगे, तुम यम की क्रोध-भरी दृष्टि से कैसे भयभीत होगे ? प्राणियो के नौ लोकों का कैसे उपकार हो सकता हे, और तीन लबे युगो में (बुद्धत्व के लिए) उत्तम हेतु कैसे पूर्ण हो सकता हे, इसका हमें खूब विचार करना चाहिए।

यदि, जैसा कि मै सच्चाई से आशा करता हू, लाख मे से एक मनुष्य भी (मेरे शब्दो से) अपना सुधार करेगा, तो अपने आयास के दो दर्जन वर्षो में जो कठिनाई ओर कठोरता मैने झेली है, उसके लिए मुझे खेद न होगा।

18

उपसंपदा के नियम

प्रव्रजित बनने (मूलार्थत. घर-बार-रहित होने) के संबध में जो प्रक्रियाए पश्चिम मे की जाती है उनके लिए सूक्ष्म नियम हैं, जो कि मुनि (बुद्ध) ने प्रतिष्ठित किए है। परतु मै यहा उनके विषय मे केवल कुछ ही बातें सुनाऊंगा। जिस मनुष्य ने अपने विचारो को (धर्म की ओर) फेर दिया है और प्रव्रजित बनने की इच्छा कर ली है, वह अपनी इच्छा के अनुसार किसी उपाध्याय के सामने जाकर उससे अपनी अभिलाषा कहता हैं। वह उपाध्याय, किसी-न-किसी उपाय से, मालूम करता है कि इसके मार्ग मे कोई रुकावट तो नही है अर्थात् पितृ-हत्या, मातृ-हत्या आदि का पाप तो इसे नही लगा है। यदि वह ऐसी कोई कठिनाई नहीं पाता तो वह उसे (भिक्षुपद के लिए) स्वीकार कर लेता है। स्वीकार कर लेने के अनंतर उपाध्याय उसे दस दिन या एक मास तक खुला छोड देता है। और फिर उसे पाच उपदेश[3] देता है।

तब उपाध्याय (पदाभिलाषी के लिए) एक पट, एक संकक्षिका, एक निवासन, एक भिक्षा-पात्र, और एक चालनी का प्रबध करके, सघ के सम्मुख होता है और

---

1 अर्थात् जाना, ठहरना, बैठना और लेटना।

2 अर्थात् तीन रत्न।

3 पांच बुद्ध के परम प्रसिद्ध मौलिक उपदेश या आज्ञाएं हैं अर्थात् हत्या चोरी झूठ व्यभिचार और मादक द्रव्यों को छोड़ दो

कहता है कि पदाभिलाषी भिक्षु बनना चाहता है। जब संघ उसे स्वीकार कर लेता है तब उपाध्याय उसकी ओर से उपाचार्यों को संस्कार कराने के लिए कहता है। तब वह मनुष्य किसी एकांत स्थान मे अपने केश और दाढी मुडवाता है और स्नान करता है। उपाध्याय किसी-न-किसी प्रकार उसकी परीक्षा करता है कि वह कही हिजडा इत्यादि तो नही, तो तब वह उस पर निवासन रख देता है। फिर उसे उत्तरीय कचुक दिया जाता है। अब वह प्रव्रजित कहलाता है। फिर उपाध्याय के सामने आचार्य उसे दस शिक्षापद, सुनाकर या पढकर देता है। इन शिक्षापदों को सीख लेने के बाद वह भिक्षु श्रमणेर कहलाता है। श्रमणेर का अर्थ है 'जो विश्राम ढूढता है', अर्थात् 'जो निर्वाण—पूर्ण विश्राम—प्राप्त करना चाहता है।'

उपसपदा लेनेवालो के लिए प्रतिपत्ति, प्रक्रियाए, उपदेश मागने और अपना सकल्प प्रकट करने का भाव, विधि और अनुष्ठान वही है (जो कि श्रमणेर पद की दीक्षा चाहनेवालो के लिए है)। परतु श्रमणेर की अवस्था मे, विनय-पुस्तको मे दिए हुए बारह विषयों के व्यतिक्रम से अपराध नही लगता; किंतु शिक्षमाणा (स्त्री) के लिए इस नियम के कुछ रूपातर है। अब वे बारह विषय कौन-कौन-से है ?

1. (विधिविहित और विधिविरुद्ध) परिधानो में भेद करना चाहिए।
2. कपडो के बिना न सोना चाहिए।
3 आग[1] को छूना न चाहिए।
4 बहुत अधिक भोजन न करना चाहिए।
5. किसी प्राणी की हानि न करनी चाहिए।
6. हरी घास पर मैल न फेकना चाहिए।
7 (प्रयोजन को छोडकर) कभी प्रमाद से ऊंचे पर न चढना चाहिए।
8. रत्नों को न छूना चाहिए।
9. जूठा भोजन नही करना चाहिए।
10 भूमि नही खोदनी चाहिए।
11. दिए हुए भोजन को लेने से इनकार न करना चाहिए।
12. उगती हुई कोपलों को हानि नहीं पहुचानी चाहिए।

दो निचली श्रेणियों के लोगों (अर्थात् श्रमणेरों और श्रमणेरियों) को इन बारह बातो के अनुसार चलने का प्रयोजन नहीं। परंतु यदि शिक्षमाणा पिछली पांच बातो (8-12 तक) का पालन न करेंगी तो उन्हे दोष आयेगा। इन तीन निम्न श्रेणियो को वर्ष (ग्रीष्म-एकात) भी करना पड़ता है।

---

1 काश्यप से अनुसार यह खुली भूमि में आग जलाना है।

(स्त्रियों के लिए) छ. आवश्यक और छः गौण नियम अन्यत्र दिए गए है[1]। यदि उन्होने किसी नियम को भग करने का दोष न किया हो तो वे 'धर्मानुकूल आचरण करनेवाली' समझी जा सकती है, उस अवस्था मे वे यथोचित रूप से पाच परिषदो मे समाविष्ट हो सकती है और उनके लाभों की भागी हो सकती है।

जब नव शिष्य सभी धर्मानुष्ठानो को जान ले और जब वह आवश्यक आयु[2] को पहुच जाये तब, यदि वह उपसंपदा पाने का अभिलाषी हो तो, उपाध्याय अपने शिष्य के उपदेशों पर चलने की इच्छा और दृढमति देखकर, उसके लिए छः परिष्कारो का प्रबध करता और नौ दूसरे लोगों[3] को (संस्कार मे भाग लेने के लिए) बुलाता है। यह संस्कार एक छोटे चबूतरे पर, या एक बड़े हाते मे या एक स्वाभाविक सीमा के भीतर किया जा सकता है। आंगन मे सघ की चटाइयो का उपयोग किया जा सकता है, या प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी चटाई का व्यवहार कर सकता है। धूप और पुष्प बहुत व्यय से तैयार किए जाते है। तब अर्थी को प्रत्येक उपस्थित भिक्षु को तीन बार प्रणाम करने, अथवा कभी-कभी प्रत्येक भिक्षु के पास जाकर उसके पैर छूने की शिक्षा दी जाती है। बुद्ध की शिक्षा के अनुसार ये दोनों प्रणाम की प्रक्रियाएं हैं। इस सस्कार के पश्चात् उसे महाशील सीखने की आज्ञा दी जाती हे। यह तीन बार कर चुकने पर, उपाध्याय उसे सघ के सामने कपडे और भिक्षापात्र देता है।

तब अर्थी को भिक्षा-पात्र लेकर चारों ओर घूमना और इसे वहां एकत्रित भिक्षुओ

---

2 विनय-सग्रह अध्याय-12 मे स्त्रियो के लिए छ मुख्य और छ गौण नियम दिए है—

क छ आवश्यक नियम—

1 स्त्री अकेली यात्रा न करे।

2 स्त्री अकेली नदी पार न करे।

3 स्त्री पुरुष के शरीर का स्पर्श न करे।

4 स्त्री पुरुष के साथ एक ही स्थान में न रहे।

5 स्त्री लोगों की सगाइया कराने का काम न करे।

6. स्त्री किसी भिक्षुणी के किए हुए भारी अपराध को न छिपावे।

ख छ गौण नियम—

1 स्त्री वह सोना या चादी न ले, जो उसका अपना न हो।

2 स्त्री सिर को छोडकर और किसी स्थान पर बाल न मूडे।

3 स्त्री बिना जोती हुई भूमि को न खोदे।

4 स्त्री बढती हुई घास अथवा पेड को इच्छापूर्वक न काटे।

5 स्त्री उस भोजन को न करे, जो उसे नहीं दिया गया।

6. स्त्री उस भोजन को न करे जो एक बार छुआ जा चुका हो।

1 काश्यप के अनुसार बीस वर्ष की आयु। महावग्ग, 1, 49, 5।

2 काश्यप के अनुसार, सब मिलाकर दस उपाध्याय होने चाहिए।

मे से प्रत्येक को क्रमश दिखलाना होता हे यदि वह ठीक हो, नो सभी एकत्रित भिक्षु कहते है—'अच्छा भिक्षा-पात्र', यदि वे ऐसा न कहे तो उन्हे धर्म के अतिक्रमण का दोष लगता है। इसके बाद, अर्थी को व्यवस्था के अनुसार भिक्षा-पात्र ग्रहण करना होता है। तब कर्म करानेवाला आचार्य उसको, पुस्तक पढकर जो उसके सामने पकडकर ऊपर उठा दी होती है, या मुह मे बोलकर, महाशील देता है; क्योंकि बुद्ध न दोनो की आज्ञा दी है। महाशील पानेवाला उपसपन्न (जिसे उपसंपदा मिल चुकी हे) कहलाता है।

ज्यो ही सस्कार समाप्त हो, (उपसपदा की तिथि का निश्चय करने के लिए) चटपट सूर्य की छाया को नापना और ऋतु (पांच होती हैं) का नाम भी लिख लेना चाहिए।

छाया को नापने की रीति यह है। कोई एक हाथ लंबी पतली-सी लकडी का टुकडा लो; सिरे से चार अगुल पर इसे, बढ़ई के गुनिए के रूप मे, झुकाओ। इसका छोटा सिरा ऊपर उठा रहे परतु साथ ही दूसरा (लबा) सिरा छडी के लंबरूप भाग से अलग न होने पावे। मध्याह्न को, जब छडी के लम्बे सिरे को भूमि के साथ रखा जाता है, तब इसके लबरूप भाग की छाया छडी के दिगंतसम भाग पर पडती है। पडनेवाली छाया को चार अगुल के साथ मापा जाता है। यदि छाया ठीक चार अंगुल भर लबी हो तो यह माप एक पुरुष (पौरुष)[1] कहलाती है, और इस प्रकार समय की माप इतने पुरुष या कभी-कभी एक पुरुष और एक अगुल या आध अंगुल, या केवल एक अगुल इत्यादि (जब ठीक एक पुरुष के बराबर माप न हो) चलती रहती है। इस रीति मे (समय के भेद) अगुलो को मिलाने और घटाने से नापे और समझे जाते हैं।

(इत्सिंग की टीका)—पुरुष का अर्थ है 'मनुष्य'; चार अंगुल माप की छाया को 'एक-पुरुष' कहने का कारण यह है कि जब लंबरूप छडी, जो स्वय चार अगुल होती हैं, की छाया भी दिगतसम छडी की लंबाई में चार अंगुल हो, तब भूमि पर पडेनवाली मनुष्य की छाया उतनी ही लंबी होती है, जितनी कि उस मनुष्य की वास्तविक ऊंचाई। जब लंबरूप छडी की छाया दिगंतसम छडी पर लबाई में आठ अगुल हो, तब भूमि पर पुरुष की छाया उसके शरीर की ऊंचाई से ठीक दुगुनी होगी। यह बात मध्यम परिमाण के पुरुष की है, सब जनों की आवश्यक रूप से नहीं[2]। इस रीति से और मापे भी ली जाती है।

---

1 पुरुष का अर्थ, माप के रूप मे, प्राय होता है एक मनुष्य की लबाई जिसने अपनी बाहे और उगलिया फैलाई हुई हों। परतु इत्सिग के अनुसार इसका अर्थ चार अगुल है।

2 इत्सिग का यह कथन सत्य नही जान पडता। सबके साथ इसका एक जेसा होना जरूरी है।

यह बात (कि उपसपदा-सस्कार हो चुका है) भोजन के पहले या पश्चात् कह देनी चाहिए। जब अभ्र छाया हो, या रात हो, तब समय की माप उचित रीति से करनी चाहिए।

भारत और दक्षिणी सागर के द्वीपों के सभी भिक्षु जब आपस में पहली बार मिलते है तब पूछते हैं—'आर्य, आप कितने वर्ष (ग्रीष्म-एकात) बिता चुके है ?' जिसमे प्रश्न किया जाता है वह उत्तर देता है—'इतने'। यदि उन्होंने एक समान ही 'वर्ष' बिताए हो तो एक दूसरे से पूछता है कि किस ऋतु मे दीक्षा मिली थी ? यदि सयोग से दोनो को एक ही ऋतु मे उपसपदा मिली हो तो संलापक फिर पूछता हे कि उस ऋतु में कितने दिन रह गए थे। यदि दिनों की सख्या अब भी उतनी ही हो तो एक-दूसरे से पूछता है कि उस दिन तुम्हे भोजन से पहले उपसपदा मिली थी या उसके पीछे। यदि दोनो को उसी दिन पूर्वाह्न को मिली हो तो छाया की लबाई पूछी जाती है; यदि इसमे भेद हो तो दोनो में से एक की ज्येष्ठता का निश्चय हो जाता है। परतु यदि छाया एक समान हो तो उनमे कोई भेद नहीं होता। इस अवस्था में स्थानो का क्रम पहले आनेवालों क अनुसार निश्चित किया जाता है, या कर्मदान उन्हे अपना निर्णय आप ही कर लेने देता है। जो लोग भारत को जाये उन्हे ये बाते अवश्य पूछनी चाहिए। यह चीन की रीति से कुछ भिन्न है। चीन मे भिक्षु लोग केवल उपसंपदा की तिथि ही बताते हैं। परंतु नालंद-विहार मे भिक्षुओ को 'लबी ऋतु' के पहले दिन, प्रायः तडके ही—जब अभी पौ फटने ही लगती हे—उपसपदा दी जाती है। उनका तात्पर्य उन लोगो मे ज्येष्ठता का दावा करने से होता है जिनको एक ही ग्रीष्म मे उपसंपदा मिली हो। यह चीन के 6ठे चद्रमा के 17वें दिन का तडका होता है; (वे इसलिए ऐसा करते है क्योकि फिर) वे दूसरा 'वर्ष'[1] नही प्राप्त कर सकते।

यदि मनुष्य उस समय उपसपदा लाभ करता है जबकि छठे चद्रमा के सोलहवे दिन की रात (अर्थात् दूसरे वर्ष का आरभ होने के एक दिन पहले) समाप्त होने को होती है, तो वह उस ग्रीष्म में दीक्षा पानेवाले लोगो मे सबसे छोटा होगा। (जब मनुष्य को 6ठे चद्रमा के 17वें दिन के उषाकाल में, अर्थात् दूसरे वर्ष के आरभ मे, उपसंपदा मिलती है तो) वह दूसरा वर्ष भी लाभ करता है, और इसलिए उसे उपसपदा के अनतर, अपने उपाध्याओ के अतिरिक्त जिन्हे कुछ-न-कुछ—चाहे वह

1 एक साल मे दो वर्ष (ग्रीष्म-एकात) होते है, पहला 5वे चद्रमा के कृष्णपक्ष के पहले दिन आरभ होकर 8वे चद्रमा के मध्य में समाप्त होता है, और दूसरा 6ठे चद्रमा के कृष्णपक्ष के पहले दिन आरभ होकर 9वें चद्रमा के मध्य मे सामप्त होता है। यदि किसी को 6ठे चद्रमा की 17वीं को, अर्थात् दूसरे ग्रीष्म के आरभ में उपसपदा मिले तो वह दूसरे और पहले दोनों वर्षो के निवास का दावा कर सकता है। लड़के का समय चुनने का अर्थ भी जल्दी उपसपदा लना हे।

तुच्छ हो या बहुत ज्यादा—अवश्य देना चाहिए, दूसरों को कुछ भी भेंट देने का प्रयोजन नहीं। कोई कटिबंध या चालनी-जैसी चीज़ लाकर अमोघ कृतज्ञता प्रकट करने के लिए उन उपाध्यायों की भेंट करनी चाहिए जो उपसंपदा के स्थान पर उपस्थित हो और उसमे भाग लेते हो। तब उपाध्याय प्रातिमोक्ष के विषय को प्रकाशित करके अर्थी को अपराधो का स्वरूप और सूत्रों के बोलने की रीति सिखाता है।

इनको सीख लेने के अनतर, अर्थी बडे विनय-पिटक को पढना आरभ करता है। वह उसे प्रतिदिन पढता है, और प्रतिदिन सवेरे उसकी परीक्षा होती है, क्योंकि यदि वह निरंतर इसमें न लगा रहे तो उसकी मानसिक शक्ति नष्ट हो जायेगी। विनय-पिटक पढ चुकने के पश्चात् वह सूत्र और शास्त्र सीखना आरभ करता है। भारत मे उपाध्यायों की अध्यापन-शैली ऐसी ही है। यद्यपि महामुनि को हुए बहुत दीर्घ काल बीत चुका है, तो भी ऐसी रीति अब तक निर्विघ्न जारी है। ये दो उपाध्याय और कर्माचार्य, माता-पिता के सदृश है। जिस मनुष्य ने उपसंपदा की प्राप्ति के लिए असाधारण परिश्रम किया हो उसके लिए उपसंपदा पाने के अनतर उपदेशो पर ध्यान न देना क्या उचित हो सकता है ?

निस्सदेह यह खेद का विषय है कि ऐसे आरभ का कोई सतोषजनक अत न हो। कुछ लोग ऐसे है, जिन्होने अपने उपाध्यायो को पहली बार मिलने पर, उपसपदा-प्राप्ति की इच्छा प्रकट करने के अनंतर, उपसपदा के पीछे फिर कभी अपना मुह नही दिखाया; न वे उपदेशों की पुस्तक पढ़ते है, न विनय-ग्रथो को ही खोलते हे, ऐसे मनुष्यो को वृथा ही भिक्षु बनाया गया है। वे अपने लिए तथा दूसरो के लिए भी हानिकर है। इस प्रकार के लोग धर्म का नाश करते हैं।

भारतीय भिक्षुओं की पदवियां (मूलार्थत· अनुष्ठान के नियम) निम्नलिखित है।

उपसपदा की दीक्षा के अनतर, भिक्षु च-गा-र (अर्थात् दहर) कहलाता है, जिसका अनुवाद 'छोटा उपाध्याय' किया जाता है। और उन्होंने दस 'वर्ष' पूर्ण रूप से बिता लिये हों वे 'स्थविर' कहलाते है, जिसका अनुवाद 'अचल स्थिति' किया गया हे, क्योकि स्थविर किसी शिक्षक की रक्षा के अधीन रहे बिना अपने आप रह सकता हे। वह उपाध्याय भी बन सकता है। जो मनुष्य उपाध्याय बनता है उसके लिए स्थविर होना और पूरे दस वर्ष (ग्रीष्म-एकात) बिता चुकना आवश्यक है।

वे श्वेतांबर लोग (सामान्य भक्तजन), जो भिक्षु के मकान पर आते और मुख्यत· बौद्ध-धर्म-ग्रथ इस उद्देश्य से पढते हैं कि वे एक दिन सिरमुड़े और काले कपड़ोवाले बन जायें, 'बच्चे' (मानव) कहलाते हैं। जो लोग (भिक्षु के पास आकर) केवल सासारिक साहित्य ही पढना चाहते है, और उसकी ससार को छोडने की कुछ भी इच्छा नही होती, वे ब्रह्मचारिन् कहलाते है। मनुष्यों के इन समूहो को (विहार मे रहते भी)

अपने व्यय का निर्वाह करना होता है।

(इत्सिंग की टीका)—भारत के विहारो मे ऐसे ब्रह्मचारी अनेक है जो भिक्षुओ के सुपुर्द हे और उनसे सासारिक विद्या की शिक्षा पाते है। इन ब्रह्मचारियों का सघ की स्थायी सपत्ति मे भोजन नही दिया जाना चाहिए, क्योंकि बुद्ध की शिक्षा मे इसका निषेध है परतु यदि उनके सघ के लिए कोई भारी काम किया हो तो उनकी योग्यता के अनुसार उन्हे विहार से भोजन मिलना चाहिए। परतु साधारण प्रयोजनो के लिए बनाया हुआ या ब्रह्मचारियों के उपयोग के लिए दानी का दिया हुआ भोजन ब्रह्मचारियो को देने मे कोई दोष नहीं।

बुद्ध की छाया नाग नदी से लोप हो गई है, और उसके तेज की ज्योति गृध्रकूट से अतर्धान हो गई है, हमारे पास कितने अर्हत ऐसे है जो पवित्र धर्म का उपदेश दे सकते है ?

एक शास्त्र मे इस प्रकार कहा गया है—'जब महाकेसरी ने अपनी आखें वद की तब सारे साक्षी भी एक-दूसरे के पश्चात् चले गए। ससार और भी अधिक विकार से मैला हो गया। मनुष्य को (नैतिक विनय का) उल्लघन किए बिना अपने विषय में चौकस रहना चाहिए।'

सभी धर्मपरायण लोगो को धर्म की रक्षा मे मिल जाना चाहिए। परतु यदि तुम, आलसी और निरुद्योग होने से, मानवी प्रवृत्ति को कार्य करने दोगे तो तुम मानवो और देवों को क्या करोगे जिनका नेतृत्व तुम्हारे सुपुर्द है ?

वियन मे कहा गया है—'जब तक कर्माचार्य है, मेरे धर्म का नाश न होगा। यदि कर्म (नियमों) को रखने और सभालनेवाला कोई न होगा तो मेरे धर्म का अन्त हो जाएगा।' यह भी कहा है—'जब तक मेरे उपदेश विद्यमान है, मै जीता हू।' ये खाली बाते नहीं, वरन् इनमे गहरे अर्थ है, इसलिए इनका यथायोग्य सम्मान होना चाहिए। फिर मै इसी को कवित्व भाषा मे प्रकट करता हू—

गुरुदेव की छाया लोप हो गई है, और धर्म के प्रधान उच्चपदस्थ लोग भी हमारे पास से चले गए हैं। नास्तिक लोग पर्वत के समान ऊचे खडे है, और उपकारशीलता की छोटी पहाडी भी नष्ट हो रही है।

सूर्य-सदृश बुद्ध की प्रभा की रक्षा करना वास्तव में धर्मात्माओं और बुद्धिमानो का काम है। यदि मनुष्य संकीर्ण मार्ग पर चलता है तो वह बडे मार्गो की शिक्षा कैसे दे सकता है ? सौभाग्य से (सुधर्म) चतुर लोगो को दिया गया है, जिन्हें इसको परिश्रम से उन्नत करना है।

आशा की जाती है कि मनुष्य धर्म को न केवल मलिनता से बचाकर वरन् इसके सौरभ को दूर-दूर के युगो तक फैलनेवाला बनाकर, इसका प्रचार और संचार करेगा। 'धर्म को और भी अधिक सुवासित बनाने' का क्या तात्पर्य है ? यह शील-सागर

मे तरग उत्पन्न करना है इस प्रकार बुद्ध की शिक्षा, यद्यपि यह पहले ही समाप्त के निकट पहुच चुकी है, समाप्त न हो जाय, और धर्म का अनुष्ठान—यद्यपि इसे भ्रमो से प्राय हानि पहुच चुकी है—अनुचित न हो जाय। हमें अपने अनुष्ठान को राजगृह में दी हुई यथार्थ शिक्षा के अनुकूल बनाना, और जेताराम मे बताई हुई पवित्र विनय की बात पर आने के यत्न करना चाहिए।

19

उचित समयों का स्थान

अब मै स्नान की रीति का वर्णन करुगा। भारत का स्नान चीन के स्नान से भिन्न है। वहा सब ऋतुओ मे, दूसरे प्रदेशों से कुछ-कुछ भिन्न, मौसम परिमित रहता है। फूल और फल सदा, यहा तक कि वर्ष के प्रत्येक मास मे रहते हैं। हिम और बर्फ का नाम तक नहीं रहता। कुहरा पडता है, पर बहुत हल्का। यद्यपि (विशेष-ऋतुओ मे) गरमी होती है, पर ताप बहुत प्रचंड नही होता, और गरम-से-गरम मौसम मे भी लोग 'चुभनेवाली गरमी' से कष्ट नहीं पाते। जब बहुत सरदी होती है तब उनके पैर नही फटते, क्योंकि वे बार-बार नहाते-धोते रहते हैं, और शरीर की पवित्रता पर बहुत ध्यान देते हैं। अपने दैनिक जीवन मे वे स्नान किए बिना भोजन नही करते।

तालाबों में सब कही जल बहुतायत से है। तालाब बनाना पुण्य समझा जाता है। यदि हम केवल एक ही योजन जाए तो हमे बीस-तीस नहाने के घाट दिखाई देगे। उनके परिमाण भिन्न-भिन्न है, कोई एक मोउ (या लगभग 733½ वर्ग गज) हे और कोई पाच मोउ। तालाब के चारों ओर शाल के वृक्ष लगाए जाते हैं, जो कोई चालीस-पचास फीट ऊचे होते है। इन सब तालाबो को वर्षा के जल से भरा जाता है, और ये शुद्ध नदी की तरह निर्मल होते है। आठ चैत्यो[1] में से प्रत्येक के निकट एक-एक तालाब है, जहा जगद्वद्य (बुद्ध) स्नान किया करते थे। इन

---

1 आठ चैत्य ये है—

1 बुद्ध के जन्म-स्थान मे लुबिनी-आराम, कपिलवस्तु, मे।
2 मगध में निरजना नदी के समीप बोधि-वृक्ष क नाचे, जहा बुद्धत्व प्राप्त हुआ था।
3 काशियो के देश के अतर्गत वाराणसी (बनारस) में, जहा बुद्ध ने पहले पहल अपने धर्म का प्रचार किया था।
4. जेताराम, श्रावस्ती, मे जहा बुद्ध ने अपनी बडी अलौकिक शक्तिया दिखलाई थीं।
5 कान्यकुब्ज (कन्नौज) मे, जहा बुद्ध त्रयस्त्रिश स्वर्ग से उतरा था।
6 राज-गृज मे, जहा शिष्यों मे बाट हो गई थी, और बुद्ध ने उन्हे तदनुसार शिक्षा दी थी।
7 वैशाली में, जहा बुद्ध प्राय आयु भर उपदेश देते है।
8 कुशिनगर में शाल-वृक्षो की वड़ी पंक्ति में जहां बुद्ध निर्वाण को प्राप्त हुए थे।

तालाबों का जल, दूसरे तालाबों के जल से भिन्न, बहुत ही शुद्ध है।

नालंदा विहार के निकट दस से अधिक बडे-बडे तालाब हैं, और प्रतिदिन सवेरे भिक्षुओं को स्नान-काल का स्मरण कराने के लिए एक घंटी बजाई जाती है। प्रत्येक मनुष्य अपने साथ स्नान के लिए अंगोछा लाता है। कभी-कभी सौ, कभी-कभी एक सहस्र (भिक्षु) इकट्ठे विहार से निकलते हैं, और इन तालाबों की ओर सब दिशाओं में जाकर सबके-सब स्नान करते हैं।

अंगोछे के विषय में नियम इस प्रकार है—पांच फीट लंबा और डेढ़ फीट चौड़ा एक नर्म कपड़े का टुकड़ा लेकर उसे (अंतरीय के ऊपर) शरीर के गिर्द लपेटो। अंतरीय को खोलकर बाहर निकाल लो, और अंगोछे के दोनों सिरों को सामने ले आओ। तब बायें सिरे के ऊपरी कोने को दायें हाथ से पकड़ो, और उसे कमर की ओर ऊपर खींचकर शरीर से छूने दो; इसे अंगोछे के दायें सिरे के साथ जोड़ दो; और दोनों को मरोड़कर, उन्हें कपड़े और शरीर के बीच खोंस दो। अंगोछा पहनने की यही रीति है। सोते समय अंतरीय पहनने का भी यही नियम है। जब मनुष्य स्नान-घाट से बाहर आने को हो तब उसे अपने शरीर को हिलाना और पानी से बहुत धीरे-धीरे बाहर निकलना चाहिए, ताकि कहीं कपड़े के साथ लगे हुए कुछ कीड़े न बाहर निकल आएं। (जल से निकलकर) किनारे पर आने की रीति के विषय के नियम विनय-ग्रंथों में दिए गए हैं। तालाब गए बिना, विहार में ही स्नान करने की अवस्था में, अंगोछा उसी प्रकार बांधा जाता है, परंतु जल दूसरा मनुष्य डालता है, और स्नान के लिए उस स्थान के गिर्द एक घेरा बनाना पड़ता है।

जगत्-पूज्य ने स्नानागार बनाने, खुले स्थान में ईंटों का तालाब निर्माण करने, और रोग-शांति के लिए औषधीय स्नान तैयार करने की विधि बताई है। कभी वे सारे शरीर पर तेल की मालिश करने, कभी प्रतिदिन रात को पैरों में, या प्रतिदिन सवेरे सिर में तेल मलने की आज्ञा देते थे; क्योंकि यह क्रिया नेत्रों की दृष्टि को साफ और शीत को दूर रखने के लिए बहुत अच्छी है।

इन सब बातों के विषय में हमारे पास धार्मिक प्रमाण है। वह इतना बृहदाकार है कि यहां वह पूर्ण रूप से बताया नहीं जा सकता। विनय-पुस्तकों में इसका सविस्तार वर्णन है। फिर, स्नान सदा उस समय करना चाहिए जब मनुष्य भूखा हो। स्नान के अनंतर भोजन करने से दो प्रकार के लाभ होते हैं। पहले, सब प्रकार के मैल से मुक्त होने के कारण शरीर शुद्ध और खाली हो जाता है। दूसरे, भोजन भली-भांति पच जायेगा, क्योंकि स्नान से मनुष्य कफ और भीतरी इंद्रियों के रोगों से मुक्त हो जाता है। अच्छे भोजन (मूलार्थतः, बहुत-सा खाने) के पश्चात् नहाना चिकित्सा-शास्त्र के अनुसार निषिद्ध है। बिना किसी वस्त्र के स्नान करना बुद्ध की शिक्षा के विपरीत है। लोगों को एक ऐसे कपड़े के बने हुए स्नान-परिधान

का उपयोग करना चाहिए जिसकी लंबाई उसकी चौडाई से चौगुनी हो, तब वह समुचित रीति से शरीर को ढक सकता है। ऐसी रीति न केवल बुद्ध की श्रेष्ठ शिक्षा के साथ पूर्ण रूप से एकतान है, वरन् मानवो और देवो के सामने लज्जा भी उत्पन्न नही करती। दूसरी बातों के उचित या अनुचित होने के विषय मे बुद्धिमानो को सावधानी से अपने आप निर्णय कर लेना चाहिए। रात्रि-स्नान मे भी मनुष्य को उचित रीति का परित्याग न करना चाहिए।

20

निद्रा और विश्राम के नियम

भारत मे (विहार की) कोठरियां लबी-चौडी नहीं होतीं, और निवास करनेवाले बहुत होते है, इसलिए सोनेवालों के उठ जाने पर पलंग उठवा दिए जाते हैं। या तो उन्हे कमरे के एक कोने में अलग रख दिया जाता है या कमरे से बाहर निकाल दिया जाता है। पलंग की चौड़ाई दो हस्त (3 फीट) और उसकी लंबाई चार हस्त (6 फीट) होती है। चटाई इसी परिमाण की बनाई जाती है, और भारी नहीं होती। (कोठरी का) फ़र्श गाय का सूखा गोबर छितराकर साफ़ किया जाता है। फिर कुरसिया, लकडी के फलक, छोटी चटाइया इत्यादि सिलसिले से रखी जाती है। तब साधारण रूप से भिक्षुगण अपनी-अपनी पदवी के अनुसार बैठते है। आवश्यक बर्तन आलो मे रख दिए जाते हैं।

संघ के बिछौने का उपयोग करते समय, शरीर और बिछौने के बीच में कुछ रख लेना चाहिए; और इसी प्रयोजन के लिए चटाई (निषीदन) का उपयोग किया जाता है। यदि मनुष्य इस नियम का पालन न करेगा तो उसे 'काली पीठ-रूपी' प्रतिफल भोगना पडेगा। इस विषय मे बुद्ध की कड़ी आज्ञाए हैं, और हमें इस विषय मे बहुत सावधान होना चाहिए।

दक्षिण-सागर के दस द्वीपों और भारत (मूलार्थतः पश्चिम) के पांच खंडो मे, लोग सिर को ऊंचा करने के लिए काठ के तकिया का उपयोग नही करते। यह रीति केवल चीन मे ही है।

तकिया का खोल बनाने की रीति प्रायः सारे पश्चिम में एक-सी है। कपडा रेशम या पटुए का होता है; रंग अपनी-अपनी पसंद के अनुसार भिन्न-भिन्न होते हैं। इसे सीकर एक हस्त लंबा और आधा हस्त चौडा एक चौकोर थैला बना लिया जाता है। तकिया में कोई भी योग्य घरेलू उपज भर दी जाती है, जैसा कि ऊन, सन के टुकड़े (या रद्दी पटुआ), दूब, बेल के झोपे, नरकट कोमल पत्तिया, सन या लोबिया; गरम या शरद ऋतु के अनुसार यह ऊंचा या नीचा बनाया जाता हे, इसके बनाने का उद्देश्य सुख पाना और अपने शरीर को विश्राम देना है।

वास्तव मे, इसके कठोर होन का कोई डर नही। परतु लकडी का तकिया कठोर और खडखडा होता है। इससे गर्दन के नीचे से पवन गुजर जाती है, और बहुधा सिर में पीड़ा होने लगती है। परतु देश के अनुसार रीतियों मे भेद है, मै यहा केवल वही वर्णन कर रहा हूं जो कि मैंने एक पराए देश मे सुना है। इसलिए, इसका पालन करना चाहिए या नही, इसका निर्णय मनुष्य अपनी प्रवृत्ति से करे। परतु गरम चीजें सरदी से बचाती है और सन या लोबिए, बहुत गुणकारी होने के अतिरिक्त, नेत्र-दृष्टि के लिए अच्छे है। इसलिए, ऐसी वस्तुओं का उपयोग करने मे कोई भूल नही कही जा सकती। ठडे देश मे यदि कोई अपना सिर नगा रखे तो प्राय. ठड (या कडा ज्वर) लग जाती है। हेमत के महीनों मे सर्दी इसी कारण होती है। यदि उचित समयो पर मनुष्य सिर को गरम रखे तो कोई कष्ट या रोग न होगा। (चीन की) कहावत, 'सिर ठडा और पैर गरम', पर सदा भरोसा नही किया जा सकता।

जिन कमरो मे भिक्षु रहते हैं वहा कभी-कभी, एक खिडकी मे या विशेष रूप से बनाए हुए आले में, एक पवित्र प्रतिमा स्थापित की जाती है। भोजन करते समय भिक्षु लोग प्रतिमा को पटुआ के कपडे के परदे की ओट मे छिपा देते हैं। वे उसे प्रतिदिन सवेरे स्नान कराते, और सदा धूप और पुष्प चढ़ाते हैं। प्रतिदिन मध्याह्न को जो भोजन खाने को होता है उसके एक भाग की बलि सच्चे हृदय से देते है। जिस संदूक मे धर्म-ग्रथ होते है, वह एक ओर रखा जाता है। सोने के समय वे एक-दूसरे कमरे मे चले जाते है। दक्षिणी सागर के द्वीपों में भी यही रीति है। भिक्षुओ के अपने निजी कमरों में पूजा करने की साधारण रीति नीचे दी जाती है।

प्रत्येक विहार की एक पवित्र प्रतिमा होती है, जो कि एक विशेष मदिर मे स्थापित की जाती है। जब प्रतिमा बन चुके तब उसके बाद भिक्षु को आयु-पर्यत उसे स्नान कराने में कभी चूकना न चाहिए। और इस बात की आज्ञा नही है कि केवल उपवास के दिन ही भोजन की साधारण बलि दी जाय। यदि इन नियमो का पालन किया जाय तो उसी कमरे मे प्रतिमा रखना बुरा नही। जब बुद्ध जीता था तब उसके शिष्य उन्ही कमरो मे रहा करते थे, और प्रतिमा वास्तविक व्यक्ति की प्रतिनिधि होती है; हम बिना किसी हानि के उन्हीं कमरों मे रह सकते हे। इस परपरागत रीति पर भारत मे चिरकाल से आचरण किया जाता है।

21

स्वास्थ्य के लिए उचित व्यायाम के लाभ पर

भारत के भिक्षुओ और सामान्य भक्तजनो का उचित समय पर टहलने का प्राय स्वभाव है· वे शोरवाले स्थानों से बचते हैं। एक तो इससे रोग शांत होते है और

दूसरे, यह भोजन के पचाने में सहायता देता है। टहलने का समय पूर्वाह्न (ग्यारह बजे से पहले) और अपराह्न है। जो मनुष्य इस व्यायाम की उपेक्षा करता है, वह रुग्ण हो जाता है। प्रायः उसकी टागे अथवा पेट फूल जाता है, और कोहनी या कधों मे पीड़ा होने लगती है। इसके विपरीत, यदि कोई टहलने का यह स्वभाव बना लेता है तो इससे उसका शरीर अच्छा रहता है, जिससे उसकी धामिक योग्यता बढती है। इसलिए गृध्रकूट पर, बोधिवृक्ष के नीचे, मृगदाव मे, राजगृह में और अन्य पवित्र स्थानो मे ऐसे चक्रम (विहार) है, जहा जगद्वद्य (बुद्ध) टहला करते थे। वे कोई दो हाथ चौडे, चौदह-पद्रह हाथ लबे, और ईटो के बने हुए, दो हाथ ऊचे है, प्रत्येक के ऊपरी भाग पर चूने की बनी हुई खिले हुए कमल के फूल की चौदह-पद्रह आकृतिया है, जो ऊंचाई मे कोई दो हाथ (तीन फीट), व्यास में एक फुट ओर (प्रत्येक प्रतिमा के तल पर) मुनि की चरण-चिह्न से अकित है। इन विहारो के दोनो सिरो पर, मनुष्य के समान ऊचा, एक छोटा-सा चैत्य है, जिसमें कभी-कभी पवित्र प्रतिमा—शाक्य मुनि की खडी मूर्ति—रखी होती है। जब कोई मनुष्य देवालय या चैत्य के इर्द-गिर्द दायी ओर को चलता है, तब वह पुण्य के लिए ऐसा करता है, इसलिए उसे यह परिक्रमा एक विशेष पूजा-भाव के साथ करनी चाहिए। परतु जिस व्यायाम का वर्णन मैं अब कर रहा हू, वह वायु-सेवन के लिए है, और इसका उद्देश्य अपने आपको नीरोग रखना या रोगों को शात करना है।

22

वंदना एक-दूसरे के अधीन नहीं

वदना के नियमों पर बुद्ध की शिक्षा के अनुसार आचरण करना चाहिए। जो उपसपदा को प्राप्त हो चुका है, और जिसकी दीक्षा की तिथि पहले है वह अपने से छोटो की वदना का अधिकारी है। बुद्ध ने कहा था कि 'वंदना[1] के योग्य दो प्रकार के मनुष्य है, एक तो तथागत, दूसरे बडे भिक्षु'। जब छोटा बड़े को देखे तब चुपचाप सम्मान प्रकट करता हुआ 'वंदे' शब्द के साथ उसे प्रणाम करे; और बडा उस प्रणाम को स्वीकार करता हुआ, अपने हाथो को ठीक सामने करके, 'आरोग्य' कहे। यह शब्द इस बात का सूचक है कि कहनेवाला सबोधित व्यक्ति के लिए प्रार्थना करता है कि वह आरोग्य रहे। यदि वे ये शब्द न कहें तो दोषी ठहरते है। भारत के पाच

1 वदना के योग्य चार प्रकार के लोग गिनाए है—(i) तथागत, जिसका सम्मान सब करे, (ii) प्रव्रजित, जिसका साधारण भक्तजन वंदना करें; (iii) जिन भिक्षुओ को पहले उपसपदा मिल चुकी हे उनकी वदना पीछे से उपसपदा पानेवाले भिक्षु करें, (iv) जिन लोगो को उपसपदा मिल चुकी है उन्हे वे लोग प्रणाम करें, जिन्हे अभी वह नही मिली।

खडों के भिक्षुओं में ऐसा ही नियम है। फिर भी लोग प्राय. कहते हैं—'यदि वे इसके विपरीत आचरण करते हैं तो नियमों का पालन नही करते।' हा ! वे श्रेष्ठ शिक्षा को बहुत कम समझते और व्यक्तिगत भावो के समाने सिर झुका देते है, ओर प्रणाम करने या वदना करने के नियमो का पालन नही करते। वास्तव मे मनुष्य को इस बात पर बहुत ध्यान देना चाहिए।

23

गुरु और शिष्य का परस्पर बर्ताव

शिष्यो (सद्धिविहारिक) की शिक्षा (धर्म के) अभ्युदय के लिए एक महत्त्व की बात हे। यदि इसकी उपेक्षा की जायेगी तो धर्म का विनाश अवश्यम्भावी है। हमे अपने कर्तव्यों का बडे उद्योग से पालन करना चाहिए, और जाल के सदृश, जिसमे से पानी बह जाता है, (बहुत ज्यादा निरंकुश) न होना चाहिए।

विनय में कहा है—'प्रतिदिन तडके शिष्य, दातुन करके, अपने गुरु के पास आए और उसकी सेवा करने के अनंतर पवित्र प्रतिमा की पूजा और मदिर की परिक्रमा करे। तब अपने गुरु के पास वापस आकर वह, अपने चोले को ऊपर उठाकर, हाथ जोड़कर, (सिर के साथ पृथ्वी को) तीन बार स्पर्श करते हुए, भूमि पर घुटनो के वल बैठे रहकर, दडवत् करे। फिर सिर को झुकाए और हाथों को जोडे हुए वह गुरु से इन प्रकार पूछे—'मेरे उपाध्याय जी ध्यान दें', या 'मेरे आचार्य जी ध्यान दे;' 'मैं अब पूछता हू कि क्या मेरे उपाध्याय जी रात-भर अच्छे रहे है ? क्या उनका शरीर, मूलार्थतः, चार महातत्त्व पूर्णरूप से स्वस्थ रहे हैं ? क्या वे सुखपूर्वक ओर चुस्त है ? उन्हें भोजन भली-भाति पच जाता है न ? वे सवेरे के भोजन के लिए तैयार हैं न ?' ये प्रश्न अवस्थाओं के अनुसार छोटे या पूरे हो सकते हे। तब गुरु अपने स्वास्थ्य के सबंध के इन प्रश्नो का उत्तर देता है। फिर शिष्य पडोस की कोठरियों मे अपने से वड़ों को प्रणाम करने जाता है। तत्पश्चात् धर्म-ग्रंथ का कुछ भाग पढता है और जो कुछ उसने सीखा है उस पर विचार करता है। वह दिन पर दिन नया ज्ञान प्राप्त करता है और एक मिनट भी नष्ट किए बिना, मास पर मास, प्राचीन विषयो की खोज करता है।

साधारणतर अर्थात् प्रातःकाल के भोजन के समय तक प्रतीक्षा करके शिष्य को, अपनी भूख के अनुसार, भोजन करने की आज्ञा मागनी चाहिए। उषाकाल से

---

1 बुद्ध की शिक्षा के उल्लघन की चार बातें ये है—
(i) सूर्यादय से पहले खाना, (ii) उपाध्याय को न बताना कि मैं भोजन करने लगा हू, (iii) दातुन न करना, और (iv) कीड़ों के विषय में जल की परीक्षा न करना (काश्यप)।

पहले ही उतावली से चावलों का पानी पीने से क्या लाभ है ? जो इस प्रकार की उतावली करता है वह अपने गुरु को भी नही बताता, न दातुन करता है, और न कीडो के विषय मे पानी की परीक्षा करने के लिए उसके पास समय होता है। यहा तक कि वह स्नान और शारीरिक स्वच्छता भी नही कर सकता है। क्या ऐसे मनुष्य को यह ज्ञात नहीं कि वह बुद्ध की शिक्षा की चार बातों[1] का उल्लंघन करता है ? सब भूलें इन्ही से उत्पन्न होती है। मै प्रार्थना करता हू कि जिन लोगो पर धर्म की रक्षा का उत्तरदायित्व है, वे इन बातो की उचित रूप से व्यवस्था करें।

सिर मुडा लेने, पट (सादा कपडा) धारण कर लेने और प्रव्रजित होने के अनतर उपसपदा प्राप्त कर लेने पर मनुष्य को पाच बातें—जैसा कि विनय मे विधान है—अपने शिक्षको को बताने की आवश्यकता नहीं, परतु प्रकटनीय पाच बाते बता देनी चाहिए, अन्यथा वह दोषी ठहरेगा। प्रकट करनेवाली पाच बाते ये हैं—(1) दातुन करना, (2) जल पीना; (3) पाखाने जाना; (4) मूतना; (5) चैत्य-वंदन, अर्थात् पवित्र सीमा मे उनचास व्यामो के अंदर-अंदर चैत्य की पूजा करना। उदाहरणार्थ, जब नव छात्र भोजन करने लगे तब वह अपने उपाध्याय के पास जाकर नियमानुसार प्रणाम करे और इस प्रकार कहे—'मेरे उपाध्याय ध्यान दे, मैं अब आपको सूचना देता हूं कि मै हाथ और बर्तन धोता हूं और भोजन करना चाहता हूं।' उपाध्याय कहे, 'सावधान हो।' शेष सब घोषणाए इस उदाहरण के अनुसार करनी चाहिए। उपाध्याय तव शिष्य को बताता है कि घोषणा के विषय और समय के विषय मे क्या करना चाहिए। जब घोषणा के लिए अनेक बातें हों तब शिष्य सबकी घोषणा एकबारगी कर सकता है। विनय पर अधिकार हो जाने के बाद, 5 ग्रीष्म बीत जाने पर, शिष्य को अपने उपाध्याय से अलग रहने की आज्ञा मिल जाती है। तब वह लोगो मे घूम सकता है और किसी दूसरे लक्ष्य के पीछे जा सकता है। फिर भी जहां कहीं वह जाये, उसे किसी उपाध्याय की रक्षा में ही रहना चाहिए। यह बात 10 ग्रीष्मों के बीतने पर, अर्थात् उसके विनय को समझने मे समर्थ हो जाने के बाद, बंद हो जायेगी। महामुनि का सदय प्रयोजन मनुष्य को इस अवस्था पर लाना है। यदि भिक्षु विनय को नहीं समझता तो उसे आजन्म दूसरे की रक्षा मे रहना होगा। यदि कोई बडा उपाध्याय न हो तो उसे किसी छोटे उपाध्याय की देख-भाल मे रहना चाहिए। इस अवस्था मे शिष्य वदना के सिवा और सबकुछ करे, क्योकि वह सवेरे अपने उपाध्याय को प्रणाम नहीं कर सकता, और न उसके स्वास्थ्य का समाचार पूछ सकता है, क्योंकि उसे सदा विनय के अनुसार आचरण करना चाहिए, परतु विनय का उसे ज्ञान नही; और यदि किसी विषय की घोषणा करनी आवश्यक भी हो तो वह कैसे कर सकता है, जबकि वह स्वय रीति को नही समझता। कभी-कभी छोटा उपाध्याय सवेरे और साझ को उसे शिक्षा देता है। यद्यपि छोटा उपाध्याय ऐसे शिष्य को उपदेश

करता भी है तो भी हो सकता है कि विनय पुस्तक के अर्थ यथोचित रूप से उसकी समझ मे न आवें। क्योकि यदि प्रकट करनेवाला (अर्थात् शिष्य) अपनी बात को ठीक तौर पर नही बता सकता तो उत्तर देनेवाला (अर्थात् उपाध्याय) कैसे उचित आज्ञा दे सकता है। इसलिए पूरा-पूरा अंगीकार नहीं किया जाता। परतु असावधानी चिरकाल से स्वभाव बन गया है, सुगम मार्ग पर चलते हुए लोग धर्मानुकूल होने का कष्ट नही करते।

यदि हम बुद्ध की शिक्षा के अनुसार आचरण करे तो धर्म-परपरा कभी न रुकेगी। यदि उसके नियमो को तुच्छ समझा जायेगा तो फिर कौन-सी दूसरी बात भारी हो सकती है ? इसलिए, विनय-ग्रंथ मे कहा है—जो भिक्षु दूसरो को उपसपदा देकर बिना पढाए छोड देता है उसकी अपेक्षा तो बूचड होना अच्छा है।

भारत मे शिष्य-द्वारा गुरु की सेवा की जाने की एक दूसरी रीति आगे दी जाती है। वह अपने उपाध्याय के पास रात को पहले प्रहर में और अंतिम प्रहर मे जाता है। पहले उपाध्याय उसे आराम से बैठ जाने को कहता है। त्रिपिटको मे से (कुछ वचन चुनकर) वह अवस्थाओं के योग्य रीति से उसे पाठ पढाता है, और किसी भी बात या सिद्धांत को बिना व्याख्या किए नहीं जाने देता। वह अपने शिष्य के नैतिक आचरण की देख-भाल करता, और उसके दोषो और अतिक्रमो की चेतावनी उसे देता रहता है। जब कभी वह अपने शिष्य को अपराधी देखता है, उसे उसके उपाय ढूंढ़ने और पश्चात्ताप करने पर विवश करता है। शिष्य उपाध्याय के शरीर को मलता, उसके वस्त्रो की तह करता है और कभी-कभी कोठरी और आगन में झाड़ू देता है। तब जल की परीक्षा करके कि उसमे कहीं कीड़े तो नही है, वह उपाध्याय को देता है। इस प्रकार, यदि कोई काम करने को हो तो वह अपने उपाध्याय के लिए सब करता है। अपने से बडे की पूजा की ऐसी ही विधि है। इसके विपरीत, शिष्य के रुग्ण होने की अवस्था में उपाध्याय स्वयं उसकी सेवा-शुश्रूषा करता है, सभी आवश्यकीय औषधियां लाकर उसे देता है और उसका ध्यान रखता है, मानो वह उसका अपना बच्चा है।

बुद्ध के धर्म के सारभूत सिद्धातों में, शिक्षा और उपदेश सबसे आगे और पहले समझे जाते हैं। ठीक जिस प्रकार चक्रवर्ती राजा अपने सबसे बड़े पुत्र का रक्षण और शिक्षण बडी सावधानी से करता है, उसी सावधानी से शिष्य को धर्म की शिक्षा दी जाती है। विनय मे बुद्ध की स्पष्ट आज्ञा है; क्या हमे इस बात को तुच्छ समझना चाहिए ?

अब रही उपर्युक्त चैत्यवंदन की बात। जब गुरुदेव, जगत्पूज्य, निर्वाण को प्राप्त हुए, और मनुष्य और देवता उनके शव को अग्नि में भस्म करने के लिए एकत्र हुए, तब लोग वहां सब प्रकार की सुगधियां लाए—यहां तक कि उन्होने

वहा एक बडा ढेर लगा दिया, जो कि चिति, अर्थात् ढर कहलाता था। पीछे से इसी से निकला हुआ चैत्य का नाम है। परतु इस शब्द के और भी समाधान हैं--एक तो यह कि जगत्पूज्य के सभी सद्गुण यहा इकट्ठे रखे हुए (सचित या चित) समझे जाते है; दूसरे, यह मिट्टी या ईटों का ढेर लगाने से वनता है। इस प्रकार इस शब्द के अर्थ स्पष्ट चले आ रहे है। इसका दूसरा नाम स्तूप है, जिसके अर्थ वही हैं जो कि चैत्य के।

ऐसे नाम जैसा कि शजू (अर्थात् महायान मे 'भली-भाति प्रविष्ट') आरभ मे अर्थ रखते थे, और सात्त्विक कर्म के कारण दिए जाते थे। जब हम चैत्यवदन के लिए बाहर जाने को होते है; और लोग हमसे पूछते हैं कि कहा जा रहे हो, तब हम उत्तर देते है--'हम अमुक-अमुक स्थान को चैत्य-वंदन के लिए जा रहे है।' प्रणाम या वंदन का अर्थ अपने ज्येष्ठो का सम्मान करना और नम्र रहना हे। जब भिक्षु वंदन अथवा किसी बात की घोषणा करने लगे, तब पहले उसे अपने चॉले को ठीक कर लेना और इसे (दायें हाथ से) बाये पार्श्व की ओर दबाकर, बाये कधे पर इकट्ठा कर लेना चाहिए, जिससे यह शरीर के साथ खूब कसकर लगा रहे। अब बायां हाथ नीचे की ओर फैलाकर भिक्षु अंतरीय के बायें भाग को पकड ले, और उसका दायां हाथ साये के पकडे हुए भाग के पीछे जाये और साये के नीचतम भाग के साथ चीवर को इस प्रकार तह (या दुहरा) करे कि इससे घुटने भली-भांति ढंक जायें; इस क्रिया में भिक्षु अपने शरीर का कोई भी भाग दिखने न दे। साये का पिछला भाग चटपट शरीर से लग जाये। उत्तरीय और अंतरीय को इस प्रकार ऊपर को उठाए कि वे भूमि से स्पर्श न करे। दोनों एडियां इकट्ठी रखी जायें, ग्रीवा और पीठ एकसम हों, भूमि पर दसों उंगलियो को एकसम रखकर अब उसे सिर नवाना चाहिए। घुटनों के नीचे ढाकने के लिए कोई भी वस्तु न होनी चाहिए। तब भिक्षु को अपने जोड़े हुए हाथ आगे बढ़ाने चाहिए और पृथ्वी पर फिर सिर टेकना चाहिए। इस प्रकार वह सावधानी से तीन बार प्रणाम करे। परतु साधारण वंदन मे एक ही बार पर्याप्त होगा। मध्य में खडे हो जाने की कोई रीति नहीं है। भारतीय लोग जब किसी को खडे होकर तीन बार वदन करते देखते हैं तब वे इसे बडा विचित्र समझते हैं। यदि किसी को डर हो कि (वंदन के पश्चात्) माथे पर धूल लगी होगी तो वह पहले इसे मले और फिर पोछ डाले। फिर पिंडली की हड्डी पर से धूल पोछनी चाहिए; और कपड़ों को ठीक करके भिक्षु कमरे के एक कोने में बैठ जाये, या थोड़ी देर खड़ा रहे। शेषोक्त अवस्था में पूज्यदेव उसे आसन देगा। जिस समय मनुष्य को किसी अपराध के लिए झिड़का जा रहा हो, वह सारा समय बराबर खड़ा रहे। जब हमारा बुद्ध भूलोक मे था उस समय से ऐसी परंपरागत रीति गुरु से शिष्य को, बिना रोक-टोक के, मिलती चली आ रही

है। यह सूत्रो और विनय मे भी मिलती है; यह प्रायः कहा जाता है कि मनुष्य बुद्ध के पास जाकर उसके दोनो पावों को छूता है, और कमरे के एक कोने मे बेठ जाता है। परंतु हमने बैठने की चटाई का व्यवहार कभी नहीं सुना। तीन बार दडवत् करने के बाद, मनुष्य एक कोने मे खडा हो जाता है—बुद्ध की शिक्षा ऐसी ही हे। पूज्य स्थविरो की कोठरियो में अनेक आसन होते है, और जो लोग भीतर आए उन्हें उचित रीति के अनुसार बैठ जाना चाहिए। वैठ जाने पर मनुष्य के पेर भूमि से छूते है; परतु सुखपूर्वक बैठने की कोई रीति नहीं। विनय मे यह बार-बार कहा गया है कि मनुष्य को पहले 'उकड़ू बैठना' अर्थात् दोनो पैरो को भूमि पर और दोनो घुटनो को सीधा रखना चाहिए और कपडों को शरीर के गिर्द कस रखना चाहिए, जिससे वे पृथ्वी से न लगें। पवित्र विषयो (धार्मिक) के संबंध मे वर्णन करते हुए, कपडो की रक्षा के लिए यह एक साधारण नियम है। इसी नियम का पालन वह मनुष्य करता है जो किसी व्यक्ति के सामने अपने पापों का अंगीकार करता है, या जो एक बड़ी सभा का पादवदन करता है, या जो दोषी ठहराये जाने पर क्षमा के लिए प्रार्थना करता है, या उपसपदा के अनंतर सघ को प्रणाम करता है।

मदिर (गंधकुटी) की ओर देखते और स्तुति करते समय एक दूसरा आसान ग्रहण किया जाता है, वह है भूमि पर दोनो घुटने टेककर, हाथ जोडे हुए प्रणाम और पूजन करना। परतु खाट पर बैठे-बैठे वंदन या पूजन करने की रीति (चीन के सिवा) और किसी देश मे नहीं। हम (वंदन के समय) ऊनी चटाई के प्रयोग की रीति भी नही देखते है। क्या दूसरों को प्रणाम करते समय उपर्युक्त प्रकार की गर्वित अवस्था धारण करना युक्ति-संगत है ? यहां तक कि एक साधारण सामाजिक सभा मे भी मनुष्य पलग अथवा चटाई पर बैठकर उचित सम्मान नहीं किया करता। फिर पूज्य उपाध्याय, अथवा महामुनि की वंदना के समय यह रूप और भी कितना कम उचित है ! भारतीय व्याख्यान-भवनो और भोजनशालाओं में कभी बडे-बडे पलग नहीं रहते, किंतु केवल लकड़ी की पटरियां और छोटी कुरसियां होती है, जिन पर व्याख्यान सुनते अथवा भोजन करते समय लोग बैठते है। यही उचित रीति है।

24

अपरिचितों अथवा मित्रों के प्रति व्यवहार

जिन दिनों गुरुदेव (बुद्ध) जीते थे, धर्म के अधिपति होते हुए वे स्वयं किसी अपरिचित भिक्षु के आगमन पर उससे 'स्वागत' कहा करते थे। यद्यपि भारतीय भिक्षुओ ने

---

1 इसका अर्थ यह भी हो सकता है; "तब ज्यो ही स्वागत बोला जाता है, अतिथि (उत्तर मे) 'सुस्वागत' कहता है।"

(अपने मित्रा क स्वागत के लिए) अनक विधियां बना रखी हैं, पर व्यापक नियम यह है कि जब कोई किसी को (विहार की ओर) आते देखता है,--चाहे वह अपरिचित हो, मित्र हो, चेला हो, शिष्य हो या परिचित--तब उससे 'स्वागत', जिसका अनुवाद 'स्वतिस्त'[1] किया गया है, कहने के लिए आगे जाता है। परंतु यदि वह आगलुक को अपरिचित पाता है तो 'सुस्वागत', जिसका अनुवाद 'बहुत वहुत स्वस्ति हे, कहता है। यदि मनुष्य यह नही कहता तो एक ओर नो वह विहार की रीति को छोडता है, और दूसरी ओर विनय के अनुसार दोषी होता है। नवागत (आश्रमपति से) बडा या छोटा, इस बात की पूछ-ताछ किए बिना सदा ऐसा ही किया जाता है और सदा यही अवस्था होती है कि जब कोई मनुष्य आता है, आश्रमपति आगंतुक से उसकी पानी की ठिलिया और भिक्षापात्र लेकर दीवार पर कील से लटका देता है, और नवागत को, यदि वह नवशिष्य हो तो एक एकात स्थान मे, और यदि वह पूजनीय अतिथि हो तो सामने की कोठरी में, सुख-पूर्वक बैठाकर विश्राम करने को कहता है। यदि आश्रमपति अभ्यागत से छोटा हो, तो वह अपने बडे के सम्मान मे, अभ्यागत की पिंडलियो को पकड लेता और उसके शरीर के सारे अंगों को सहराता है, और यदि आश्रमपति बड़ा हो, तो वह उसे ठंडा करने के लिए, उसकी पीठ को सहराता है, परतु इतना नीचे तक नहीं कि उसकी कमर और उसके पैरो तक पहुंच जाये। और यदि दोनों आयु में समान हों तो कोई भेद नही रखा जाता।

जब (नवागत की) थकावट उतर जाती है तब वह हाथ-पैर धोकर उस स्थान पर जाता है जहां कि उसका ज्येष्ठ होता है, और भूमिगत होकर एक बार उसे दंडवत् करता; और घुटनों के बल बैठे हुए, वह अपने से श्रेष्ठ के पैरो को पकडता है। वह श्रेष्ठ, अपने दायें हाथ को बढ़ाकर अपने से छोटे भिक्षु के कंधे और पीठ को सहराता है--परंतु यदि उन्हें बिछुड़े बहुत देर नहीं हुई तो उसे अपने हाथ से नही सहराता। जब उपाध्याय उसका कुशल-समाचार पूछता है, और शिष्य बताता है कि मैं कैसा हूं। तब शिष्य एक ओर हट जाता, और उचित सम्मान के साथ बैठ जाता है। भारत में साधारण नियम लकड़ी के एक छोटे से पटरे पर बैठने का है, और सब लोग पैर नगे रखते हैं।

सूत्रों में बार-बार कहा गया है कि मनुष्य और देवता बुद्ध के पास आते थे, अपने सिर झुकाकर उसके दोनों पैरो पर रख देते थे, तब हटकर एक ओर बैठ जाते थे। यह ऐसी रीति है जैसी कि मै अब वर्णन कर रहा हूं। तब आश्रमपति, वर्ष की ऋतु का विचार करके, गरम पानी अथवा कोई दूसरा पेय आगे रखे।

घृत, मधु, चीनी अथवा कोई और खाद्य और पेय पदार्थ, मनुष्य की इच्छानुसार दिए जा सकते हैं। जिन आठ प्रकार के शरबतो (पानों) की बुद्ध ने आज्ञा दी है यदि यह उनमें से एक हो तो देने से पूर्व इसे छानन और साफ कर लेना आवश्यक

है। यदि यह तलछट से गाढ़ा हो रहा है तो बुद्ध ने इसकी कभी आज्ञा नही दी।

धीरे-धीरे राधी हुई खुबानी का रस, स्वभावत ही, गाढा होता है, और हम इसे शास्त्रविहित पानों से युक्तिपूर्वक बाहर समझ सकते है। विनय मे यह कहा है—'आसव को स्वच्छ रीति से छानना चाहिए, यहा तक कि इसका रंग नरकट के पीले पत्ते के सदृश हो जाये।'

अभ्यागतों के स्वागत की प्रक्रियाए ऐसी ही है, चाहे वे उपाध्याय हों चाहे शिष्य हों, चेले हों, अपरिचित हों या मित्र हों। दूसरे के द्वार पर पहुंचते ही, अपने कपडो और टोपी का ध्यान रखे बिना, शीत का सामना करते हुए या गरमी सहते हुए,—जिससे या तो हाथ और पैर सुन्न हो रहे होगे या सारा शरीर पसीने से लथपथ हो रहा होगा—जल्दी मे होनन (नीचे देखिए) कहना ठीक नहीं। जल्दी की ऐसी पद्धति नियम के बहुत विरुद्ध है।

जिस समय शिष्य धर्म के सिवा किसी और विषय पर व्यर्थ बातें कर रहा हो उस समय उसे एक ओर न बैठाकर खडे रहने देना उपाध्याय की भूल है। वास्तव मे, क्या ऐसा मनुष्य धर्म की उन्नति की भारी आवश्यकता समझता है ?

सडक पर या जमघट में उपर्युक्त वंदन उचित नहीं। परंतु मनुष्य को चाहिए कि हाथों को जोडकर आगे बढा दे, और सिर को झुकाकर मुह से पति (वंदे) कहे। इसलिए एक सूत्र में कहा है—'या मनुष्य केवल हाथ जोडकर आगे कर देता है, ...और सिर को थोड़ा-सा नीचे झुका देता है।' यह भी वदन करने की रीति है।

25

शारीरिक रोग के लक्षणों पर

जैसा कि मैं पहले कह चुका हू, मनुष्य को अपनी क्षुधा के अनुसार थोडा भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य की भूख अच्छी हो तो साधारण भोजन करना चाहिए। यदि मनुष्य अस्वस्थ हो, तो कारण ढूंढ़ना चाहिए, जब रोग का कारण मालूम हो जाये तब विश्राम करना चाहिए। नीरोग होने पर मनुष्य को भूख लगेगी, उस समय उसे हलका भोजन करना चाहिए। उषा-काल प्रायः 'कफ का समय' कहलाता है, जबकि रात के भोजन का रस, अभी बिखरा न होने के कारण, छाती के गिर्द लटक रहा होता है। इस समय खाया हुआ कोई भी भोजन अनुकूल नहीं बैठता।

उदाहरणार्थ, यदि मनुष्य उस समय ईधन डालता है जबकि आग पहले से भडक रही है, तो यह डाला हुआ ईधन जल जायेगा, परंतु यदि मनुष्य उस आग पर घास डाल देता है जो अभी भभक नहीं रही है, तब घास वैसी की वैसी पडी रहेगी, और आग जलेगी तक नहीं।

साधारण भोजन के अतिरिक्त हलके भोजनों की आज्ञा बुद्ध ने दी है, चाहे चावलों का पानी हो या चावल हो, भोजन अपनी भूख के अनुसार करना चाहिए।

धर्म का पालन करते हुए यदि कोई केवल चावलों के पानी पर निर्वाह कर सके, तो और कोई वस्तु नही खानी चाहिए, परतु यदि मनुष्य को शरीर के पोषण के लिए चावल की रोटियो की आवश्यकता हो तो उनके खाने मे उसे कोई दोष नही। जब मनुष्य के सिर मे पीडा होती है और वह शैया पर लेट जाता है तब यह न केवल रोग ही कहलाता है, वरन् जब खाने से मनुष्य को दु:ख होता है तब रोग का कारण भी उत्पन्न हो जाता है। जब औषधि से रोग की शाति न हुई हो तब वैद्य की आज्ञा से किसी भी अनिर्दिष्ट समय मे भोजन किया जा सकता है। बुद्ध कहता था कि 'ऐसी दशा में भोजन किसी एकात स्थान में देना चाहिए।' अन्यथा अनुचित समय मे भोजन का निषेध है। आयुर्वेद, जो कि भारत की पाच विद्याओं में एक है, बतलाता है कि वैद्य, रोगी के कठस्वर और मुखमडल को देखने के अनतर चिकित्साशास्त्र के आठ प्रकरणों के अनुसार उसके लिए उपचार करता है।

यदि यह इस विद्या के मर्म को नही समझता, तो उचित रीति से करने की इच्छा रखते हुए भी, भूलें कर बैठेगा। चिकित्साशास्त्र के आठ प्रकरण[1] ये है—पहले मे, सब प्रकार के व्रणों का वर्णन है; दूसरे मे, गले से ऊपर प्रत्येक रोग के लिए शस्त्रक्रिया से इलाज करने का; तीसरे मे, शरीर के रोगो का; चौथे में, भूतावेश का; पाचवें में, अगद औषधि (अर्थात्, प्रतिविष) का; छठे में, बालकों के रोगो का; सातवे मे, आयु को बढ़ाने के उपायों का; आठवें मे, शरीर और टांगो को पुष्ट करने की रीतियों का वर्णन है। (1) व्रण दो प्रकार के हैं, भीतरी और बाहरी; (2) गले के ऊपर का रोग सारा वही है जो सिर और मुख पर होता है, (3) कठ के नीचे का प्रत्येक रोग 'शारीरिक' रोग कहलाता है, (4) 'भूतावेश' आसुरी आत्माओ का आक्रमण है, और (5) 'अगद' विषों के प्रतीकार के लिए औषधि हैं; (6) 'बालकों' परतु आयुर्वेद के 5 से तात्पर्य भ्रूणावस्था से लेकर लडके के सोलहवें वर्ष के बाद तक है, (7) 'आयु को बढ़ाना' शरीर को बचाना है जिससे वह चिरकाल तक जीवित रहे, और (8) 'शरीर और टांगों को पुष्ट करने' का अर्थ शरीर और अवयवों को दृढ और नीरोग रखना है। ये आठ कला मे पूर्व काल मे आठ पुस्तको में थीं; परतु पीछे से एक मनुष्य ने उन्हें संक्षिप्त करके एक गट्ठा बना दिया। भारत के पाच खडों के सभी वैद्य इस पुस्तक के अनुसार उपचार करते है, और इसमें भली-भाति निपुण प्रत्येक वैद्य को अवश्य ही सरकारी वेतन मिलने लगता है। इसलिए भारतीय

---

1 ये आयुर्वेद के आठ विभागों से पूर्णतः मिलते है।

जनता वैद्यो का बडा सम्मान और व्यापारियो का बहुत आदर करती है, क्योकि वे जीव-हिसा नहीं करते, और वे दूसरों का उद्धार और साथ ही अपना उपकार करते हे। मेंने भैषज विद्या का भली-भाति अध्ययन किया था, परन्तु मेरा यह उचित व्यवसाय न होने के कारण मैने अत को इसे छोड दिया है।

साधारणतः जो रोग शरीर मे होता है वह बहुत अधिक खाने से होता हे, परतु कभी-कभी यह अति परिश्रम, या पहला भोजन पचने के पूर्व ही दुबारा खा[1] लेने से उत्पन्न हो जाता है; जब रोग इस प्रकार उत्पन्न होता है तब इसका परिणाम विषूचिका होता है, जिसके कारण मनुष्य को कई रातो तक लगातार पीड़ा-बुद्धि से दु ख उठाना पड़ता है।

वास्तव मे, ऐसे परिणामस्वरूप होनेवाले रोग के कारण को न जानने और औषध करने (मूलार्थत , शांत करने और रक्षा करने) की विधि को न समझने से पैदा होने है। कहा जा सकता है कि लोग बिना हेतु के जाने रोगमुक्त होने की आशा करते है, ठीक उन लोगो के सदृश, जो जलधारा को बंद करने की इच्छा रखते हुए, इसके सोते पर बांध नहीं बाधते; या उन लोगों के सदृश जो वन को काट डालने की कामना करते हुए, वृक्षों को उनकी जडो से नही गिराते, किंतु धारा या कोंपलो को अधिक-से-अधिक बढने देते है।

क्या यह खेद की बात नही है कि रोग मनुष्य को उसका कर्तव्य और व्यवसाय करने से रोक देता है ? मनुष्य के लिए अपने गौरव तथा प्रसाद को खो बैठना वास्तव मे कोई छोटी बात नही, इसलिए मैं उपर्युक्त बातों का वर्णन कर रहा हू जिन्हें मुझे आशा है कि पाठक एक सुदीर्घ पुनरावृत्ति बताकर आपत्ति नही करेगे। मै चाहता हूं कि एक पुराना रोग बहुत-सी औषधियां खर्च किए बिना ही शात हो जाय और नया रोग रुक जाय, और इस प्रकार वैद्य को आवश्यकता न हो;—तब शरीर (अर्थात् चार भूतो) की स्वस्थ अवस्था और रोग के अभाव की आशा की जा सकती है। यदि लोग, चिकित्सा-शास्त्र के अध्ययन से दूसरो का तथा अपना हित कर सकें तो क्या यह उपकार की बात नही है ?

परंतु विष खाना, या मृत्यु और जन्म, प्राय- मनुष्य के पूर्व कर्म का फल होता है; फिर भी इसका यह तात्पर्य नही कि मनुष्य उस दशा को दूर करने या बढाने से सकोच करे जो वर्तमान जीवन में रोग को उत्पन्न करती या उसे हटाती है।

---

1 मूलार्थत —'रात का भोजन पचने के पहले सवेरे का भोजन, और सबेरे का भोजन पच जाने से पहले दोपहर का भोजन करने से।'

26

ओषधि देने के नियम

पत्येक प्राणी चार महाभूतो के शात कार्य अथवा दोष के अधीन है। आठ ऋतुओ के एक-दूसरे के बाद आने से, शारीरिक दशा मे विकास और परिवर्तन कभी बद नहीं होता। जब किसी को कोई रोग हो जाय, तत्काल विश्राम और रक्षा करनी चाहिए।

इसलिए लोकज्येष्ठ (बुद्ध) ने स्वय चिकित्सा-शास्त्र पर एक सूत्र का उपदेश दिया था, जिसमे उन्होने कहा था—'चार महाभूतो के स्वास्थ्य (शब्दार्थ, परिमितता) का दोष इस प्रकार है—

1. पृथ्वी-तत्त्व के बढने से, शरीर को आलसी और भारी बनाना।

2. जल-तत्त्व के इकट्ठा हो जाने से, आंख मे मैल या मुह मे राल का बहुत अधिक होना।

3. अग्नि-तत्त्व से उत्पन्न हुए अतिप्रबल ताप के कारण सिर और छाती का ज्वरग्रस्त होना।

4. वायु-तत्त्व के जगम प्रभाव के कारण श्वास का प्रचंड वेग।'

रोग का कारण मालूम करने के लिए प्रातःकाल अपनी जाच करनी चाहिए। यदि जांच करने पर चार महाभूतो में कोई दोष जान पडे, तब सबसे पहले उपवास करना चाहिए। भारी प्यास लगने पर भी शरबत या जल न पीना चाहिए, क्योकि इस विधा मे इसका सबसे कड़ा निषेध है। इस उपवास को, कभी-कभी एक-दो दिन तक, कभी-कभी चार-पांच दिन तक जारी रखना होता है, जब तक कि रोग बिलकुल शांत न हो जाय। रोग की निवृत्ति अवश्य ही हो जायेगी। यदि मनुष्य यह अनुभव करे कि आमाशय में कुछ भोजन रह गया है, तो उसे पेट को नाभि पर से दबाना या सहराना, जितना अधिक हो सके गरम जल पीना, और वमन लाने के लिए कठ मे उगली डालना चाहिए; जब तक भोजन का अवशिष्टांश बिलकुल न निकल जाये, पानी का पीना और फिर वमन-द्वारा निकालना जारी रखना चाहिए।

यदि मनुष्य ठडा जल पीवे तो कोई हानि नहीं, और गरम जल मे सोंठ मिलाकर पीना भी बहुत अच्छा है। कम-से-कम, उपचार आरंभ करने के दिन रोगी को अवश्य उपवास करना चाहिए, और पहली बार भोजन दूसरे दिन सवेरे खाना चाहिए। यदि यह कठिन हो तो अवस्था के अनुसार और उपाय करना चाहिए। प्रचंड ज्वर की दशा में, जल द्वारा ठंडक पहुंचाने का निषेध है, 'डूबते हुए भारीपन' (1) और 'कांपनेवाली सरदी' की अवस्था मे सबसे उत्तम इलाज आग के निकट रहना है, परंतु (यङ-त्सजे) नदी और (बेर) गिरिमाला के दक्षिण मे अवस्थित गरम और गीले

स्थानो मे इस नियम का प्रयोग नहीं होना चाहिए। इन प्रातो मे जब ज्वर होता है तब जल से ठडा करना गुणकारी होता है। जब वायु का दबाव हो रहा हो, तब सबसे उत्तम उपाय घायल और पीडायुक्त स्थान पर तेल मलना, और उसे गरम किए हुए बिछौने पर गरम करना है। यदि मनुष्य उस पर गरम तेल मले तो भी अच्छा परिणाम होता है। कभी-कभी हम देखते है कि लगभग दस दिन तक कफ कठ मे भरा रहता है, मुह और नाक से लगातार पानी बहता है, और इकट्ठा हुआ श्वास, वायु की नली में बद होने के कारण कठ में तीव्र पीडा उत्पन्न करता है। ऐसी अवस्था में, वाणी के अभाव से, बोलना कठिन होता है, और सब भोजन स्वादहीन हो जाते है।

उपवास एक बडी गुणकारी चिकित्सा है। यह भेषज-विद्या के साधारण नियम, अर्थात् बिना किसी क्वाथ या अन्य ओषधि के प्रयोग के चगा करने के अनुसार है। कारण है कि जब आमाशय खाली होता है तब प्रचड ज्वर कम हो जाता है, जब भोजन का रस सोख जाता है तब श्लेष्मल रोग निवृत्त हो जाता है, और जब भीतरी इंद्रिया विश्राम में होती हैं और बुरा सास बिखर जाता है तब कडी ठड स्वभावत ही दूर हो जाती है। यदि इस रीति का अवलब किया जाय तो अवश्य ही रोग-शाति हो जाती है।

उपवास सरल और अद्भुत औषधि है, क्योकि निर्धन और धनवान् दोनो समान रूप से इसका अनुष्ठान कर सकते है। क्या यह महत्त्व की बात नही है ?

शेष सब रोगो मे—जैसा कि मुंहासा या किसी छोटे फोड़े का सहसा निकल आना, रक्त के अकस्मात् वेग से ज्वर का होना; हाथों और पैरों मे प्रचंड पीडा, आकाश के विकारो (जैसा कि बिजली), वायु-गुण, या खग तथा बाण से शरीर की हानि; गिर पडने से घाव हो जाना; तीव्र ज्वर या विषूचिका, आधे दिन की सग्रहणी, सिर-पीड़ा, हृदयव्याधि, नेत्र-रोग या दत-पीडा—भोजन से बचना चाहिए। हरीतक (या, की) की छाल, सोठ और चीनी लो, और तीनों को समान मात्रा में तैयार करो, पहली दो को पीसकर जल की कुछ बूदो से चीनी के साथ मिलाओ, और फिर गोलिया बना लो। प्रतिदिन सवेरे अधिक-से-अधिक कोई दस गोलिया एक मात्रा मे खाई जा सकती हैं, और भोजन का प्रयोजन बिलकुल नहीं रहता। अतिसार की दशा में, नीरोग होने के लिए कोई दो-तीन मात्राए पर्याप्त है। इस गोली से बहुत बडा लाभ होता है, क्योंकि यह रोगी को सिर के घूमने, ठड और अजीर्ण से मुक्त कर देती है, इसीलिए मैं यहां इसका उल्लेख कर रहा हूं। यदि चीनी न हो तो लसलसी मिठाई या मधु से काम चल जाता है। यदि कोई मनुष्य प्रतिदिन हरीतक का टुकड़ा दांतो से काटे और उसका रस निगले तो जीवन-पर्यत उसे कोई रोग न होगा। ये बाते, जिनसे भेषज-विद्या बनी है, शक्र देवेद्र से भारत को पांच विद्याओ

मे से एक के रूप में चली आ रही है और उस देश के पाचो भागो के लाग इसी पर चलते है। इसमे सबसे महत्त्व का नियम उपवास है।

विषो, जैसे कि साप के काटे की चिकित्सा उपर्युक्त रीति से नही करनी चाहिए। उपवास की अवस्था मे, घूमना और काम करना बिलकुल छोड़ देना चाहिए।

जो मनुष्य लबी यात्रा कर रहा है, उसे उपवास मे चलने से कोई हानि नही परतु जिस रोग के लिए वह उपवास कर रहा हो, वह जब निवृत्त हो जाये, तब उसे अवश्य विश्राम करना चाहिए, और ताज़ा उबला हुआ भात खाना और भली-भाति उबला हुआ कुछ मसूर का जल किसी मसाले के साथ मिलाकर पीना चाहिए। यदि कुछ ठड मालूम हो तो शेषोक्त जल को कुछ काली मिर्च, अदरक या पिप्पली के साथ पीना चाहिए। यदि जुकाम मालूम हो तो काशगरी प्याज (पलाडु) या जगली राई लगानी चाहिए।

चिकित्सा-शास्त्र मे कहा है—'सोठ के सिवा चरपरे या गरम स्वाद की कोई भी चीज सर्दी को दूर कर देती है।' परतु यदि दूसरी चीजो को साथ मे मिला लिया जाये तो भी अच्छा है। जितने दिन उपवास किया हो उतने दिन शरीर को शात रखना और विश्राम देना चाहिए। ठडा जल नही पीना चाहिए, दूसरे भोजन वैद्य के परामर्शानुसार करने चाहिए। यदि चावलो का पानी पिया जायेगा तो कफ के बढ़ने का डर रहेगा। ठड के रोग में खाने से कुछ हानि न होगी; ज्वर के लिए वैद्यक का क्वाथ वह है जो कडवे गिंसेग (Aralia quinquefolia की जड) को भली-भाति उबालने से तैयार होता है।

चाय भी अच्छी है। मुझे अपनी जन्म-भूमि को छोडे बीस से अधिक वर्ष बीत चुके है, और केवल यह और गिन्सेग का क्वाथ ही मेरे शरीर की ओषधि रही है और मुझे कदाचित् ही कभी कोई घोर रोग हुआ है।

पश्चिमी भारत के लाट[1] देश में, जो लोग रोगग्रस्त होते हैं, वे कभी-कभी आधा मास और कभी-कभी पूरा मास उपवास करते है। जब तक वह रोग, जिससे वे कष्ट पा रहे हैं, पूर्णरूप से शांत नहीं हो जाता तब तक वे कभी भोजन नही करते। मध्य भारत मे उपवास की दीर्घतम अवधि एक सप्ताह है, जबकि दक्षिणी सागर के द्वीपो मे दो अथवा तीन दिन है। इसका कारण प्रदेश, रीति और शरीर की रचना के भेद हैं।

(भारत मे) लोग किसी प्रकार का प्याज नहीं खाते। मेरा मन ललचा जाता था और मै उसे कभी-कभी खा लेता था, परंतु धार्मिक उपवास करते समय वह

---

1 बृहत्संहिता 69, 11 मे मालव, भरोएच, सूरत (सुराष्ट्र), लाट और सिधु का उल्लेख एक ही समूह मे है।

दु ख देता और पेट को हानि पहुचाता है। इसके अतिरिक्त यह नेत्र-दृष्टि का खराब करता, रोग को वढाता और शरीर को दुर्बल करता जाता है। इसी कारण भारतीय जनता उसे नही खाती। वुद्धिमान् मेरी बात पर ध्यान दे और जो बात सदोप है उसे छोडकर जो उपयोगी है उसका अनुष्ठान करे, क्योंकि यदि कोई व्यक्ति वैद्य के उपदेशानुसार आचरण नहीं करता तो इसमे वैद्य का कोई दोष नहीं।

यदि उपर्युक्त पद्धति के अनुसार अनुष्ठान किया जाये तो इससे शरीर को सुख और धर्म-कार्य की पूर्णता प्राप्त होगी, और इस प्रकार अपना और दूसरा का उपकार होगा। यदि इस रीति को अस्वीकृत किया जायेगा तो इसका परिणाम दुर्बल शरीर और सकुचित ज्ञान होगा, और दूसरो की तथा अपनी सफलता सर्वथा नष्ट हो जायेगी।

27

पूजा में दायीं ओर को फिरना

'दायीं ओर को घूमना' संस्कृत मे प्रदक्षिणा कहलाता हे। उपसर्ग 'प्र' के अनेक अर्थ है, और अब, इस शब्द के अश के रूप मे, यह 'गिर्द घूमना' प्रकट करता हे। दक्षिण का अर्थ है 'दाया', और यह प्रायः प्रत्येक पूज्य और उचित बात को बतलाता है। इसलिए वे (भरतीय लोग) दायें हाथ को दक्षिण कहते है, जिससे सूचित यह होता है कि दाये के पीछे चलना उचित और सम्मानयुक्त है। इसलिए यह प्रदक्षिणा की प्रक्रिया के योग्य है। दक्षिणा का (स्त्रीलिंग संज्ञा के रूप मे) अर्थ 'दान' भी है। भारत के पाचो खडो मे सर्वत्र सब लोग पूर्व को 'सामने' और दक्षिण को 'दाया' कहते है, यद्यपि मनुष्य इसी रीति से दाया और बाया नही कह सकता (अर्थात्, उत्तर के लिए बाया नहीं कहा जा सकता)। हम सूत्रो में यह पद पढ़ते हैं—'तीन बार प्रदक्षिणा करना[1]', परंतु इसका अनुवाद केवल 'बुद्ध के पार्श्व के गिर्द घूमना' करना अशुद्ध है। सूत्रों मे यह पद—'दायी ओर को तीन बार गिर्द-गिर्द घूमना', प्रदक्षिणा की पूरी व्याख्या है, और एक दूसरा सक्षिप्त वर्णन भी है—'दायीं ओर' को न कहकर, 'लाख बार गिर्द घूमना'।

परतु दायीं ओर को या बाई ओर को चलना क्या है, इसका निश्चय करना कुछ कठिन होगा। यदि मनुष्य अपने दायें हाथ की ओर चलता है, तो क्या यह दायी ओर को चलना है ? अथवा क्या यह अपने बायें हाथ की ओर को चलना है ? एक बार मैंने चीन में एक विद्वान् का समाधान सुना था, कि 'बायीं ओर

1 अर्थात् महापरिनिब्बान, अ 6,46, पदक्खिणम् कत्वा।

को 'र्द गिर्द घूमने' का अर्थ यह है कि मनुष्य अपना दाया हाथ (उस चक्र के भीतर रखे (जो कि यह बनाता है[1]), और 'बायी ओर को इर्द-गिर्द घूमने' का अर्थ है अपना बाया हाथ उस चक्र के भीतर रखना, और इसलिए, वास्तव मे, जब मनुष्य अपने बाये हाथ की ओर इर्द-गिर्द घूमता है, तब 'प्रदक्षिणा' हो जाती है। यह केवल उस विद्वान् की सम्मति है, और बिलकुल ठीक नहीं है। इसने अनजानो को उचित विधि के विषय मे हैरान कर दिया है, और कुछ प्रसिद्ध लोगों को भी, जो अत्यनुरोध से इससे सहमत हो गए हैं, भटका दिया है। अब केवल सिद्धातों से अनुमान करके, हम इस विषय का निर्णय कैसे करें ? यह बात तभी हो सकती है जब, व्यक्तिगत प्रवृत्तियों को छोडकर, केवल सस्कृत-पुस्तको पर ही विश्वास किया जाय। दाये हाथ की ओर चलना (अर्थात् दाई ओर को न फिरना) प्रदक्षिणा है, और बाये हाथ की ओर चलना बायी ओर के इर्द-गिर्द घूमना है। यह नियम बुद्ध का नियत किया हुआ है, और हमारे विवाद से परे है।

इसके आगे (हम) 'उचित समय' और 'अनुचित समय' का वर्णन करेंगे। जिस सूत्र में 'उचित समय' का वर्णन है उसमे विविध अवस्थाओं के अनुरूप समया के विषय में भिन्न-भिन्न ढग हैं। परंतु, चार निकायों के विनय-ग्रंथों में यह एकमत से कहा गया है कि दोपहर (मूलार्थत अश्व-समय, अर्थात् बारह बजे) भोजन के लिए उचित है। यह (सूर्य की घडी की) छाया एक धागे जितनी थोडी भी गुजर जाये, तो (भोजन के लिए) यह समय अनुचित कहलाता है। जो मनुष्य (समय के व्यक्तिक्रम के) दोष से अपने आपको बचाता है, वह यदि ठीक दिग्भाग लेना चाहता है तो उसे रात को ध्रुव नक्षत्र को जाचना, और तत्काल दक्षिण ध्रुव (अर्थात् 'दक्षिणी नक्षत्र' की दिशा)[2] को ध्यान-पूर्वक देखना होगा; और (ऐसा करने के पश्चात्), यह (दक्षिण और उत्तर की) ठीक रेखा का निश्चय करने में समर्थ हो जाता है। फिर उसे एक उचित स्थान पर मिट्टी का एक छोटा-सा चबूतरा बनाना होता है। यह चबूतरा गोल बनाया जाता है। इसका व्यास एक फुट और ऊंचाई पांच इच होती है। इसके मध्यवर्ती भाग में एक पतली-सी छडी गाड़ी जाती है। या, भोजन करने की बांस की छडी-जैसी पतली, एक कील पत्थर के मंच पर गाड़ी जाती है, और इसकी ऊंचाई चार अंगुल लंबी होनी चाहिए। अश्व-समय (दोपहर) की ठीक घडी मे (मंच पर पडी हुई छडी की) छाया के साथ-साथ निशान खींच दिया जाता है। यदि छाया उस निशान से गुजर गई हो तो मनुष्य को खाना नही चाहिए।

---

1 निस्सदेह भारतीय रीति के अनुसार यह ठीक समाधान है, परतु इत्सिग इसके विरुद्ध कहता है।

2 समय को हर बार देखने के लिए इन बातो को देखने की आवश्यकता है—(i) मध्याह्न की दिशा (जो ध्रुव नक्षत्र को देखकर मालूम होती है), (ii) वह समय जब एक अधिक दक्षिणी (और अत अधिक शीघ्रता से चलनेवाला) नक्षत्र ऊर्ध्वसीमा (meridian) मे से गुजरता है।

भारत मे ऐसी (घड़िया) प्राय सर्वत्र बनाई जाती है, और ये वेला-चक्र अर्थात् समय के पहिए, कहलाती हैं। छाया मापने की रीति यह है कि छडी की छाया को उस समय देखा जाये जबकि वह छोटी-से-छोटी हो। इस समय मध्याह्न होता है। परंतु जबूद्वीप मे, स्थानो की स्थिति मे भिन्नता होने के कारण, छायाओ की लम्बाई भिन्न-भिन्न होती है। उदाहरणार्थ, लो[1] के प्रात में कोई छाया नही होती; परतु अन्य स्थानो की अवस्था भिन्न है। फिर उदाहरणार्थ, श्री भोज देश मे, आठवे मास के मध्य में (अर्थात् जल-विषुव के लगभग), हम देखते है कि वेला-चक्र की छाया न लबी होती है, न छोटी। उस दिन खडे होनेवाले मनुष्य की कोई छाया नही पडती। वसत के मध्य मे (अर्थात् महाविषुव के समय के लगभग) भी यही अवस्था होती है। सूर्य एक वर्ष में दो बार ठीक सिर के ऊपर से गुजरता है। जब सूर्य दक्षिण मे चलता है, तब (मनुष्य की) छाया उत्तर की ओर पड़ती है, और दो-तीन फीट लबी हो जाती है, और जब सूर्य उत्तर में होता है, तब (मनुष्य के) दक्षिण पार्श्व मे छाया उतनी ही होती है। चीन में उत्तर भाग में छाया की लंबाई दक्षिण भाग से भिन्न होती है, उत्तर-देश में द्वार सदा सूर्य के सामने बनाए जाते हैं। जब चीन के पूर्वी समुद्रतट (हि-तुग) पर मध्याह्न होता है तब अभी क्वन-हसी (अर्थात् चीन के अतर्गत शेन-सी के पश्चिम के प्रदेश) में नही होता। इस प्रकार नैसर्गिक भेद होने के कारण एक ही अवस्था मे सार्वत्रिक होने पर हठ नही किया जा सकता। इसलिए विनय मे कहा है—'प्रत्येक स्थान मे वहां के मध्याह्न के अनुसार समय का निश्चय किया जाता है।' क्योंकि प्रत्येक भिक्षु पवित्र नियमो के अनुसार आचरण करना चाहता है, और प्रतिदिन खाना आवश्यक है, इसलिए नियत समय पर खाने के लिए उसे छाया को नापने मे सावधान रहना चाहिए। यदि वह इसे भी पूरा नही कर सकता, तो दूसरी आज्ञाओं का कैसे पालन कर सकता है ? इसलिए विश्रुत मनुष्यों को, जो नियमो पर चलते और उनका प्रचार करते है, और जिन्हे जटिल और सूक्ष्म नियमों को देखकर आश्चर्य नहीं होता, समुद्र-यात्रा मे भी अपने साथ सूर्य-घडी रखनी चाहिए, और स्थल पर तो इसे रखना और भी अधिक आवश्यक है। भारत मे कहावत है कि 'जो कीडो के लिए पानी को और मध्याह्न के लिए समय को देखता है वह विनय-उपाध्याय कहलाता है।'

इसके अतिरिक्त, भारत के बड़े-बड़े विहारो में जल-घडियां बहुत बर्ती जाती है। ये और इन्हे देखते रहने के लिए कुछ लड़के अनेक पीढियों के राजाओ के

---

1 लो-प्रात सभवत मध्य भारत है। 'लो' चीन की राजधानी और 'जो कुछ आकाश के नीचे है उस सबका' केंद्र था। शायद 'इत्सिग ने एक बार इसका व्यवहार मध्य भारत के लिए कर दिया हो, यद्यपि यह बात बडी विचित्र मालूम होती है।

दिए दान होते है, ताकि भिक्षुओं को बताते रहे कि इतने बजे हैं। एक तांबे के बासन मे पानी भर दिया जाता है, और उसमे एक तांबे का प्याला तैरता रहता है। यह प्याला पतला और कोमल होता है, और इसमे तो शाग (प्रस्थ) जल आता है। इसकी पेदी में सुई के नाके जितना छोटा-सा एक छेद कर दिया जाता है, जिसमे से पानी ऊपर आता है; वर्ष के समय के अनुसार यह छेद छोटा या बडा कर दिया जाता है। घंटा (की लबाई) को माप कर इसे अच्छी तरह से बनाना चाहिए।

प्रात:काल से आरंभ करके, प्याले के पहली बार डूबने पर, डके की एक चोट बजाई जाती है, और दूसरी डुबकी पर दो चोटे, तीसरी डुबकी पर तीन चोटे। परतु प्याले की चौथी डुबकी पर डंके की चार चोटों के अतिरिक्त, शंख की दो फूके, और डके की एक और धडक की जाती है। यह पहला पहर कहलाता है, अर्थात् उस समय सूर्य पूर्व मे (खस्वस्तिक और दिङ मडल के बीच) होता है। जब प्याले की चार डुबकिया दूसरी बार पूरी हो चुकती हैं, तब (डंके की) चार चोटे पूर्ववत् लगाई जाती हैं, और शंख भी बजाया जाता है, जिसके पश्चात् (डके की) दो और चोटे लगाई जाती हैं। यह दूसरा पहर कहलाता है, अर्थात् ठीक अश्व-समय (अर्थात् दोपहर का आरंभ) है। यदि पिछली दो चोटें बज चुकी हों तो भिक्षु भोजन नही करते, और यदि कोई खाता हुआ पकडा जाय तो विहार की रीति के अनुसार उसे निकाल देना होता है। अपराह्न मे भी दो पहर होते है, जिनकी घोषणा पूर्वाह्न की तरह ही की जाती है। रात को चार पहर होते है। वे दिन के पहरों के सदृश होते है। इस प्रकार एक दिन एक रात की बाट से आठ पहर बनते है। जब रात का पहला पहर समाप्त होता है तब कर्मदान, विहार की एक अटारी में डका बजाकर, सबको इसकी घोषणा करना है। यह नालंद-विहार में जल-घडी का नियम है। सूर्यास्त और सूर्योदय के समय द्वार के बाहर डंका ('एक गजल') बजाया जाता है। ये अनावश्यक काम सेवक ('शुद्ध मनुष्य') और द्वारपाल करते है। सूर्यास्त से लेकर उषाकाल तक, न तो भिक्षुओं को कभी घंटा बजाने का काम करना पडता है ओर न यह उन सेवकों ('शुद्ध मनुष्यो') का काम है। यह काम तो कर्मदान का है।

महाबोधि और कुशीनगर के विहारो मे जल-घड़ियो की व्यवस्था कुछ भिन्न है। वहा सवेरे और दोपहर के बीच सोलह बार प्याला डुबाया जाता है।

दक्षिण-समुद्र के पूलो कडोर (Pulo Condore) देश मे, पानी से भरा हुआ तावे का एक बड़ा बासन (या घडा) वर्ता जाता है। इसकी पेदी मे एक छेद खोल दिया जाता है जिसमे से पानी बाहर निकलता है। हर बार जब घडा खाली हो जाता है तब एक बार डका बजा दिया जाता है, और जब चार चोटें लगाई जाती है तब दोपहर हो जाता है। यही क्रिया सूर्यास्त होने तक की जाती है, दिन के समय के सदृश रात के भी आठ पहर होते हैं, जिससे सब मिलकर सोलह पहर

बन जाते है। यह जल-घडी भी उस देश के राजा का दान है।

उन जल-घडियों के प्रयोग के कारण, घने बादलों और अंधेरे दिन मे भी, अश्व-समय (अर्थात्) दोपहर के विषय मे किसी प्रकार की भूल नही होती, और जब कई रातों तक बराबर वर्षा जारी रहती है, पहरों को भूल जाने का कोई डर नही होता। (चीन के विहारों मे) ऐसी घडियां लगाने की जरूरत है। इसके लिए राजा से सहायता मागनी चाहिए, क्योंकि सघ के लिए यह एक बड़ी आवश्यक चीज है।

जल-घड़ी लगाने के लिए, पहले दिन और रात (की लंबाइयो) को गिनना, ओर फिर उन्हें पहरो मे बाटना होता है। प्रात.काल से लेकर मध्याह्न तक प्याले की आठ डुबकियां हो। यदि ऐसा हो जाय कि (दोपहर तक) आठ से कम डुबकिया हो तो प्याले के छेद को थोड़ा-सा चौडा कर देना चाहिए। परंतु इसे ठीक करने के लिए एक अच्छे कारीगर की आवश्यकता है। जब दिन या रात क्रमश· छोटी हो जाती है तब (पानी की) आधी डोई और मिला देना चाहिए, ओर जब दिन या रात क्रमशः लंबी हो जाये तब आधी डोई निकाल देनी चाहिए।

परतु इसका उद्देश्य 'समय' की घोषणा करना है, इसलिए कर्मदान के लिए अपने कमरे में (उसी प्रयोजन के लिए) एक छोटे प्याले का व्यवहार युक्तिसंगत है और उसकी आज्ञा भी है।

यद्यपि चीन में (रात के समय) पांच पहर, और भारत मे चार पहर होते है, परंतु विनेता की शिक्षा के अनुसार, केवल तीन ही पहर हैं, अर्थात् एक रात तीन भागों मे विभक्त की गई है। पहले और तीसरे मे स्मरण, (प्रार्थनाओं का) जाप, और ध्यान किया जाता है, और मध्यवर्ती पहर में भिक्षुगण, अपने विचारों को बांधकर (या, एकाग्रता के साथ) सोते है। रोग की अवस्था को छोड़कर, जो ऐसा नहीं करते वे नियम को भग करने के अपराधी ठहरते हैं, और यदि वे इसे पूजा-भाव से करते है तो इनसे उनका अपना और दूसरो का भला होता है।

28

पूजा की पवित्र वस्तुओं को साफ़ करने में औचित्य के नियम

तीन पूज्यो (तीन रत्नो) की पूजा से बढकर और कोई पूजा विनीत और पूर्ण प्रज्ञा के लिए चार आर्य-सत्यो के ध्यान से उच्चतर और कोई सड़क (हेतु) नहीं। परतु इन सत्यों के अर्थ इतने गंभीर हैं कि ये गंवार लोगो की समझ से दूर है, परतु पवित्र प्रतिमा (अर्थात् बुद्ध की मूर्ति) को सब कोई स्नान करा सकता है। यद्यपि गुरुदेव निर्वाण को प्राप्त हो चुके है, परतु उनकी प्रतिमा मौजूद है और हमें आस्था के साथ उसका पूजन करना चाहिए, जैसे कि हम उन्ही के सामने हों। जो लोग

उसे निरतर धूप आर पुष्प चढाते है, उनके विचार पवित्र हो जाते है और जो लोग उसकी मूर्ति को सदा स्नान कराते हैं वे अंधकार[1] मे लपेटनेवाले अपने पापों को दबाने मे समर्थ हो जाते है। जो लोग अपने आपको इस काम मे लगाते है, उन्हे अदृश (अविज्ञप्त) पुरस्कार मिलेंगे, और जो लोग दूसरों को इसके करने का उपदेश देते हैं, वे दृश्य (विज्ञप्त) कर्म से अपना तथा दूसरो का भला करते हैं। इसलिए जो लोग पुण्योपार्जन की कामना रखते है, उन्हे अपने मन को इन कर्मो मे लगाना चाहिए।

भारतीय विहारों में, जब भिक्षु लोग अपराह्न मे प्रतिमा को स्नान कराने जाते है, तव घोषणा के लिए कर्मदान घटा बजाता है। विहार के आंगन में एक जडाऊ छत्र तानने और मदिर के पार्श्व में सुगंधित जल के घडे पंक्तियो मे रखने के पश्चात् सोने, चादी, ताबे या पत्थर की एक मूर्ति उसी धातु के बासन मे रखी जाती है, ओर लड़कियों का एक दल वहां बाजा बजाता है। फिर मूर्ति का सुगंध से अभिषेक करके उस पर सुगधित जल डाला जाता है।

सुगध इस प्रकार तैयार की जाती है—कोई सुगध का वृक्ष, जैसा कि चदन की लकडी या एलवा की लकडी लेकर एक चिपटे पत्थर पर पानी के साथ पीसो, यहा तक कि इसका कीचड बन जाय, तब इसे मूर्ति पर मलकर उसे पानी से धो डालो।

धो चुकने के बाद, इसे साफ सफेद कपड़े से पोंछ दिया जाता है, फिर यह मदिर में रख दी जाती है, जहा सब प्रकार के सुदर पुष्प जुटाए जाते है। यह प्रक्रिया विहार मे रहनेवाले भिक्षु कर्मदान के प्रबध मे करते हैं।

विहार के अकेले कमरों में भी भिक्षु लोग प्रतिदिन मूर्ति को ऐसी सावधानी से स्नान कराते है कि कोई भी प्रक्रिया छूटने नही पाती। अब पुष्पो के विषय मे सुनिए। किसी भी प्रकार के फूल, वृक्षों से या पौधो से लेकर चढ़ाए जा सकते है। सुगंधित फूल सभी ऋतुओ मे निरंतर खिलते हैं और अनेक लोग ऐसे है जो बाजारो मे उन्हे बेचते है।

ताबे की मूर्तियो को, चाहे वे बड़ी हो या छोटी, बारीक राख या ईटो के चूर्ण के साथ रगड़कर और उन पर शुद्ध जल डालकर, चमकाना चाहिए, यहा तक कि वे दर्पण के सदृश पूर्ण रूप से स्वच्छ और सुदर हो जायें। बडी मूर्ति को मास के मध्य और अत मे सारा भिक्षु-सघ स्नान कराए और छोटी मूर्ति को, यदि सभव हो तो, प्रतिदिन प्रत्येक भिक्षु अकेला नहलाए। ऐसा करने से, मनुष्य थोडे व्यय से बडा पुण्य प्राप्त कर सकता है।

---

1 मूलार्थत 'आलस्य से उपजा हुआ कर्म

जिस जल से मूर्ति को स्नान कराया गया है, उस जल को यदि दो उगलियो पर लेकर सिर पर डाल दिया जाये तो यह 'शुभ शकुन का जल' कहलाता है, जिससे मनुष्य सौभाग्य की कामना कर सकता है। मूर्ति पर चढाए हुए फूलों को न तो सूघना चाहिए, और न, जब वे उठा भी लिये जाएं, उन्हे न पांव के नीचे रौदना चाहिए, उन्हें तो एक स्वच्छ स्थान में अलग रख देना चाहिए। भिक्षु के सारे जीवन मे ऐसा कभी न होना चाहिए कि वह मूर्ति को स्नान कराना भूल जाय और यदि वह उन सुदर पुष्पों को भी चढाने की परवाह नही करता, जो सब कही खेतो मे पाए जाते है, तो दोषी है। उसे फूलो को चुनने और मूर्तियों को नहलाने के कष्ट से बचकर, केवल उद्यानों और सरोवरो को देखते तथा विश्राम करते हुए ही, आलसी ओर शिथिल न हो जाना चाहिए और न उसे पूजा के कमरे को केवल खोलकर ओर साधारण उपासना करके अपनी पूजा को आलस्यपूर्वक समाप्त कर देना चाहिए। यदि ऐसी अवस्था होगी तो गुरु और शिष्य की परपरा टूट जाएगी और पूजा की रीति आप्त-वचन के अनुसार न होगी।

भारन मे भिक्षु और साधारण लोग मिट्टी के चैत्य या मूर्तियां बनाते है, अथवा रेशम या कागज़ पर बुद्ध की प्रतिमा छापते है, और जहां कहीं वे जाते हैं, चढावा चढाकर उसका पूजन करते है। कभी-कभी वे चिता बनाकर और उसे ईटो के साथ घेरकर बुद्ध के स्तूप बनाते है। कभी-कभी वे इन स्तूपो को एकांत मैदानो मे बनाकर छोड आते है और ये गिर-पड़कर खडहर हो जाते है। इस प्रकार कोई भी मनुष्य की पूजा की चीज़े बनाने मे लग सकता है। फिर जब लोग सोने, चादी, ताबे, लोहे, मिट्टी, लाख, ईटों और पत्थर की प्रतिमाए और चैत्य बनाते हैं, अथवा जब वे हिममय बालुका (मूलार्थत बालु-हिम) का ढेर लगाते है, तब प्रतिमाओं या चेत्यो मे दो प्रकार के शरीर रखते है—(1) गुरुदेव का अवशिष्टांश, (2) कारणत्व की शृखला की गाथा।

वह गाथा इस प्रकार है—

[1]'सब बाते (धर्म) किसी हेतु से उत्पन्न होती है।
तथागत ने वह हेतु प्रकट कर दिया है।
वह हेतु निदान नष्ट किया जा चुका है;
महाश्रमण (बुद्ध) की ऐसी ही शिक्षा है।'

यदि हम इन दो को मूर्तियो या चैत्यों में रखेगे तो हमे प्रचुर सुख प्राप्त

---

1. काश्यप मूलपाठ इस प्रकार देता है :—

'ये धर्मा हेतुप्रभवास्तेषा हेतु तथागत उवाच।
तेषा च यो निरोध एव वादी म ।'

हागे यही कारण हे कि सूत्र दृष्टातो मे मूतिया या चैत्य बनाने का पुण्य अकथनीय बताते हैं। यदि मनुष्य जौ के दाने के समान छोटी प्रतिमा, या छोटे उन्नाव के परिमाण का चैत्य बनाकर उस पर एक गोल प्रतिमा या एक छोटी सुई के सदृश छडी रख दे, तो भी उससे उत्तम जन्म के लिए एक विशेप हेतु प्राप्त हो जाता है, और यह सात समुद्रो के समान असीम होगा, और पुण्यफल अगले चार जन्मो तक बना रहेगा। इस विपय का सविस्तार वर्णन अलग सूत्रो मे मिलता है।

अध्यापको तथा दूसरे लोगो को इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए। पवित्र प्रतिमा को स्नान कराना एक ऐसा पुण्य-कर्म है जिसके फल से प्रत्येक जन्म मे बुद्ध से मिलाप होता है, और धूप तथा पुष्पो का चढाना प्रत्येक आगामी जन्म मे सुख और सपत्ति का देनेवाला है। आप करो, और दूसरो को ऐसा करने की शिक्षा दो, तब तुम्हे अपरिमेय सुख मिलेंगे।

29

स्तोत्रगान-प्रक्रिया

बुद्ध के नामो का उच्चारण करके उसकी पूजा करने की रीति दिव्य भूमि (चीन) मे लोग जानते हैं, क्योंकि यह प्राचीन समय से चली आ रही है (और इसका अनुष्ठान किया जा रहा है) परंतु बुद्ध का गुणानुवाद करके उसकी स्तुति करने की रीति का प्रचार वहा नहीं रहा। शेपोक्त रीति प्रथमोक्त से अधिक महत्त्व की है, क्योकि वास्तव मे, केवल उसके नामो का सुनना ही उसके ज्ञान की श्रेष्ठता का अनुभव करने मे हमें सहायता नही देता; किंतु वर्णनात्मक स्तोत्रो मे उसका गुणानुवाद करने से हम समझ सकते हैं कि उसके गुण कितने बड़े हैं। पश्चिम (भारत) मे भिक्षु लोग चैत्य-वदन और साधारण पूजा तीसरे पहर देर से या सायकाल सध्या-समय करते है। सभी एकत्रित भिक्षु अपने विहार के द्वार से बाहर निकलकर, धूप और पुष्प चढ़ाते हुए, स्तूप की तीन बार प्रदक्षिणा करते है। वे सब घुटनो के बल बैठ जाते है, और उनमे से अच्छा गानेवाला एक भिक्षु, श्रुतिमधुर, शुद्ध और मजुल स्वर मे गुरुदेव के गुणो का वर्णन करनेवाला स्तोत्र गाना आरभ करता है, और दस-बीस श्लोक गाता है। तब वे क्रमशः विहार के उस स्थान मे लौट आते हैं, जहा वे साधारणतया इकट्ठे हुआ करते है। जब वे सब बैठ जाते हैं तब एक सूत्रपाठी, सिंहासन पर चढकर, एक छोटा-सा सूत्र पढता है। यथोचित परिमाण का सिंहासन प्रधान भिक्षु के समीप रखा जाता है। ऐसे अवसर पर जो धर्मग्रथ पढ़े जाते है, उनमे से 'तीन भागो मे पूजा'[1] प्राय उपयोग मे लाई जाती है। यह पूजनीय अश्वघोप का किया

---

1 मूलार्थत तीन बार खोली हुई पूजा।

हुआ संग्रह है। पहले भाग मे, जो दस श्लोको का है, तीन पूज्यों (त्रिरत्न) की स्तुति का भजन है। दूसरा भाग बुद्ध-वचनों की बनी हुई कुछ पवित्र पुस्तको का सग्रह है। स्तोत्र के बाद, और बुद्ध के वचनो के पाठ के वाद, पूजा के तीसरे भाग के रूप मे, दस से अधिक श्लोको का एक अतिरिक्त भजन होता है। इसमें मनुष्य के पुण्य को परिपक्व करने की कामना प्रकट करनेवाली प्रार्थनाए होती हैं। ये तीनो भाग एक-दूसरे के बाद अविच्छिन्न रूप से आते है। इसी से इसका नाम—तीन भागोवाली पूजा निकला हैं। जब यह समाप्त हो जाती है, तव सभी एकत्रित भिक्षु 'सुभाषित' कहते है, अर्थात् 'अच्छा कहा', सु—अच्छा, और भाषित—कहा। ऐसे शब्दों-द्वारा धर्म-पुस्तको को उत्तम कहकर उनकी सराहना की जाती है। वे कभी इस शब्द के स्थान मे 'साधु !' अर्थात् 'अच्छा किया' कहते हैं।

सूत्र-पाठी के उत्तर आने पर, प्रधान भिक्षु उठकर सिहासन को नमस्कार करता है। यह कर चुकने के वाद वह पुण्यात्माओं[1] के आसनो को प्रणाम करता है, ओर तब अपने स्थान पर वापस आ जाता है। अब दूसरे दर्जे का भिक्षु उठकर पहले भिक्षु के सदृश ही उनको प्रणाम करता और पीछे से प्रधान भिक्षु को नमस्कार करता है।

जब वह अपने स्थान पर लौट आता है तब तीसरे दर्जे का भिक्षु वही प्रक्रियाए करता है, और उसी रीति को सारे भिक्षु क्रमश· करते है। परंतु यदि एक बहुत बडा समूह उपस्थित हो तो बाकी भिक्षु सबके-सब एक ही बार सभा को नमस्कार करके स्वेच्छानुसार वापस चले जाते है। उपर्युक्त वर्णन उन क्रियाओं का है जिनका अनुष्ठान पूर्वी आर्य देश (पूर्वी भारत) के अतर्गत ताम्रलिप्ति[2] के भिक्षु करते है।

नालंद विहार में भिक्षुओं की सख्या बहुत बडी है, और एक स्थान मे इतने लोगों का इकट्ठा होना कठिन है। इस विहार में आठ महाशालाएं (हॉल कमरे) और तीन सौ कोठरियां हैं। प्रत्येक भिक्षु के सुभीते के लिए पूजा केवल अलग-अलग ही हो सकती है। इसलिए रीति यह है कि प्रतिदिन एक स्तोत्र गानेवाले को भेजा जाता है। वह एक स्थान से दूसरे स्थान पर भजन गाता हुआ घूमता है। उसके आगे-आगे धूप और फूल लिये हुए विहार के साधारण सेवक और बच्चे[3] जाते है। वह एक महाशाला से दूसरी मे जाता है, और प्रत्येक मे पूजा के भजन गाता है। वह हर बार उच्च स्वर से नया पांच श्लोक बोलता है और उसकी आवाज़ चारो

---

1 'पुण्यात्माओं' से अभिप्राय बोधिसत्वो और अर्हतों से है।

2 एक प्राचीन राज्य और नगर (अब हुगली के मुहाने पर, तमलुक) इत्सिग के समय मे यह भारत और चीन व्यापार का केंद्र था।

3 'वे उपासक जो भिक्षु के निवास पर मुख्यत· धर्म-ग्रथो के अध्ययन के लिए आते है, और जिनकी इच्छा अपने बाल मुड़ाने और काला चोला पहनने की होती है 'बच्चे' (अर्थात् 'मानव') कहलाते है

ओर सुनाई देती है। सध्या-समय वह इस कर्तव्य को समाप्त कर देता है। इस स्तोत्रगायक को विहार की ओर से प्राय कोई विशेष पूजा (भेट) दी जाती है। इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे मनुष्य हैं, जो गध कुटी (मदिर) की ओर मुह किए, अकेले बैठे हुए, हृदय मे बुद्ध का गुण-गान करते है। कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं, जो मदिर मे जाकर, (एक छोटे-से दल में) अपने शरीरों को सीधा रखते हुए एक-दूसरे के साथ घुटनो के वल बैठ जाते है, और, अपने हाथो को पृथ्वी पर रखकर, अपने सिरो से पृथ्वी को छूते हैं, और इस प्रकार 'त्रिगुणित वदना' करते है। ये है पूजा की विधिया जो पश्चिम म (अर्थात् भारत मे) प्रचलित है। बूढे और दुर्बल भिक्षुओ को पूजा करते समय छोटी-छोटी चटाइयो का उपयोग करने की आज्ञा है। यद्यपि (चीन मे) बुद्ध की प्रशंसा के भजन चिरकाल से विद्यमान हैं, परंतु व्यावहारिक प्रयोजन के लिए उनके उपयोग की रीति भारत (मूलार्थत· 'ब्रह्मराष्ट्र') में प्रचलित रीति से कुछ भिन्न है।

यह सच है कि जब स्वर को बहुत लंबा कर दिया जाता है, तब गाए हुए भजन का अर्थ समझना कठिन होता है। परतु एक निपुण व्यक्ति को 'एक सो पचास श्लोकों का स्तोत्र,[1] चार सौ श्लोको का स्तोत्र' या कोई और प्रशंसा का भजन रात को गाते सुनना बड़ी ही मनोरम चीज है। उस समय एकत्रित भिक्षु उपवास की रात को (जैसी की उपोसथ की गत होती है) बहुत चुपचाप रहते हैं। भारत में पूजा के समय गाने के लिए अनेक स्तोत्र बड़ी सावधानना-पूर्वक परपरा से चले आ रहे है, क्योंकि प्रत्येक सुधी विद्वान् ने जिस किसी व्यक्ति को सबसे अधिक पूजा के योग्य समझा है, उसकी श्लोको मे प्रशसा की है। ऐसा मनुष्य पूजनीय मातृचेट था, जो अपनी महान् साहित्यिक बुद्धि और सदूगुणों के कारण, अपने काल के सभी विद्वानों से बढा हुआ था। उसके विषय में यह कथा सुनाई जाती है। अपने जीवन-काल म, बुद्धदेव एक बार अपने शिष्यों को उपदेश देते हुए एक वन के लोगों में विचर रहे थे। वन की एक बुलबुल ने बुद्ध को, स्वर्णगिरि के समान प्रतापशाली और अपने पूर्ण लक्षणों से अलंकृत देखकर अपना मधुर स्वर निकालना आरंभ किया, मानो वह उनकी स्तुति गा रही है। बुद्ध ने, अपने शिष्यो की ओर पीछे देखकर, कहा—'यह पक्षी मेरे दर्शन से हर्षावेश में, बेसुध होकर सुरीले राग अलाप रहा है। इस उत्तम कर्म के कारण, मेरे प्रयाण (निर्वाण) के पश्चात् यह

---

1 डेढ सो श्लोकों और 400 श्लोको के स्तोत्र मातृचेट के हैं। जिन दिनो इत्सिग नालंद विहार मे रहता था (सन् 675 ई. से सन् 685 तक) उसने 150 श्लोको का चीनी में अनुवाद, और फिर पीछे से (सन् 708 ई) उसका संशोधन किया। यह 'सार्धशतक-बुद्धप्रशसागाथा' कहलाती है। 400 श्लोको का चीनी में अनुवाद नहीं हुआ था।

पक्षी मनुष्य-जन्म पाएगा, और इसका नाम मातृचेट[1] होगा। यह सच्ची चाह के साथ मेरे गुणगान करेगा।' पहले, एक-दूसरे धर्म के अनुयायी के रूप मे जब वह मनुष्य-जन्म मे आया तब मातृचेट एक यति था, और महेश्वरदेव की पूजा करता था। इस देवता का पुजारी होने के दिनो मे, उसने उसकी प्रशसा मे स्तोत्र बनाए थे। परतु इस बात का पता लग जाने पर कि उसके जन्म[2] की भविष्यवाणी हो चुकी है, वह रंगदार चोला पहनकर बौद्ध-धर्म का अनुयायी बन गया, और सासारिक चिताओ से मुक्त हो गया। वह बहुधा बुद्ध की प्रशंसा तथा कीर्ति-गान मे ही लगा रहता और अपने पिछले पापो के लिए पश्चात्ताप करता था। तब से वह बुद्ध के उत्तम दृष्टांत पर चलने का अभिलापी रहता था, और उसे खेद होता था कि मे परम गुरु (बुद्ध) की केवल प्रतिमा ही देख सका हू, स्वय उनके दर्शन नही कर सका, इस भविष्य कथन (व्याकरण) की ससिद्धि में उसने अपने पूरे साहित्यिक बल से बुद्ध के सद्गुणो की प्रशसा से भजन लिखे।

उसने पहले एक चार सौ श्लोको का स्तोत्र बनाया, और तत्पश्चात् एक-दूसरा डेढ सौ श्लोको का। वह प्राय छः पारमितों का वर्णन और जगन्मान्य बुद्ध के उत्कृष्ट गुणो की व्याख्या करता है। ये मनोहर रचनाए सुंदरता में स्वर्गीय पुष्पो के समान है, और उनमें वर्णित उच्च सिद्धांत माहात्म्य में पर्वत के उच्च शिखरों की प्रतियोगिता करते है। अतएव भारत मे जो भी स्तोत्र बनाता है, वह उसे साहित्य का पिता समझकर, उसी की शैली का अनुकरण करता है। यहां तक कि बोधिसत्व असग और बसुबंधु जैसे मनुष्यों ने भी उसकी बड़ी प्रशसा की है।

सर्वत्र भारत मे यह रीति है कि भिक्षु बननेवाले प्रत्येक मनुष्य को, ज्यों ही वह पांच और दस शील सुना सकता है, मातृचेट के दो भजन सिखला दिए जाते है। यह क्रम महायान और हीनयान दोनों सप्रदायो मे प्रचलित है। इसके छः कारण है। पहले, इन स्तोत्रों से हमें बुद्ध के महान् और गंभीर गुणों का ज्ञान हो जाता है। दूसरे, उनसे हमे श्लोक बनाने का ढंग मालूम हो जाता है। तीसरे, उनसे भाषा[3] की शुद्धता निश्चित हो जाती है। चौथे, उनको गाने से छाती बढती है। पाचवे, उनका उच्चारण करने से मनुष्य को सभा मे घबराहट नही होती। छठे, उनके उपयोग से नीरोग जीवन बढ़ता है। जब मनुष्य इन्हे सुनाने मे समर्थ हो जाता है, तब वह दूसरे सूत्र सीखने लगता है। परंतु ये सुदर साहित्यिक रचनाएं अभी तक चीन मे नही लाई गईं। अनेक लोगों ने उन पर टीकाएं लिखी है, और उनके अनुकरण भी थोडे नहीं स्वयं बोधिसत्त्व ने, जिसने ऐसा ही एक अनुकरण रचा था, डेढ सौ

---

1 इत्सिग समझता है 'मातृ माता- चेट लड़का या बच्चा।'

2. मूलार्थत 'उसे नाम की हो चुकी है

3 शब्दार्थत 'ये बोलने की इंद्रिय अर्थात् जीभ को शुद्ध कर देते है।'

श्लोको मे से प्रत्येक क पहल एक एक श्लोक बढा दिया जिसस वे सब तीन सौ श्लाक हो गए, और मिश्रित भजन (सभवत सयुक्त प्रशसा) कहलात ह मृगदाव के शाक्यदेव नामक एक विश्रुत भिक्षु ने 'जिन' के प्रत्येक श्लोक के साथ फिर एक-एक श्लोक और जोड दिया, इसलिए उनकी सख्या चार सौ पचास हो गई। ये 'दोहरे संयुक्त' स्तोत्र कहलाते है।

जो लोग धार्मिक कविताए बनाते है वे इन्ही का नमूना सामने रखते हे। बोधिसत्व नागार्जुन ने कविता में एक पत्र लिखा था। यह 'सुहल्लेख' अर्थात् 'घनिष्ठ मित्र के नाम पत्र' कहलाता है। यह उसके जेतक नाम के बूढे दानपति को समर्पित किया गया था, यह दानपति दक्षिण भारत मे एक बडे देश का राजा था। जिसका नाम सद्वाहन, या शातवाहन था। उस रचना का सौंदर्य आश्चर्यजनक है और सन्मार्ग के विषय मे उनके उपदेश उत्साहवर्धक है। उसकी दया, उसकी बधुता से बढी हुई है, और लेख के अर्थ अनेक है। वह लिखता है कि हमे 'तीन पूज्यो'[1] (अर्थात् त्रिरत्न) का सम्मान और उनमें विश्वास करना चाहिए और अपने माता-पिता का पालन-पोषण करना चाहिए। हमे शील रखना, और पाप-कर्मो से बचना चाहिए।

हमे मनुष्यो को तब तक अपना सगी नही बनाना चाहिए जब तक कि हम उनका चरित्र न जान ले। हमे धन और सौदर्य को अति मलिन वस्तुएं समझना चाहिए। हमे अपने गृह-कार्यो की भली-भाति व्यवस्था करनी चाहिए, और सदा स्मरण रखना चाहिए कि संसार स्थायी नहीं। वह प्रेतो और तिर्यग्योनि की अवस्थाओ का पूर्ण रूप से वर्णन करता है, और वैसे ही देवो, मानवों और नारकी आत्माओ की अवस्थाए बताता है। वह और लिखता है कि चाहे हमारे सिर पर आग जल रही हो, हमें इसे बुझाने मे कोई समय नष्ट नही करना चाहिए, किंतु 'कारणत्व की शृखला' की सच्चाइयो का चिंतन करते हुए, नित्य अपने मोक्ष पर दृष्टि रखनी चाहिए।

वह हमें तीन प्रज्ञाओं का आचरण करने का उपदेश देता है ताकि हम अष्ट आर्य मार्गो को स्पष्ट रूप से समझ लें, और वह हमें चार आर्य-सत्यों की शिक्षा देता है, ताकि हम सिद्धि की दोहरी[2] प्राप्ति का अनुभव कर ले। अवलोकितेश्वर

---

1 नीचे लिखे तीन वाक्य ही त्रिरत्न है—

(i) मै बुद्ध की शरण लेता हू क्योंकि वह दो-पैरवालो में सबसे पूज्य है।

(ii) मै धर्म की शरण लेता हू क्योंकि वह कामना से मुक्ति दिलानेवाली चीजो में सबसे अधिक पूज्य है।

(iii) मैं संघ की शरण लेता हूं क्योंकि वह सभाओ मे सबसे अधिक पूज्य है।

2 काश्यप कहता है सिद्ध की दोहरी प्राप्ति उस बडी प्रज्ञा और बडी दया की प्राप्ति है जो कि एक बुद्ध में होती है।

की तरह हमे मित्रो ओर शत्रुओ मे कोई भेद नही रखना चाहिए तब हम बुद्ध अमितायुस् के प्रताप से, परलोक में सदा के लिए सुखावती मे रहेगे। वहा से मनुष्य मर्त्यलोक पर मोक्ष की श्रेष्ठ शक्ति का भी प्रभाव डाल सकता है।

भारत मे विद्यार्थी लोग शिक्षा आरभ करते ही इस पत्र को कविता में याद कर लेते है, परंतु बहुत पक्के भक्त आयु-पर्यत इसे अपने अध्ययन का एक विशेष विषय बना रखते हैं। जिस प्रकार, चीन मे, युवक भिक्षुगण अवलोकितेश्वर के विषय मे सूत्र (सद्धर्म-पुडरीक मे अध्याय-24) और बुद्ध का अतिम उद्‌बोध (संक्षिप्त महापरिनिर्वाणसूत्र) पढते है। जातकमाला नामक इसी प्रकार का एक दूसरा ग्रथ है। जातक का अर्थ है 'पूर्व जन्म' और 'माला' का 'हार'; भाव यह है कि बोधिसत्त्व (पीछे से बुद्ध) से पूर्व जन्मो मे किए गए कठिन कार्यो की कथाए एक स्थान मे पिरोई गई है। जन्म-कथाओ की रचना पद्य मे करने का उद्‌देश्य एक सुंदर शैली मे, जो सर्वसाधारण को प्यारी और पाठकों को चित्ताकर्षक मालूम हो, सार्वत्रिक मोक्ष की शिक्षा देना है। एक बार राजा शीलादित्य[1] ने, जिसे साहित्य से अत्यत प्रीति थी, आज्ञा दी—'हे कविता के अनुरागियो, कल सवेरे अपनी कुछ कविताए लाकर मुझे दिखलाओ।' जब उसने उन्हे इकट्ठा किया तब उनकी पाच सौ गठरियां बनी, और परीक्षा करने पर, जान पडा कि उनमें से बहुत-सी जातक-मालाएं है। इस वृत्तात से मनुष्य समझता है कि जातकमाला प्रशंसात्मक कविताओं के लिए सबसे सुदर (प्रिय) विषय है। राजा शीलादित्य ने बोधिसत्त्व जीमूतवाहन की कथा को, जिसने एक नाग के स्थान मे अपने आपको सौप दिया था, श्लोकबद्ध किया था। इस अनुवाद का संगीत (शब्दार्थ, तार और बासुरी) का रूप दिया गया था। वह इसे बाजो के साथ गवाता था और साथ-साथ नृत्य और अभिनय भी होता था। इस प्रकार उसने इसे अपने समय मे सर्वप्रिय बनाया। महासत्त्व चद्र (मूलार्थत: 'चद्र अधिकारी', संभवतः चंद्रदास) ने, जो पूर्वी भारत में एक विद्वान् मनुष्य था, राजा विश्वांतर के विषय में, जिसे अब तक सुदान कहा जाता है, एक काव्यमय गीत की रचना की और भारत के पाचो देशो में सभी लोग इसे गाकर नाचते हैं। अश्वघोष ने भी कुछ काव्यमय गीत और सूत्रालंकारशास्त्र लिखा था। उसने बुद्धचरितकाव्य भी रचा था। इस विस्तीर्ण ग्रथ का यदि अनुवाद किया जाये तो इसके दस से अधिक पुस्तक-खड बन जायेंगे। इसमें तथागत के जीवन के—उस समय से लेकर जब वह अभी राजभवन में ही था, शाल वृक्षों की पंक्ति के नीचे उसके अतिम समय तक—मुख्य सिद्धांतों और कार्यो का वर्णन है। इस प्रकार सभी घटनाए एक ही कविता मे बता दी गई हैं।

---

1 कन्नौज का राजा शीलादित्य।

यह भारत के पाचो भागों और दक्षिणी सागर के देशो में सर्वत्र पढा या गया जाता है। वह थोडे-से शब्दों मे अनेक प्रकार के अर्थ और भाव भर देता है, जिससे पाठक के मन को बडा आनद प्राप्त होता है और वह कविता को पढते-पढते थकता नही। इसके अतिरिक्त, इस पुस्तक को पढ़ना एक पुण्य-कार्य समझना चाहिए, क्योकि इसमें श्रेष्ठ सिद्धात सक्षिप्त रूप मे दिए हुए हैं।

30

विधिविरुद्ध वंदना

वदन के विषय मे स्पष्ट नियम है। दिन और रात मे छः बार उपासना-विषयक अभ्यास करना ठीक है। इसके लिए या तो फुर्ती से हाथ-पैर हिलाने चाहिए, या एक कमरे मे चुपचाप निवास करते हुए भिक्षा लाना, धूतागों को पूरा करना ओर आत्म-सतोष के विद्धात पर आचरण करना चाहिए। और उचित यह है कि केवल तीन कपडे (त्रिचीवर) धारण किए जायें और विलास की कोई वस्तुए न रखी जाये; ससार के प्रलोभनों से भागते हुए, मनुष्य को सदा मोक्ष का ही ध्यान रखना चाहिए। सप्रदाय के एक ही नियम और प्रक्रिया को विविध रीतियों से करना ठीक नहीं है। भिक्षु का चोला पहनने वाले मनुष्य के लिए बाजार-जैसे स्थानो में साधारण भक्तजनों को प्रणाम करना भी ठीक नहीं। विनय-पुस्तको में ऐसे आचरणो का निषेध है। बुद्ध ने कहा—'केवल दो समूह ऐसे हैं जिनको तुम्हें प्रणाम करना चाहिए। एक तो, तीन रत्न, दूसरा, बडे भिक्षु।' कुछ लोग ऐसे है, जो लोगों से रुपया लेने के लिए युद्ध की मूर्ति को राज-मार्ग मे ले आते हैं और इस प्रकार पूजा की पवित्र चीजो को मैल और धूल से अपवित्र करते है। फिर कुछ दूसरे लोग ऐसे हैं जो अपने शरीर को झुकाते, मुख को घायल करते, जोडों को काट डालते या खाल को हानि पहुंचाते है और इस प्रकार मानो किसी अच्छे उद्देश्य के लिए (इंद्रिय-सयम के चिह्नों का) झूठा दिखलावा करके उपजीविका पैदा करना चाहते हैं। ऐसी रीतिया भारतवर्ष मे नहीं हैं। भविष्य में ऐसे व्यापारो से लोगों को भटकने मत दो।

31

पश्चिम में शिक्षा की रीति

महामुनि (बुद्ध) के एक ही वाक्य में 'तीन सहस्र' श्लोकों (की सभी भाषाओं) का समावेश है। यह 'पांच मार्गो'[1] पर चलनेवालो की योग्यता के अनुसार, सात विभक्ति

---

1 पांच जातिया—देव, मानव, पशु, प्रेत और नरक।

और नौ पुरुष प्रत्ययों[1] (के साथ समाप्त होनेवाले शब्दों) में सिखला दिया जाता है, और मोक्ष का एक साधन है। यह केवल विचार पर ही असर करनेवाले सिद्धांत का भंडार है और स्वर्ग का राजा (इंद्र) अनिर्वचनीय भावों की इस पवित्र पुस्तक की रक्षा करता है। शब्दों में प्रकट करने से मनुष्य की बुद्धि उसकी विविध अवस्थाओं और मानसिक क्षमताओं के अनुसार विकसित होती है। यह मनुष्य को घबराहट से निकालकर सत्य के अनुरूप बनाता है और उसे निर्वाण प्राप्त कराता है।

[2]परमार्थ-सत्य, 'सबसे बड़ी सच्चाई', संवृति-सत्य, 'गौण या छिपी हुई सच्चाई'। पुराने अनुवादकों ने शेषोक्त का अर्थ 'सांसारिक सच्चाई' किया है, परंतु इससे मूल के अर्थ पूर्ण रूप से प्रकट नहीं होते। अर्थ यह है कि साधारण बातें वास्तविक अवस्था को छिपा लेती हैं, उदाहरणार्थ, घड़े जैसी प्रत्येक वस्तु में, वास्तव में केवल मिट्टी होती है, परंतु लोग झूठे विशेषण से उसे घड़ा समझते हैं। शब्द की अवस्था में सब मधुर स्वर शब्द ही हैं, पर लोग भूल से उसे गीत समझते हैं। केवल आंतरिक बुद्धि ही काम करती है, और कोई व्यक्त विषय नहीं है। परंतु अविद्या बुद्धि को ढक देती है, और एक विषय के अनेक रूपों की मायामयी सृष्टि होती है। ऐसी अवस्था होने से मनुष्य नहीं जानता कि मेरी अपनी बुद्धि क्या है, और वह समझता है कि वस्तु का अस्तित्व मन से बाहर है। उदाहरणार्थ, मनुष्य अपने सामने पड़ी हुई रस्सी को सांप समझ सकता है। इस प्रकार सांप की कल्पना भ्रांति से रस्सी के साथ लगा दी जाती है, और सच्ची बुद्धि चमकने से बंद हो जाती है। इस प्रकार यथार्थता या सच्ची अवस्था का (भ्रांत संबंध से) ढक जाना 'संवृति' कहलाता है।

व्याकरण को संस्कृत में शब्द-विद्या कहते हैं। यह पांच विद्याओं[3] में से एक है, शब्द का अर्थ है 'वाणी', और विद्या, 'विज्ञान'।

1. सूत्र

सारी शब्द-विद्या का आधार सूत्र है। इस नाम का अनुवाद 'छोटा वचन'[3] किया जा सकता है; और यह इस बात का द्योतक है कि महत्त्वपूर्ण सिद्धांतों की एक

---

2 सात विभक्तियों को व्याकरण में 'सुप्' कहते हैं। देशी वैयाकरण केवल सात विभक्तियां मानते हैं, और संबोधन को प्रथमा विभक्ति के अंतर्गत कर देते हैं। नौ प्रत्ययों को व्याकरण में 'तिङ्' कहते हैं, जिसका अर्थ है धातु की रूप-सिद्धि में सारे पुरुष प्रयत्य।

2 इसे 'शब्दानुशासन' भी कहते हैं। भ. दत्त।

3 पांच विद्याएं ये हैं—(i) शब्दविद्या, अर्थात् 'व्याकरण और अभिधान-रचना', (ii) शिल्पस्थानविद्या, (iii) चिकित्साविद्या, (iv) हेतुविद्या, और (v) अध्यात्मविद्या।

4 अधिक मूलार्थतः, 'जो बोलने में छोटा और अर्थ में स्पष्ट है।'

साक्षिप्त रूप मे व्याख्या की गई है इसमें 1 000 श्लोक हैं यह एक पाणिनि की रचना है जो प्राचीन काल मे एक बहुत बडा विद्वान् था कहते हैं कि उसे दैवी ज्ञान था, महेश्वरदेव उसे सहायता देते थे, और उसके तीन नेत्र थे; आजकल के भारतवासियो का प्राय. इसमे विश्वास है। बच्चे आठ वर्ष की आयु मे इस सूत्र को सीखना आरभ करते हैं, और आठ मास मे इसे रट सकते है।

2. धातु पर पुस्तक

यह 1,000 श्लोको की है और इसमे विशेष रूप से व्याकरण की धातुओ का वर्णन है। यह उतनी ही उपयोगी है जितना कि उपर्युक्त सूत्र।

3. तीन खिलों पर पुस्तक

खिल का अर्थ है 'ऊजड़ भूमि'। इसका यह नाम इसलिए है कि (व्याकरण) यह (भाग) उस रीति के सदृश है जिससे किसान अनाज के लिए खेत तैयार करता है। इसे हम ऊजड भूमि के तीन टुकडो पर पुस्तक कह सकते है। (1) अष्टधातु, 1,000 श्लोक है, (2) वेन-च (मंड या मुंड), इसमें भी, 1,000 श्लोक है; (3) उणादि, यह भी 1,000 श्लोकों का है।

1. अष्टधातु—इसमें सात विभक्तियों (सुप्) दस लकारों[1] और अठारह अतिमो (तिङ् 2x9 पुरुष-सबधी प्रत्ययों) का वर्णन है।

क. सात विभक्तियां। प्रत्येक सज्ञा की सात विभक्तिया और प्रत्येक विभक्ति के तीन वचन होते है, अर्थात् एकवचन, द्विवचन और बहुवचन; इसलिए प्रत्येक सज्ञा के सब मिलाकर इक्कीस रूप होते है। उदाहरणार्थ, शब्द 'पुरुप' को लीजिए। यदि एक पुरुप से तात्पर्य हो तो यह 'पुरुषः' होता, दो हों तो 'पुरुपौ' और तीन (या अधिक) हों तो 'पुरुषा'। सज्ञा के इन रूपो को गुरु और लघु (सभवतः, 'स्वरयुक्त और स्वरहीन') या खुले सास से और बंद सांस से उच्चारण किए जानेवाले (शायद 'खुली स्वरवाली या बद स्वरवाली सज्ञाएं') भी कहा जाता है। सात विभक्तियों के अतिरिक्त आठवीं—संबोधन (आमत्रित)—भी है, जो आठ विभक्तियां पूरी कर देती है। जैसे पहली विभक्ति के तीन वचन है, वैसे ही बाकी सबके है। इनके रूप बहुत ज़्यादा होने से यहा नहीं दिए गए। संज्ञा सुबंत कहलाती है और (पदसिद्धि से) इसके (3x8) चौबीस रूप होते हैं।

ख. दस लकार। (किया के कालो के लिए) ल के साथ दस चिह्न है; क्रिया की रूपसिद्धि (मूलार्थत. उच्चारण) में तीन कालो, अर्थात् भूत, वर्तमान और भविष्य

1 इसका सकेत पाणिनि के लट्, लड्, लिट्, लिङ्, लुट्, लुड्, लृट्, लृड्, लेट्, लोट की ओर है।

का भेद प्रकट किया जाता है।

ग. अठारह तिङ्। ये (क्रिया के तीन वचनों के) उत्तम, मध्यम और प्रथम पुरुष के रूप है और योग्य और अयोग्य, या इस और उस[1] के भेद दिखलाते है।

इस प्रकार (एक काल मे) प्रत्येक क्रिया के अठारह भिन्न-भिन्न रूप है, जो तिडत कहलाते हैं।

2. वेन-च (मड या मुड में)—(धातु का एक या अनेक प्रत्ययो से) सयुक्त करके शब्दों के बनाने का वर्णन है। उदाहरणार्थ, संस्कृत में पेड के अनेक नामो मे से एक नाम 'वृक्ष'[2] है। इस प्रकार किसी वस्तु या विषय के लिए नाम, सूत्र के नियमो के अनुसार, जो बीस मे अधिक श्लोको के बने हैं, (अक्षरो को) इकट्ठा जोडकर बनाया जाता है।

3. उणादि—यह प्राय- वही है जो कि उपर्युक्त (मंड) है। भेद केवल इतना है कि जिस बात की एक में पूर्ण रूप से व्याख्या की गई है वह दूसरे में सक्षेप से लिखी गई है, और व्युत्क्रमम्।

तीन खिलों की पुस्तक को लड़के दस वर्ष को आयु मे सीखना आरभ करते हैं, और तीन वर्ष तक परिश्रम के साथ पढ़ने से उन्हें अच्छी तरह समझ जाते हैं।

4. वृत्ति-सूत्र (काशिका वृत्ति)

यह ऊपर के सूत्र (अर्थात् पाणिनि के सूत्र) की टीका है। पहले समयो मे अनेक टीकाएं रची गई थीं, और उन सबमे उत्तम है।

यह सूत्र का पाठ देती और इसके अनेक प्रकार के अर्थो की बड़ी बारीकी से व्याख्या करती है। इसमे सारे 18,000 श्लोक हैं। यह ब्रह्माड[3] के नियमों और देवताओं तथा मनुष्यो की मर्यादाओ को प्रकट करती है। पंद्रह वर्ष के लड़के इस वृत्ति को पढ़ना आरभ करते हैं, और पाच वर्ष में इसे समझ लेते हैं।

यदि चीन के मनुष्य भारत में अध्ययन के लिए जाये, तो उन्हे सबसे पहले (व्याकरण के) इस ग्रंथ का अध्ययन करना पड़ता है, फिर दूसरे विषय, यदि ऐसा न होगा तो उनका परिश्रम फेंक दिया जायेगा। ये सब ग्रथ कठस्थ होने चाहिए।

---

1 यहा 'आत्मनेपद और परस्मैपद' होना चाहिए था। 'यह और वह' शायद 'आत्मने' और 'परस्मै' को प्रकट करने की एक अस्पष्ट रीति हो, क्योकि चीनी में इन परिभाषाओं के लिए कोई पर्याय नहीं। फिर भी, 'योग्य और अयोग्य' बहुत विचित्र है।

2 वृक्ष एक उणादि शब्द हे जो व्रश्च् के साथ स् और कित् लगाने से बना है।

3 व्याकरण की एक टीका के लिए 'विश्वब्रह्माड में जो कुछ है उस सारे के नियम' कहना विचित्र जान पड़ता है, और यह बात काशिका पर घटती नही। इस वाक्य का अर्थ 'सूत्र में जो कुछ है उस सारे के नियम' लिया जा सकता है, जैसा कि म. फूजीशीमा ने लिया है। मेरा अनुवाद काश्यप और कसावरा से मिलता है।

परतु यह नियम उच्च बुद्धि के लोगो के लिए ही लागू है। मध्यम या थोडी योग्यता के मनुष्यो के लिए उनकी इच्छाओं के अनुसार एक भिन्न उपाय (विधि) का अवलबन करना चाहिए। उन्हे दिन-रात घोर परिश्रम के साथ अध्ययन करना, और एक पल भी व्यर्थ के विश्राम मे न खोना चाहिए।

यह वृत्ति-सूत्र जयादित्य[1] की रचना है। वह बहुत बड़ी योग्यता का मनुष्य था, उसकी साहित्यिक शक्ति बहुत आश्चर्यजनक थी। वह बात को एक ही बार सुनकर समझ लेता था, उसे दुबारा सिखाने का प्रयोजन नही होता था। वह तीन पूज्यो (अर्थात् त्रिरत्न) का आदर करता था और सदा पुण्य-कर्म किया करता था। उसकी मृत्यु हुए आज कोई तीस वर्ष हुए है (सन् 661-662)। इस वृत्ति का अध्ययन कर चुकने के पश्चात्, विद्यार्थी गद्य और पद्य की रचना सीखना आरंभ करते हे और हेतुविद्या तथा अभिधर्म-कोश में लग जाते है। न्याय-द्वार-तारक-शास्त्र[2] के अध्ययन से वे ठीक तौर पर अनुमान करते हैं; और जातकमाला के अध्ययन से उनकी ग्रहण-शक्ति बढती है। इस प्रकार अपने उपाध्यायो से शिक्षा पाते और दूसरो को शिक्षा देते हुए वे प्राय मध्य भारत के नालद-विहार मे, या पश्चिमी भारत के वलभी (वला) देश मे दो-तीन वर्ष व्यतीत करते हैं। ये दोनो स्थानो मे प्रसिद्ध ओर प्रवीण मनुष्य दल के दल इकट्ठे होकर संभव और असंभव सिद्धांतों पर विवाद करते हैं और जब ज्ञानियों-द्वारा उन्हे अपने मतों की विशिष्टता का निश्चय हो जाता है तब वे अपने पाडित्य के लिए दूर-दूर तक प्रसिद्ध हो जाते हैं। अपनी बुद्धि की तीक्ष्णता (मूलार्थत 'खंग की तीक्ष्ण नोक') की परीक्षा के लिए वे राजा की सभा मे जाकर (अपनी योग्यताओ का) तीक्ष्ण शस्त्र उसके सामने रख देते है, वहा वे व्यावहारिक शासन में अधिक पाने के उद्देश्य से अपनी कल्पनाए उपस्थित करते और अपनी (राजनीतिक) योग्यता प्रदर्शित करते हैं। जब वे विवाद-भवन मे उपस्थित होते हैं तब अपने आसन[3] को उठाकर अपनी आश्चर्यजनक चतुराई प्रमाणित करने की चेष्टा करते है।

जब वे नास्तिकवाद का खंडन करते है तब उनके सभी प्रतिपक्षी विस्मित हो जाते है और अपनी हार स्वीकार करते हैं। तब उनकी कीर्ति-ध्वनि से (भारत

---

1 इसने वामन के साथ मिलकर काशिकावृत्ति की रचना की थी। काशिका का मूलपाठ बनारस-सस्कृत-कॉलेज मे हिंदू-धर्म-शास्त्र के महोपाध्याय पंडित बालशास्त्री ने (1876, 1878) प्रकाशित किया था। बालशास्त्री ने 1,2,5 और 6 जयादित्य के, और शेष वामन के ठहराए हैं।

2 यह नागार्जुन की बनाई हेतुविद्या की भूमिका है।

3 मूलार्थत 'आसनो को बढाना या दुगुना करना'। यह बहुत स्पष्ट नहीं। काश्यप कहता है कि यह एक भारतीय रीति थी कि जब एक मनुष्य शास्त्रार्थ मे हार जाता था तो उसको अपना आसन विजेता के लिए छोड देना पडता था, जो उसे लेकर अपने आसन में मिला लेता था। इत्सिग इस परिभाषा का व्यवहार अपने 'प्रसिद्ध भिक्षुओं के वृत्तात' में भी करता है।

के) पाचो पर्वत गूंज उठते है और उनकी प्रसिद्धि मानो चारों सीमाओं के ऊपर से वहने लगती है। उन्हें भूमि मिलती है और उनकी पदोन्नति की जाती है; उनके विख्यात नाम, पुरस्कार के रूप में, उनके ऊंचे द्वारो पर सफेदी से लिखे जाते हैं। इसके पश्चात् जो व्यवसाय उन्हे पसद हो उसे वे कर सकते है।

6. चूर्णि

इसके अनतर वृत्ति-सूत्र पर चूर्णि नाम की एक टीका है, जिसमें 24,000 श्लोक है।

यह प पतजलि की रचना है। फिर, इसमें भी पहले सूत्र (पाणिनि) देकर अस्पष्ट बातो की व्याख्या (मूलार्थत' 'खाल को छेदना') और इसमें वर्णित नियमो का विश्लेषण किया गया है, और यह अनेक कठिनाइयो को साफ करके[1] पिछली वृत्ति[2] की व्याख्या करती है। प्रौढ विद्यार्थी इसे तीन वर्ष में सीख लेते हैं।

7. भर्तृहरि-शास्त्र

इसके अनंतर भर्तृहरि-शास्त्र है[3]। यह पूर्वोल्लिखित चूर्णि की टीका है और भर्तृहरि नाम के एक परम विद्वान् की रचना है। इसमे 25,000 श्लोक हैं और मानव-जीवन तथा व्याकरण-शास्त्र के नियमो का पूर्ण रूप से वर्णन है। यह अनेक वशो के उत्थान और पतन के कारण भी बताती है। ग्रंथकार विद्यामात्र के सिद्धात से भली-भाति परिचित था और उसने हेतु तथा उदाहरण पर बड़ी कुशलता से विचार किया है। यह विद्वान् भारत के पाचो खडों में सर्वत्र बहुत प्रसिद्ध था और उसकी विशिष्टताओं को लोग सब कही ('आठों दिशाओ मे') जानते थे। उसका 'तीन रत्नों' (अर्थात् रत्नत्रय) में अगाध विश्वास था और वह 'दोहरे शून्य'[4] का बड़ी धुन से ध्यान करता था। सर्वोत्कृष्ट धर्म के आलिंगन की इच्छा से वह परिव्राजक हो गया, परतु सांसारिक वासनाओ के वशीभूत होकर वह फिर गृहस्थी में लौट गया। इसी रीति से वह सात बार परिव्राजक बना और सात ही बार मे फिर गृहस्थी मे लौट गया। जब तक

1 चूर्णि का अर्थ है पीसना और उसका व्यवहार पतजलि की टीका के नाम के रूप मे होना है। निस्सदह इसका सकेत पतजलि के महत्त्वपूर्ण ग्रथ, महाभाष्य की ओर है।

2 क्या यहा कात्यायन के वार्तिक को 'वृत्ति' कहा गया है, अथवा व्याडिप्रणीत सग्रह को ? यह विद्वानो को विचारना चाहिए। हो सकता है, महाभाष्य से पहले भी कोई वृत्ति पाणिनि के अष्टक पर हो।—भगवद्दत्त।

3. इस ग्रथ का वास्तविक नाम त्रिपदी है। इसमे महाभाष्य के प्रथम तीन पादो की ही विस्तृत व्याख्या है। इसके कुछ भाग का एक पुराना लिखित ग्रथ बर्लिन के पुस्तकालय मे है। उसी का फोटो मद्रास के राजकीय हस्तलिखित ग्रंथो के सग्रह में है।—भगवद्दत्त।

4. 'दोहरा शून्य', अर्थात् 'आत्मा और धर्म दोनों खाली दिखलावा हैं।'

कारण और कार्य की सच्चाई में मनुष्य का पूरा-पूरा विश्वास न हो, वह उसके सदृश उत्साह-पूर्वक कार्य नहीं कर सकता। उसने आत्मनिंदा से भरे हुए ये श्लोक लिखे है—

संसार के प्रलोभन के द्वारा मै गृहस्थी मे लौट आया।
सांसारिक सुखो के मुक्त होकर मे फिर परिव्राजक का चोला पहनता हू।
ये दो मनोवेग किस प्रकार
मुझे बालक समझकर मेरे साथ खेल रहे है ?

वह धर्मपाल[1] का समकालीन था। एक बार जब मठ मे प्रव्रजित (बनकर रहता) था, सासारिक कामनाओं से तंग आकर उसकी रुचि गृहस्थी मे लौट जाने की हुई हे। परंतु वह दृढ रहा और उसने एक विद्यार्थी को मठ के बाहर एक गाडी लाने को कहा। कारण पूछने एक उसने उत्तर दिया—'यह वह स्थान है जहा मनुष्य पुण्य-कर्म करता है और उन लोगो के निवास के लिए है जो शील रखते हैं। अब मेरे भीतर मनोरोग पहले ही प्रबल हो चुका है और मै सर्वोत्तम धर्म पर चलने मे असमर्थ हूं। मेरे जैसे मनुष्य को प्रत्येक प्रदेश से यहा आए हुए परिव्राजकों की सभा मे घुसना नही चाहिए।'

तब वह उपासक की अवस्था मे वापस चला गया और मठ में रहते हुए, एक श्वेत वस्त्र पहनकर, सच्चे धर्म की उन्नति और वृद्धि करता रहा। उसकी मृत्यु हुए चालीस वर्ष हुए है (सन् 651-652)।

8. वाक्य-पदीय

इनके अतिरिक्त वाक्य-पदीय है। इसमें 700 श्लोक है, और इसका टीकाभाग 7,000 श्लोको का है। यह भी भर्तृहरि की ही रचना है। यह पवित्र शिक्षा के प्रमाण-द्वारा समर्थित अनुमान पर, और व्याप्ति-निश्चय की युक्तियों पर, एक प्रबंध है।

---

1 एक के सिवाय बाकी सब सस्करणो में 'धर्मपाल' है, परतु एक में 'धर्म के अनेक उपाध्याय' है जो कि लेख की भूल जान पड़ती है, क्योंकि पहले उपाध्यायो का उल्लेख किए विना कोई मनुष्य एसा नहीं कह सकता है कि 'वह धर्म के अनेक उपाध्यायो का समकालीन था'। इत्सिग ने पहले कभी कहीं 'धर्म के उपाध्यायों' का उल्लेख नही किया। उसने ऊपर जिन वैयाकरणों (अर्थात् पाणिनि, जयादित्य और पतजलि) का उल्लेख किया है उनमे मे केवल एक जयादित्य को ही बौद्ध लिखा गया है, परतु भिक्षु नहीं। इसलिए वह 'धर्म का उपाध्याय' नही। इसलिए पूर्वापर से हम कोई दूसरा पाठ ग्रहण करने पर विवश है। अनेक पाठो से मिलाने के बाद, जापानी सस्करण ने 'धर्मपाल' रखा है, और एक ही पुस्तक मे मिलनेवाले 'धर्म के अनेक उपाध्याय' पाठ को छोड दिया है। 'धर्मपाल' पाठ के विषय में किसी प्रकार का भी सदेह नहीं। दुर्भाग्य से म फूजीसीमा के पास एक बुरी पुस्तक थी, और उसने अनिश्चित रूप से अनुवाद किया है। ऊपर का लेख लिख चुकने के बाद मैने देखा है कि काश्यप के पाठ में 'शास्त्र का एक उपाध्याय', 'धर्मपाल' हे। इससे भी हमारे पाठ धर्मपाल की पुष्टि होती है और किसी सदेह की गुंजाइश नही रह जाती।

9. पेइ-न

इसके अनतर पेइ-न (संभवत: सस्कृत 'बेडा' या 'वेडा')[1] है।[2] इसमें 3,000 श्लोक है, और इसका टीका-भाग 14,000 श्लोको मे है। श्लोक-भाग भर्तृहरि-की रचना हे और टीका-भाग शास्त्र के उपाध्याय, धर्मपाल का माना जाता है। यह पुस्तक आकाश और पृथ्वी के गभीर रहस्यों की थाह लेती है और इसमें मनुष्य-दर्शन (मूलार्थत 'मानवी नियमों के तात्त्विक सौदर्य') का वर्णन है। जो मनुष्य इस (पुस्तक) तक पढ़ लेता है उसे व्याकरण-शास्त्र का पूर्ण पडित कहा जाता है। उपर्युक्त सभी पुस्तको का अध्ययन भिक्षु और उपासक दोनो करते है, यदि ऐसा न करे तो वे 'बहुश्रुत' होने की प्रतिष्ठा नही पा सकते।

इनके अतिरिक्त भिक्षु लोग सारे विनय-ग्रथ पढते और सूत्रो तथा शास्त्रो का निरूपण करते है। वे नास्तिको का विरोध इस प्रकार करते है जैसे मैदान के मध्य मे पशुओं (मृगों) को भगा रहे हो और विवादों का समाधान इस प्रकार करते है जैसे उबलता हुआ पानी पाले को पिघला देता है। इस प्रकार वे सारे जबूद्वीप (भारत) में प्रसिद्ध हो जाते हैं, मनुष्यों और देवताओं से बढकर उनका सम्मान होता है, बुद्ध की सेवा क्या उसके धर्म की वृद्धि करते हुए वे सब लोगों को (निर्वाण तक) पहुचा देते है। प्रत्येक पीढी मे ऐसे मनुष्यों में से केवल एक या दो ही प्रकट हुआ करते है। उनकी उपमा सूर्य और चद्र से होती है, या उन्हे नाग और हाथी[3] की तरह समझा जाता है। पहले समय में नागार्जुन, देव, अश्वघोष, मध्यकाल मे वसुबधु, असंग, संगभद्र और भवविवेक; और अतिम समय में जिन, धर्मपाल, धर्मकीर्ति, शीलभद्र, सिहचंद्र, स्थिरमति, गुणमति, प्रज्ञागुप्त ('मतिपाल' नही), गुणप्रभ, जिनप्रभ (या 'परमप्रभ') ऐसे मनुष्य थे।

इन महोपाध्यायो मे से किसी में उपर्युक्त प्रकार के सद्गुणों में से किसी एक की भी, चाहे वह सासारिक हो या धार्मिक, कमी न थी। ये मनुष्य लोभ से रहित होकर, आत्मसंतोष का अभ्यास करते हुए, अनुपम जीवन बिताते थे। ऐसे

---

1 इस नाम की एक पुस्तक, अर्थात् वैडा-वृत्ति, डेक्कन कॉलेज, बबई, मे श्री स क भडारकर की हस्तलेखो की सूची में (1888, p 146, No 381) मिलती है; (Aufrecht's Catalogus Catalogorum p 198, under ganmambhodhi (जन्माम्भोधि)।

2 यह ग्रथ प्रकीर्णक प्रतीत होता है। काशी-सस्करण मे हस्तलेखाभाव से यह सारा नहीं छप सका। पूर्वोक्त सस्करण मे यह समग्र छपेगा। इस पर काश्मीरी पंडित हेलराज की बृहत् टीका है। धर्मपाल की टीका अभी तक नहीं मिली।—भगवद्दत्त।

3 काश्यप कहता है कि यह 'नाग और हाथी' नही, किंतु यह 'नाग-हाथी' है, क्योकि सबसे अच्छे प्रकार का हाथी 'नाग' कहलाता है। उसका कथन ठीक जान पडता है, ऐसा ही पालि मे 'एते नागा महापज्जा' (समतपासादिका, पृष्ठ 313) है।

चरित्र के मनुष्य नास्तिका अथवा दूसरे लोगों में बहुत कम पाए गए हैं

(इत्सिंग की टीका इनके जीवन-चरित भारत के दस धर्मशील मनुष्यों (या भदंतों) की 'जीवनी' (जिन–जिनप्रभ) में सविस्तार दिए गए हैं।

धर्मकीर्ति ने ('जिन' के पश्चात्) हेतुविद्या को और सुधारा; गुण-प्रभ के विनय-पिटक के अध्ययन को दुबारा लोकप्रिय बनाया, गुणमति ने अपने आपको ध्यान-सम्प्रदाय के अर्पण कर दिया और प्रज्ञागुप्त (मतिपाल नहीं) ने सभी विपक्षी मतों का खंडन करके सच्चे धर्म का प्रतिपादन किया। जिस प्रकार अमूल्य रत्न अपने सुंदर वर्णों का प्रकाश विस्तीर्ण और अथाह सागर में करते हैं, जहां केवल हेल मछलियां ही रह सकती हैं, और जिस प्रकार औषधीय जड़ी-बूटियां अपने सर्वोत्तम गुण अपरिमेय ऊंचाईवाले गंधमादन पर्वत पर उपस्थित करती है, उसी तरह सब प्रकार के योग्य मनुष्य उन लोगों में पाए जाते है जो विशाल और व्यापक बुद्ध-धर्म के अनुयायी है। चाहे जिस विषय की आवश्यकता हो, ये लोग उसी स्थान पर ग्रंथ रच सकते थे। ऐसे मनुष्य केवल एक ही बार सुनकर, दो ग्रंथों[1] के विषयों को कंठस्थ कर सकते थे। तब उन्हे एक पुस्तक को सौ बार पढने का क्या प्रयोजन था ?

(इत्सिंग की टीका)–एक नास्तिक ने 600 श्लोक बनाए और उनके साथ वह धर्मपाल से विवाद करने लगा; धर्मपाल ने अपने विपक्षी के श्लोकों को, सभा के सामने केवल एक बार सुनकर, समझ और याद कर लिया था[2]।

भारत के पांचों भागों में ब्राह्मण सर्वत्र सबसे अधिक माननीय (वर्ण) समझे जाते हैं। जब वे एक स्थान में एकत्र होते है तब दूसरे तीन वर्णों के साथ नहीं मिलते, और मिश्रित वर्णों के लोगों का मेल-जोल तो उनके साथ और भी कम है। जिन धर्म-ग्रंथों का वे पूजन करते हैं वे वेद हैं, जिनमें कोई 1,00,000 मंत्र है,[3] वेद के मुख से दूसरे मुख में चले आ रहे हैं। वे कागज या पत्तों पर नहीं लिखे गए[4]। प्रत्येक पीढ़ी में कुछ ऐसे ब्राह्मण रहते हैं जो 1,00,000 मंत्रों को सुना सकते है। प्रबल मानसिक शक्ति प्राप्त करने के लिए भारत में दो परंपरागत रीतियां हैं। एक तो, बार-बार कंठस्थ करने से बुद्धि विकसित हो जाती है, दूसरे, वर्णमाला

---

1 'दो ग्रंथ', 'संभवत नास्तिक के 600 श्लोक दो ग्रंथों में थे। इत्सिंग का एक ग्रंथ से तात्पर्य प्राय 300 श्लोक होता है।

2 यह कथा ह्यून-थ्सांग के वृत्तांत में पूर्ण रूप से दी गई है।

3 यह जनोक्ति बहुत पुरानी प्रतीत होती है। पुराणों में भी ऐसा ही उल्लेख है। इस समय ऋग्वेद में 10, 589, यजुर्वेद में 1,975, सामवेद में लगभग 1,800 और अथर्ववेद में लगभग 6,000 मंत्र है। कुल मिलाकर कोई 20,000 मंत्र बनते है। शतपथब्राह्मण 10।4।2।23।24।। में ऋग्, यजु और साममंत्रों की संख्या 24,000 बृहति छंद के परिमाण की कही है।–भगवद्दत्त।

4 कम-से-कम उत्तरी भारत में अलबेरूनी के काल से कुछ पहले तक यही प्रथा जारी थी। देखो अलबेरूनी–भगवद्दत्त।

मनुष्य के विचारो को स्थिर कर देती है। इस रीति से, दस दिन या एक मास के अभ्यास के अनंतर, विद्यार्थी अनुभव करता है कि उसके विचार झरने के सदृश उठ रहे है, और जिस बात को उसने एक बार सुन लिया है उसे वह कठस्थ कर सकता है (उसे दुबारा पूछने की आवश्यकता नहीं रहती)। यह कोई कल्पित कथा नही, क्योंकि मैने स्वयं ऐसे मनुष्य देखे है।

पूर्वी भारत मे चद्र नाम का (मूलार्थत:, 'चद्र-अधिकारी', शायद यह 'चंद्रदास' हो) एक महापुरुष रहता था। वह बोधिसत्त्व के सदृश महामति था। जब मै, इत्सिग, उस देश मे गया था तब वह अभी जीता ही था। एक दिन एक मनुष्य ने उससे पूछा—'कौन-सा अधिक हानिकारक है, प्रलोभन या विष ?' उसने तत्काल उत्तर दिया—'वास्तव में, इन दो मे बड़ा भेद है; विष केवल उसी समय हानिकारक होता है जब उसे खा लिया जाये, परतु दूसरे के चिंतन-मात्र से ही मनुष्य की बुद्धि नष्ट हो जाती है'।

काश्यप-मातग और धर्मरक्ष[1] ने पूर्वी राजधानी लो (होनन-फू) में सुसमाचार का प्रचार किया; परमार्थ[2] की कीर्ति दक्षिणी सागर (अर्थात् ननकिग) तक पहुची थी, और पूजनीय कुमारजीव[3] ने विदेश (चीन) के सामने धर्मशीलता का आदर्श उपस्थित किया था। पीछे से भदत ह्वेन-थ्साग स्वदेश में अपना व्यवसाय करता रहा। इस रीति से, भूत और वर्तमान मे, आचार्यों ने बुद्ध-धर्म की ज्योति (या 'बुद्ध के सूर्य') को दूर-दूर तक फैलाया है।

जो लोग 'भाव' और 'अभाव' के सिद्धातो को सीखते हैं उनके लिए स्वय त्रिपिटक ही उनका गुरु होगा, और जो लोग ध्यान और प्रज्ञा का अभ्यास करते है उनके पथदर्शक सात बोधि-अंग[4] होगे।

पश्चिम में इस समय रहनेवाले (सबसे विख्यात) आचार्य ये हैं,—ज्ञानचद्र, जो धर्म का एक गुरु है, (मगध में) तिलढ[5] विहार में रहता है; नालंद विहार मे

---

1 ये चीन में पहले दो भारतीय बौद्ध थे, वे चीन में सन् 67 में आए और उन्होने अनेक सूत्रो का अनुवाद किया। Nanjio's App ii, I and 2

2. परमार्थ चीन में सन् 548 मे आया, और उसने इकतीस ग्रंथों का अनुवाद किया।

3 कुमारजीव चीन मे सन् 401 के लगभग आया, ओर उसने पचास संस्कृतपुस्तको का चीनी मे अनुवाद किया। Nanjio's App. ii 59, 104-105

4. बोधि के सात अंग, अर्थात् स्मरण, निरूपण, उत्साह, हर्ष, प्रशाति, चितन और समचित्तता। देखो Childers S V. बोज्झगों, Burnouf कमल, 796, Kasawara, धर्मसग्रह, 49; महाव्युत्पत्ति 39

5 तिलढ विहार ह्वेनसाग का तिलढक है (Julien, Memoires, viii, 440, and Vie, iv, 211) इत्सिग इस विहार को अपने वृत्तात मे नालद से दो योजन की दूरी पर लिखता हे (देखो Chavannes, p 46 note आधुनिक तिल्लार, नालद के पश्चिम में Cf Cunningham, Ancient Geography of India 456

रत्नसिंह, पूर्वी भारत मे दिवाकर मित्र[1]; और अति दक्षिण प्रांत मे तथागत गर्भ रहता है। दक्षिणी सागर के श्रीभोज में शाक्यकीर्ति निवास करता है, जिसने शिक्षा-प्राप्ति के लिए भारत के पांचो देशो की यात्रा की थी और इस समय श्रीभोज (सुमात्रा) मे हे।

ये लोग अपने उज्ज्वल चरित्र के लिए समान रूप से प्रसिद्ध है, प्राचीनो के बराबर है और ऋषियों के चरण-चिह्नो का अनुसरण करने के लिए उत्सुक है। जब वे हेतुविद्या की युक्तियां समझ लेते हैं तब जिन (हेतुविद्या का बडा सुधारक) के सदृश बनने की आकाक्षा करते हैं, योगाचार्य के सिद्धात को चखते हुए वे उत्साहपूर्वक असगवाद का अनुसंधान करते है।

जब वे 'नास्ति' पर सवाद करते हैं तब चतुराई से नागार्जुन का अनुकरण करते है; जब 'अस्ति' का वर्णन करने लगते हैं तब संघभद्र की शिक्षा को सपूर्ण रूप से थाह लेते हैं। मै, इत्सिग, इन आचार्यो के साथ ऐसी घनिष्ठता से वार्तालाप किया करता था कि उनसे व्यक्तिगत रूप से अमूल्य उपदेश प्राप्त कर सकता था (शब्दार्थ, मैं उनके आसनों और लिखने के फलकों के निकट गया और उनके प्रशंसनीय शब्दों को ग्रहण किया और उनसे हर्षित हुआ)।

मुझे सदा इस बात से बडी प्रसन्नता होती है कि मुझे व्यक्तिगत रूप से उनसे ज्ञान प्राप्त करने का अवसर मिला था जो अन्यथा मै कभी प्राप्त न कर सकता, और मैं पुरानी टीकाओं का नवीनो के साथ मिलान करके अपने पिछले अध्ययन की स्मृति को ताज़ा कर सकता था।

मेरी एकमात्र कामना यह है कि मैं उस प्रकाश को पाऊं जो एक काल से दूसरे काल को मिलता रहा है। मुझे संतोष इसी बात मे है कि मैंने (प्रात:काल) धर्म सीख लिया है, और मेरी इच्छा धूल की भाति उठनेवाले सैकडो सदेहो को मिटा देने की है, और (यदि मेरी इच्छा सवेरे पूरी हो जाय तो) सायंकाल को मर जाने से मुझे कोई खेद नहीं होगा।

गृध्रकूट पर पीछे पडे रह जानेवाले थोडे-से रत्नों को अब तक भी बटोरते हुए, मैंने कुछ अत्युत्तम रत्न पाए है; नागनदी (=अजिर्वती) में सौपी हुई मणियो की खोज करते हुए मुझे कुछ अत्युत्कृष्ट मणियां मिली हैं। रत्नत्रय की अदृष्ट सहायता ओर राजकृपा के दूर तक पहुंचनेवाले प्रभाव से मै अपनी यात्रा-रूपी धारा को पूर्व की ओर मोडने मे समर्थ हुआ, और ताम्रलिप्ति[2] से पोत पर सवार होकर श्री भोज मे आ पहुंचा।

---

1 हर्षचरित, (कश्मीर संस्करण, पृ 488 तथा 497) में एक दिवाकर मित्र का बौद्ध भदत के रूप मे उल्लेख है। म फूजिसीमा भूल से शक्रमित्र लिखना है। देखो जूलियन, (Methode pour Dechiffrer les Noms Sanscrits, p 70)

2. हुगली के मुहाने के निकट. पूर्वी भारत मे एक प्राचीन व्यापारिक बदरगाह।

यहा आए मुझे चार से अधिक वर्ष हो चुके है। यहा मैं विविध रीतियो से अपने समय को काम मे लगा रहा हू, और मैंने अभी इस स्थान को छोडकर स्वदेश जाने का निश्चय नही किया।

32

केशों के विषय में नियम

भारत के पाचो खडो में सर्वत्र बिना सिर मुडाए कोई भी मनुष्य सारी अतिम प्रतिज्ञाए (मूलार्थत 'पूर्ण शील') नही ले सकता, न विनय मे इसके लिए कोई उदाहरण है ओर न पुराने समय मे कभी कोई ऐसी रीति ही थी। क्योकि यदि भिक्षु भी साधारण उपासक जैसे ही स्वभाव रखता है तो वह दोषो से बच नहीं सकता। यदि मनुष्य शीलो पर चल नही सकता तो उसका उन पर चलने की प्रतिज्ञा लेना व्यर्थ है।

इसलिए यदि मनुष्य का मन भिक्षु होने पर लगा हो तो उसे चाहिए कि सिर मुंड़ने के लिए कहे, रगा हुआ चोला पहने, अपने विचारो को पवित्र करे ओर मोक्ष को अपना लक्ष्य बनाए। उसे पाच और फिर दस शीलों का पालन करने मे न चूकना चाहिए। जिसने सभी शीलो का पालन करने की प्रतिज्ञा शुद्ध अत करण से की है उसे विनय-पुस्तको के अनुसार उनका अनुष्ठान करना चाहिए।

(इत्सिंग की टीका)—आठ शास्त्र ये है—

1 विद्यमान विंशति (-गाथा)-शास्त्र या विद्यामात्रसिद्धि (वसुबधु-कृत)।
2. विद्यामात्रसिद्धि-त्रिदशशास्त्र-कारिका (वसुबंधु-कृत)।
3. महायानसपरिग्रह-शास्त्रमूल (असंग-कृत)।
4 अभिधर्म (-संगीत)-शास्त्र (असंग-कृत)।
5. मध्यांतविभाग-शास्त्र (वसुबधु-कृत)।
6. निदान-शास्त्र (उल्लंख-कृत)।
7. सूत्रालकार-टीका (असग-कृत)।
8 कर्मसिद्ध-शास्त्र (वसुबंधु-कृत)।

यद्यपि उपर्युक्त शास्त्रो मे वसुबंधु के कुछ ग्रंथ है, परतु (योग-पद्धति मे) सफलता असग की मानी जाती है (इसलिए असंग के ग्रंथो मे वसुबधु की पुस्तको का समावेश है)।

जो भिक्षु हेतुविद्या में अपने आपको विख्यात करना चाहता है उसे 'जिन' के आठ शास्त्रो को संपूर्ण रूप से समझ लेना चाहिए।

वे ये है—

1 तीन लोकों के ध्यान का शास्त्र मिला नहीं)

2 सवलक्षणध्यान-शास्त्र (कारिका) (जिन-कृत)।

3. विपय के ध्यान का शास्त्र (जिन-कृन)। संभवत. आलवन-प्रत्यय ध्यान-शास्त्र (नजियो की नामावली, सं. 1173)।

4. हेतुद्वार पर शास्त्र (नहीं मिला)।

5 हेत्वाभासद्वार पर शास्त्र (नहीं मिला)।

6. न्यायद्वार (तारक)-शास्त्र (नागार्जुन-कृत)।

7. प्रज्ञपति-हेतु-सग्रह (?) शास्त्र (जिन-कृत)।

8 एकीकृत अनुमानो पर शास्त्र (नही मिला)।

अभिधर्म का अध्ययन करते समय उसे छः पादो[1] का सपूर्ण पाठ करना चाहिए और आगमो[2] को सीखते समय चार निकायों के सिद्धांतों का अखड रूप से निरूपण करना चाहिए। इन सब पर अधिकार हो जाने के पश्चात् भिक्षु नास्तिको और विवाद करनेवालों का सफलतापूर्वक मुक़ाबिला कर सकता है और धर्म की सच्चाइयो की व्याख्या करके सवको बचाने मे समर्थ हो जाता है। वह दूसरो को ऐसे उत्साह के साथ शिक्षा देता है कि उसे थकावट मालूम ही नही होती। वह अपने मन मे 'दोहरे शून्य' के चितन का अभ्यास करता है। वह 'आठ श्रेष्ठ मार्गों' द्वारा अपने हृदय को शांत करता है, सावधानी से 'चार ध्यानो' में लग जाता है और सात स्कधो[3] के नियमों का ठीक-ठीक पालन करता है।

---

1 अभिधर्म पर ये छ निबध है, और इन सबका संबंध सर्वास्तिवादनिकाय से है, सख्या 1276, 1277 1281, 1282, 1296 और 1317

2 आगम (त्रिपिटक का एक विभाग) ये हे—

(i) दीर्घागम (30 सूत्र, तुलना कीजिए दीर्घनिकाय, 34 सुत्त)।

(ii) मध्यमागम (222 सूत्र, तुलना कीजिए, प्रज्जिमनिक, 152 सुत्त)।

(iii) सम्युक्तागम (सम्युत्तनिकाय, 7760 सुत्तंत)।

(iv) एकोत्तरागम (अंगुत्तरनिकाय, 9557 सुत्तत)।

पालि मे पाच निकाय है, पाचवा खुद्दकनिकाय (15 भाग) है।

2 सात स्कन्धो मे भिक्षुओं से सबध रखनेवाले विशेष अपराध हे—

(i) पाराजिक पाप वह हे जिसके लिए भिक्षु को निकाल दिया जाता है।

(ii) संघादिशेष अपराधो की संख्या तेरह है। इनके लिए रोक और पश्चाताप की आवश्यकता होती है, परतु निकाल देने की नहीं।

(iii) स्थूलात्याय एक घोर अपराध (थुल्लच्चय) है।

(iv) प्रायश्चित्तिक अपराधों की सख्या बानबे है, ओर उनके लिए अंगीकार और क्षमा (पाचित्तिय) का प्रयोजन है।

(v) नैसर्गिक सख्या में तीस हे। वे प्रायश्चित्तिक पाप है, जिनके साथ जब्ती (निस्सग्गिय) भी ह।

(vi) दुष्कृत (दुक्कत)।

(vii) दुर्भाषित (दुब्भाषित)।

देखो आपत्तिखड़ो चाइल्डर का पालि अभिधान चुल्लवग्ग 9. 3. 3.

जो लोग इस प्रकार जीवन व्यतीत करते हैं वे उच्चकोटि के है।

कुछ लोग ऐसे है जो यद्यपि उपर्युक्त महात्माओ की तरह आचरण नहीं कर सकते, पर घर के कामों मे बहुत बधे हुए नही। उनका जीवन सरल तथा निष्कपट है, और वे सासारिक चिताओ को छोड देने की इच्छा रखते है। यदि उनसे कोई चीज मागी जाये तो वे पात्र को दे देते है।

वे बहुत सादा वस्त्र रखते हैं, और केवल शिष्टता का ध्यान रखते है। वे आठ उपदेशो (शील) का दृढता से पालन करते और आयुपर्यंत उद्यमशील बने रहते हैं।

आठ उपदेश ये है—(1) हत्या न करना, (2) चोरी न करना, (3) व्यभिचार न करना, (4) झूठ न बोलना, (5) मदिरा न पीना, (6) न सगीत मे प्रसन्न होना, न हार पहनना और न सुगंधित पदार्थो से अभिषेक करना, (7) ऊंचे और चौडे पलग का उपयोग न करना, (8) निषिद्ध समयो मे भोजन न करना।

वे तीन पूज्यों (अर्थात् तीन रत्नों) मे विश्वास रखते और उनका सम्मान करते है और अपने आपको निर्वाण-प्राप्ति में लौलीन करके (या निर्वाण को लक्ष्य बनाकर) अपने विचारो को उसी पर एकाग्र कर देते हैं।

इन व्यक्तियो की पदवी क्रम मे (उच्च श्रेणियों से) दूसरी है।

ऐसे लोग भी हैं जो, (सांसारिक कार्यो की) सीमाओं मे रहते हुए, अपनी स्त्रियो का भरण-पोषण तथा बच्चो का पालन और शिक्षण करते है। वे अपने श्रेष्ठ लोगों की सम्मानपूर्वक पूजा और अपने से नीच लोगो पर दया करते है।

वे पांच उपदेशों को ग्रहण और उनका पालन करते हैं और सदा उपवास के चार दिन (उपवसथ) मनाते है।

उपवास के चार दिन ये है—

(क) कृष्णपक्ष मे, अष्टमी और चतुर्दशी या दशमी और अमावस्या। (ख) शुक्लपक्ष में, अष्टमी और पूर्णिमा।

इन दिनों में मनुष्य को आठ उपदेश लेने चाहिए। यह क्रिया 'पवित्र अनुष्ठान' कहलाती है। यदि मनुष्य बाकी सात को छोडकर केवल आठवां उपदेश ('निर्दिष्ट समय के सिवा भोजन न करना') ही लेता है लो उसे बहुत थोडा पुण्य (मूलार्थत· 'सुख का हेतु') मिलता है। आठवे उपदेश का प्रयोजन दूसरे सात उपदेशो के उल्लघन से बचता है, न कि व्यर्थ में पेट को भूखा रखना।

वे दूसरों के प्रति सहानुभूति का बर्ताव करते और अपने आपको सावधानी से संयम में रखते है। वे कोई निर्दोष व्यवसाय करते है और अधिकारियो को कर देते हैं। ऐसे लोग भी अच्छे मनुष्य समझे जाते हैं।

निर्दोष व्यवसाय से अभिप्राय वाणिज्य से है, क्योंकि इससे जीवों की हानि नहीं होती। इस समय भारत मे वणिकों को किसानों से अधिक सम्मान की दृष्टि से देखा

जाता है, इसका कारण यह है कि कृपि से अनेक कृमियो के प्राणों की हानि होती है। रेशम के कीड़े पालने या पशु-वध करने से मनुष्य को भारी पाप लगता है।

वर्ष भर मे करोडो जीवो की हानि होगी। ऐसे व्यापार को चिरकाल तक करते रहने से, चाहे वह दोपयुक्त न समझकर ही किया जाता रहा हो, मनुष्य को अगले जन्मों मे असख्य रीतियों से इसका प्रतिफल भोगना पड़ेगा। जो ऐसा व्यवसाय नहीं करता वह 'निर्दोष' कहलाता है।

परतु कुछ दुर्मति लोग ऐसे है जो, पशुवत् जीवन व्यतीत करते हुए, तीन शरणो (अर्थात् बुद्ध की शरण, धर्म की शरण और संघ की शरण) को नही जानते और अपने जीवन में एक भी उपदेश का पालन नही करते। ये लोग, जिनको यह ज्ञात नही कि निर्वाण पूर्ण शाति की अवस्था है, कैसे जान सकते है कि उनके अगले जन्म चक्र की भांति घूमेंगे ?

इस भ्रम मे पड़े हुए वे पाप पर पाप करते चले जाते हैं। ये लोग सबसे नीच श्रेणी के हैं।

33

मृत्यु के पश्चात् कार्यों का प्रबंध

मृत भिक्षु के कार्यों के प्रबंध की रीति का विनय में पूर्ण रूप से वर्णन है। मैं यहां सक्षेप से बहुत आवश्यक बातें देता हू। सबसे पहले इस बात का पता लेना चाहिए कि कोई ऋण तो नही; मृत व्यक्ति कोई मृत पत्र तो नहीं छोड गया और रुग्णावस्था मे कौन उसकी सेवा करता रहा है। यदि ऐसी अवस्था हो तो संपत्ति का बंटवारा राजनियम के अनुसार होना चाहिए। जो सपत्ति बच जाये उसे उचित रूप से बांट देना चाहिए।

उदान (त्रिपिटक का एक भाग) का एक श्लोक है—

'भूमि, घर, दुकाने, बिछौने की सामग्री,
तांबा, लोहा, चमड़ा, उस्तरे, बर्तन,
कपडे, छडियां, पशु, पेय पदार्थ, भोजन,
ओषधि, पलग, तीन प्रकार की—
बहुमूल्य वस्तुएं, सोना, चादी इत्यादि,
विविध वस्तुएं—बनी हुई या बिना बनी हुई;
इनको, इनके गुणो के अनुसार, विभाज्य
अथवा अविभाज्य ठहराना चाहिए।
जगति-पूज्य बुद्ध ने यह विधान किया था।'

इसका विशेष वर्णन इस प्रकार है- भूमि, घर, दुकाने, बिछाने की सामग्री, ऊनी आसन और लोहे या ताबे के उपकरण बाटे नही जा सकते। परतु शेषोक्त मे से वडे और छोटे लोहे के कटोरे, ताबे के छोटे कटोरे, दरवाजों की चाभिया, सुइया, बरमे, उस्तरे, चाकू, लोहे की डोइया, कासे की चीजे, कुल्हाडे, छेनिया इत्यादि और साथ ही उनकी थैलिया, मिट्टी के बर्तन अर्थात् प्याले-प्यालिया, पीने और साफ करने के पानी के लिए कुडिक, तेल के घड़ और पानी के बासन बाटे जा सकते है, बाकी नहीं। लकडी और बास के उपकरण, चमडे के बिछौने, क्षौर की सामग्री, दास और दासिया; मदिरा, भोजन, अनाज, भूमि और घर, ये सब प्रत्येक प्रात से आकर एकत्र होनेवाले भिक्षुओ की सपत्ति बना देनी चाहिए। इनमे से जगम वस्तुए सघ के उपयोग के लिए कोषागार मे रखी जानी चाहिए। भूमि, घर, ग्राम्य-वाटिकाए, भवन—जो स्थावर है—भी संघ की ही संपत्ति हो जाते है। यदि वस्त्र या कोई अन्य पहनने योग्य वस्तुएं रह जाये, चाहे वे चोले हों, रंगी हुई बिना रगी स्नान करने की कमीजे हो, या मोमजामे हो; बटलोइया, स्लीपर या जूते, ये सब उसी स्थान पर उस समय एकत्रित भिक्षुओं में बाट देने चाहिए। जिस कपडे में बाहो का एक जोड़ा हो वह बाटा नहीं जा सकता, किंतु सफेद वस्त्र जो दोहरा बनाया जाता है, अपने इच्छानुसार वाटा जा सकता।

बुद्ध की जांबूनदवर्ण मूर्ति के सामने लबी-लंबी छडियों का झडों के रूप मे उपयोग किया जाता है। पतली छडिया भिक्षुओं को दे दी जाती है ताकि वे उन्हे धातु की छडियो के रूप मे व्यवहार करे।

(इत्सिग की टीका)—'जाबूनदवर्ण' नामक प्रतिमा की उत्पत्ति का वर्णन विनय मे है। जब बुद्ध सघ मे नही होते थे तब भिक्षु लोग वहुत विनीत नही रहते थे, इस अवस्था से विवश होकर धनाढ्य अनाथ पिडद ने बुद्ध से इस प्रकार पूछा—'मे, सघ के सम्मुख रखने के लिए, तेरी जांबूनदवर्ण (सोने के रग की) प्रतिमा बनाना चाहता हू।' गुरुवर ने यह प्रतिमा बनाने की आज्ञा उसे दे दी।

धातु की छड़ी संस्कृत में 'खक्खर'[1] कहलाती है, और (छडी लेकर चलने से उत्पन्न होनेवाले) शब्द को दिखलाती है। पुराने अनुवादक ने इसका अनुवाद 'धातु की छड़ी' किया है, क्योकि शब्द धातु से उत्पन्न होता है; आप चाहे तो इसे 'छडी की धातु' कह सकते हैं। जैसा कि मैंने स्वयं देखा है, पश्चिम (भारत) में जिस छडी का व्यवहार किया जाता है उसकी चोटी पर लोहे का एक चक्र जड़ा होता

---

1 यह नाम यद्यपि ठीक संस्कृत नहीं, पर ऐसा जान पडता है कि इसका व्यवहार बोद्धो की छडी के लिए होता था। देखिए महाव्युत्पत्ति, 268, ह्यूनथ्साग, 11, 509 तुलना कीजिए, 'कत्तर-दड', महावग्ग 5, 6, 2, चुल्लवग्ग 8, 6, 3 और जातक 1, 9.

है चक्र का व्यास दो तीन इंच होता है और इसके मध्य मे चार पांच अंगुल लंबा नली के आकार का धातु का एक सिरा होता है। स्वयं लाठी, साफ या खुरदरी लकड़ी की बनी होती है। इसकी लंबाई मनुष्य की भृकुटी तक पहुचती है। चोटी के चक्र से कोई दो इंच नीचे लोहे की एक जंजीर बांधी जाती है, जिसके छल्ले गोल या अंडाकार होते हैं और एक तार को झुकाकर और इसके सिरे को एक-दूसरे छल्ले मे जोडकर बनाए जाते है। प्रत्येक छल्ला इतना बडा बनाया जाता है कि जिसमे से तुम अपना अंगूठा डाल सको। ऐसी छ या आठ ज़ंजीरें चोटी के चक्र मे से बांधी जाती है। ये जंजीरें लोहे या तांबे की होती है। ऐसी लाठी रखने का प्रयोजन गांव मे भिक्षा लेते समय गायों या कुत्तों को दूर रखना है। यह आवश्यक नही कि इसको इस प्रकार उठाने का विचार किया जाय कि जिससे बांहे थक जाये। इसके अतिरिक्त, कुछ लोग मूर्खता से सारी लाठी लोहे की ही बनाते और उसकी चोटी पर लोहे के चार चक्र लगा देते है। यह बहुत भारी होती है और एक साधारण व्यक्ति के लिए इसे उठाए फिरना कठिन होता है। यह मूल-नियमों के अनुरूप नही।

चतुष्पाद, हाथी, घोडे, खच्चर, सवारी के गधे 'राजपरिवार' को दे दिए जाते है। सांड और भेडे बाटी नही जानी चाहिए, किंतु वे सारे समाज की होती है। टोप, कवच इत्यादि वस्तुएं भी राजपरिवार मे भेज देनी चाहिए। सुइयों, बरमो, चाकुओ या धातु की लाठियों के सिरों को दे देने के बाद फुटकर शस्त्र उस समय एकत्रित भिक्षुओं मे बाट दिए जाते है। यदि वे सबके लिए पर्याप्त न हों तो केवल बडे भिक्षु ही उन्हें ले ले।

जाल जैसी वस्तुओं की खिड़कियों के लिए जालियां बना ली जाती हैं। अच्छे प्रकार के रंग, जैसे कि पीला सिंदूरी, आसमानी, नीला, हरा, मूर्तियों और इर्द-गिर्द के अलंकारों को रंगने के लिए मंदिर मे भेज दिए जाते है।

श्वेत और लाल मिट्टी और घटिया नीले पदार्थ एकत्रित भिक्षुओं मे बाट दिए जाते हैं। द्राक्षमदिरा यदि खट्टी होने के निकट हो तो भूमि में गाड दी जाती है, और इसके सिरका बन जाने पर भिक्षु इसका उपयोग कर सकते है। परंतु यदि यह मीठी ही बनी रहे तो इसे फेंक देना चाहिए, किंतु इसे बेचा न जाय। क्योंकि बुद्ध ने कहा—'तुम भिक्षु लोगो, जिन्होंने मुझसे दीक्षा पाई है, न तो किसी दूसरे को मदिरा दो और न आप ही इसका सेवन करो। अपने मुख में इतनी थोड़ी भी मदिरा न डालो जितनी कि नरकट के सिरे से गिरी हुई एक बूंद होती है।' यदि मनुष्य मदिरा के साथ मिलाकर आटा, मदिरा के तलछट से बना हुआ जूस खाता है तो वह अपराध करता है। इस विषय में मनुष्य को संदेह मे नहीं रहना चाहिए, क्योंकि विनय में इसके निषेध के लिए एक नियम है।

औषधीय पदार्थ, प्रयोजन के समय रोगियो को देने के लिए, एक पवित्र भडार मे रखे जाने चाहिए। बहुमूल्य पत्थर, रत्न और ऐसी ही दूसरी वस्तुएं दो भागो मे विभक्त की जाती है, एक तो धार्मिक प्रयोजनों (धम्मिक) के अर्पण होता है और दूसरा भिक्षुओ के अपने उपयोग के लिए (सघिक) रहता है। प्रथमोक्त भाग धर्म-पुस्तको के नकल कराने और 'सिहासन' के निर्माण या सजावट मे ख़र्च होता है। दूसरा भाग उपस्थित भिक्षुओं में बाट दिया जाता है। ऐसी वस्तुए, जैसे कि रत्न-जडित कुरसिया, बेच देनी चाहिए और उनका मूल्य उपस्थित जनो को दे दिया जाये।

लकडी की कुरसिया साझे की सपत्ति बना दी जाती हैं। परतु धर्म-पुस्तके तथा उनकी टीकाए किसी को नही देनी चाहिए, किंतु उन्हे संप्रदाय[1] के लोगो के पाठ के लिए एक पुस्तकालय मे रख देना चाहिए। जो पुस्तकें वौद्ध-धर्म की न हो उन्हे बेच डाला जाये, और (उनसे प्राप्त हुआ धन) उस समय निवास करनेवाले भिक्षुओ मे बांट दिया जाये। यदि लेखपत्र और ठेके तत्काल देय हों तो (रुपया) वसूल करके चटपट बांट देना चाहिए; यदि वे तत्काल देय न हो तो लेखपत्र कोष मे रख छोड़ने चाहिए, और जब उनकी अवधि पूरी हो जाये, तब (रुपया) संघ के उपयोग के अर्पण कर दिया जाय। सोना, चादी, गड़ा हुआ तथा बिना गड़ा हुआ माल, कौडिया (कपर्द) और मुद्राए, बुद्ध, धर्म तथा संघ के लिए, तीन भागो मे बाट दी जाती है। बुद्ध का भाग मदिरों, उन स्तूपो—जिनमें पवित्र बाल या नाखून रखे हुए है—और अन्य खंडहरों के जीर्णोद्धार में व्यय किया जाता है।

धर्म का भाग धर्म-पुस्तको की नकल कराने और 'सिहासन' के निर्माण तथा सजावट में लगाया जाता है। दूसरा संघ का भाग मठ में रहनेवाले भिक्षुओं मे बाट दिया जाता है।

भिक्षु के छः परिष्कार[2] रोगी धात्री को दिए जाते हैं। बाक़ी की टूटी हुई चीजे उचित रूप से बांट दी जायें।

इस विषय का संपूर्ण वर्णन बडी विनय मे मिलता है।

34

संघ की साधारण संपत्ति का उपयोग

सभी भारतीय विहारों में भिक्षु को कपड़े मठ मे रहनेवाले भिक्षुओ (के साझे की पूजी) से दिए जाते हैं। खेतों और उद्यानों की उपज और वृक्षों तथा फलो से होनेवाली

---

1 तुलना कीजिए चतुद्दिससघ।

2 देखो परिच्छेद 10.

आय कपडा का व्यय पूरा करने के लिए प्रतिवर्ष भागो में बाट दी जाती है

भारतीय विहारों को भूमि की विशेष जागीरे मिली हुई हैं, जिनकी आय से भिक्षुओं को वस्त्र दिए जाते है। कुछ चीनी मदिरो में भी ऐसी ही अवस्था है। खेत देनेवाले के मूल सकल्प के कारण विहार मे (रहनेवाला) कोई भी व्यक्ति—चाहे वह भिक्षु हो या साधारण भक्त—उसी स्रोत से दान ले सकता है। परतु यदि वह भोजन नही करता तो यह किसी का दोप न होगा। यह माना गया है सप्रदाय को जो दान मिलता है—चाहे वह खेत हो चाहे घर, या कोई क्षुद्र वस्तु,—वह भिक्षुओ के भोजन और आच्छादन के लिए दिया जाता है। इस विषय मे कुछ भी सदेह नही। यदि उपकारी का वास्तविक संकल्प निष्कपट रूप से उदार था, तो दान के लाभ सबके लिए समझे जा सकते है, चाहे यह केवल देव-मदिर को ही भेट दिया गया हो।

इसलिए सप्रदाय, जब तक वह दाता के वास्तविक संकल्प को पूरा करता है, बिना किसी दोष के, जैसा चाहे दानों का उपयोग कर सकता है।

परंतु चीन मे, कोई व्यक्ति प्राय' विहार की संपत्ति से वस्त्र नहीं ले सकता, इसलिए उसे इस आवश्यकता के लिए पहले से उपाय करना पडता है, जिससे वह अपने विशेप कार्यो को भुला देता है। यह नही कि जिसको भोजन और कपडा मिल जाता है वह बिना किसी शारीरिक या मानसिक श्रम के जीवन व्यतीत करता हे, किंतु यह एक सच्ची बात है कि यदि मनुष्य केवल ध्यान और उपासना मे लगा हुआ विहार मे रहे तो वस्त्र और भोजन की चिंता का कुछ भी प्रयोजन न होने से वह वहुत स्वतत्र हो सकता है।

जिसके पास पासु (धूल के ढेर) के (चिथडों से बनाए हुए) तीन चीवरों के सिवा और कुछ नहीं, जो द्वार-द्वार से भोजन की भिक्षा करता और अरण्य मे वृक्षो के नीचे रहता है, वह यति का पवित्र जीवन व्यतीत करता है[1]। मोक्ष-मार्ग पर मनुष्य का लक्ष्य जितना अधिक दृढ़तापूर्वक स्थिर होता है उतना ही उसका आतरिक ध्यान और ज्ञान बढ़ता है। वाहर से प्रेम और दया दिखलाने से मनुष्य का मन मुक्ति-घाट की ओर जाता है। जो जीवन इस रीति से समाप्त होता है वह सर्वोच्च है। भिक्षुओं के चीवर विहार में रहनेवाले भिक्षुओं की साझे की संपत्ति में से दिए जाने चाहिए, और प्रत्येक वस्तु—जैसे कि बिछौने के कपडे, इत्यादि—समान रूप से बाटी जानी चाहिए और किसी एक ही व्यक्ति को नही दी जानी चाहिए; इस प्रकार उन्हें विहार की सपत्ति की रक्षा अपनी निज की संपत्ति से भी अधिक सावधानी से करनी चाहिए।

---

1 पुराने बोद्धों का ऐसा जीवन अभी इत्सिग के समय में भी मौजूद था।

यदि अनेक दान हो तो विहार को चाहिए कि बडे को पुण्यार्थ दे के छोटे को रख ले। यह बुद्ध की श्रेष्ठ शिक्षा के अनुकूल है, क्योकि उसने स्पष्ट कहा है–'यदि तुम वस्तुओं का यथोचित रीति से उपयोग करोगे तो तुममे कोई दोष न मिलेगा। तुम यथेष्ट रूप से अपना निर्वाह कर सकोगे और श्रमपूर्वक आजीविका की तलाश करने के कष्ट तथा व्यय से मुक्त हो जाओगे'।

विहार के लिए बहुत-सा धन, सडे हुए अनाज से भरे हुए खाते, अनेक दास और दासिया, कोषागार मे इकट्ठा किया हुआ रुपया और खज़ाना रखना, और इनमे से किसी भी चीज का उपयोग न करना, जबकि सारे सदस्य निर्धनता से दु:ख पा रहे हो, अनुचित है। बुद्धिमानो को सदा सत्यासत्य का ठीक निर्णय करके उसके अनुसार आचरण करना चाहिए।

कुछ विहार ऐसे है जो वहा रहनेवालो को भोजन नही देते, किंतु, प्रत्येक वस्तु उनमें बाट देते है और उन्हे अपने भोजन के लिए स्वयं उपाय करना पडता है। ऐसे विहार किसी परदेशी को वहा निवास करने की आज्ञा नहीं देते। इस प्रकार जो लोग किसी प्रदेश से आते हैं उन्हे ये विहार स्वय अधर्म-संगत जीवन बिताने का प्रलोभन देते है ('या ऐसे विहार के अधिकारी उन सब भिक्षुओं के जीवन की अधर्म-सगत रीति के लिए उत्तरदाता होगे जो उनके ससर्ग मे आते है')। जो लोग ऐसा अधर्म-सगत आचरण कराते है उन्हे इसका कुफल अवश्य मिलेगा, और उनके सिवा किसी दूसरे को भावी परिणाम न भोगने पडेगे।

35

शरीर का जलाना अधर्मसंगत है

बुद्ध-भिक्षुओ के लिए अध्ययन की केवल एक ही पद्धति है। जिन लोगो ने अभी अध्ययन आरभ ही किया है वे विक्रात और विश्रुत बनने पर तत्पर है, पर अपने धर्म-ग्रंथो का उन्हे कुछ ज्ञान नहीं। वे उन लोगों का अनुसरण करते हैं जो उंगलियो को जला देना धर्मनिष्ठा का काम और आग से अपने शरीर को नष्ट कर डालना प्रशसा का कर्म समझते थे। वे ऐसे कामों को अपने हृदय मे ठीक समझते हुए अपनी ही प्रवृत्ति पर चलते हैं। यह सच है कि सूत्रों में ऐसे कर्मो के कुछ उल्लेख है, परतु वे भक्तजनों के लिए है, क्योकि आवश्यकता पडने पर उनके लिए न केवल अपने कोष, वरन् अपना जीवन दे देना भी ठीक है। इस प्रकार इसका संकेत स्वय भिक्षुओ की ओर नही। क्यो ? प्रव्रजितों को अपने आपको दृढतापूर्वक विनय के नियमों की सीमा में ही रखना चाहिए। यदि वे उनके उल्लघन का अपराध नही करते तो उनका आचरण सूत्रों के अनुकूल है। यदि वे किसी उपदेश का उल्लघन

करते है तो उनकी आज्ञानुवर्तिता मे दोष है

भिक्षु होने के कारण उन्हे घास का एक तिनका भी नष्ट न करना चाहिए, चाहे सारा मदिर घास से ढका हुआ हो। चाहे वे किसी एकाकी खेत मे भूख से मर रहे हो, उन्हे चावल का एक दाना भी न चुराना चाहिए। परन्तु सर्वसत्त्वप्रियदर्शन[1] के ऐसे भक्तजन के लिए अपनी बाह को भी भूनकर भोजन देना ठीक है। बोधिसत्त्व ने अपने लड़को और लड़कियो तक का दान कर दिया था, परतु भिक्षु को देने के लिए लड़का और लड़की ढूंढने का प्रयोजन नही। महासत्त्व ने अपने नेत्र तथा शरीर दे दिया था, परन्तु भिक्षु का ऐसा करने का प्रयोजन नही। हिस् एन यू (ऋषि[2] नदित) ने अपना जीवन सौप दिया था, परतु यह कोई ऐसा उदाहरण नहीं जिसका अनुकरण विनय के विद्यार्थी के लिए अच्छा हो।

राजा मैत्रीबल ने अपनी बलि दे दी थी, परतु भिक्षु को उसके उदाहरण का अनुकरण नही करना चाहिए। मैने अभी सुना है कि (चीन या भारत के, सभवत. चीन के) युवक अपने आपको वीरतापूर्वक धर्म-अनुष्ठान के अर्पण करते हुए, शरीर जला देने को बुद्धत्व प्राप्त करने का एक साधन समझते है, और एक-दूसरे के बाद अपने जीवनो का परित्याग करते है।

ऐसा नही होना चाहिए। क्योकि देहातरगमन की दीर्घ अवधि के पश्चात् मनुष्य-जन्म प्राप्त करना कठिन है। एक सहस्र बार मनुष्य-जन्म पाने पर भी हो सकता है कि मनुष्य को प्रज्ञा प्राप्त न हो, न वह सात बोध्यगो[3] को सुने और न तीन पूज्यो (रत्नत्रय) को मिले। अब हमे एक उत्कृष्ट स्थान में निवास मिला है और हमने प्रशंसनीय धर्म को धारण किया है। सूत्रों के केवल थोडे-से श्लोक पढकर ही अपने क्षुद्र शरीर को छोड देना व्यर्थ है। हमारे अनित्यता पर ध्यान करना आरभ करने से इतनी जल्दी बाद, हम ऐसी नि सार बलि को बडा कैसे समझ सकते है ?

हमे चार प्रकार के उपकारों[4] का बदला चुकाकर उपदेशों का ठीक-ठीक पालन करना और प्राणियों[5] की तीन श्रेणियो को बचाने के लिए ध्यान में लग जाना चाहिए। ठीक जिस प्रकार अतल सागर में तैरते समय मनुष्य ने पवन से भरा हुआ थैला पकड रखा हो, उसी प्रकार हमें अनुभव करना चाहिए कि एक छोटे-से अपराध मे भी कितना बड़ा भय है। पतली बरफ़ पर दौडते हुए घोडे के काटा लगाने के सदृश,

---

1 अपने शरीर को जला देने इत्यादि की कथा सुद्धर्मपुडरीक, अश 22 मे है।

2 काश्यप के अनुसार यह मैत्रीबल की उपाधि थी, जिसका जातक जातकमाला (8वीं) में मिलता है। कर्न का सस्करण, पृष्ठ 41 देखिए।

3 चाइल्डर्स का S V बोज्झगा।

4 (i) बुद्ध, (ii) राजा, (iii) माता-पिता और (iv) उपकारियो के उपकार

5 कामलोक, रूपलोक और अरूपलोक, अर्थात् त्रिभव।

प्रज्ञा-प्राप्ति के लिए अनुष्ठान करते समय हमे पूरी तरह से होशियार रहना चाहिए।

इस प्रकार आचरण करने और अच्छे मित्रो की सहायता से हमारा मन जीवन के अतिम क्षण तक अचल रहेगा। ठीक तौर पर सकल्प बना लेने पर, हमे भावी बुद्ध मैत्रेय के मिलाप की प्रतीक्षा करनी चाहिए। यदि हम (हीनयान का) 'छोटा परिभोग' प्राप्त करना चाहते हैं तो हमे पवित्रीकरण की आठ अवस्थाओ के द्वारा उसे लेना चाहिए। परंतु यदि हम (महायान के) 'बडे परिभोग' के क्रम पर चलना सीखते है तो हमें तीन असख्य कल्पो के द्वारा अपने कार्य को संपन्न करने का यत्न करना चाहिए।

मैने कभी कोई ऐसा कारण नही सुना कि क्यों हम दु.साहस से अपना जीवन दे दें। आत्महत्या का पाप पहली श्रेणी के निषेधो को तोडने के दूसरे दर्जे पर है। यदि हम विनय-पुस्तको का सावधानी से निरूपण करें तो हम आत्महत्या की आज्ञा देनेवाला कोई वचन कभी न पाएगे।

बुद्ध के अपने शब्दो मे ही इंद्रियों को वश में करने की महत्त्वपूर्ण रीति बताई गई है। कामनाओं को नष्ट करने के लिए अपने शरीर को जलाने से क्या लाभ ? बुद्ध ने तो बधिया करने की भी आज्ञा नही दी, परंतु दूसरी ओर उसने स्वय तालाब मे मछलियो को छोड देने के लिए उभारा है। बुद्ध का वचन हमे किसी भारी उपदेश का उल्लंघन और अपनी मनमानी करने का निषेध करता है। यदि हम अपने शरीरो को जलाने जैसे किसी अनुष्ठान की शरण लेते है तो हम उसकी श्रेष्ठ शिखा का परित्याग करते है। परतु हम उन लोगो के विषय मे विचार नही कर रहे है जो विनय-नियमों को बिलकुल धारण न करके बोधिसत्त्व के अनुष्ठान का अनुकरण, और दूसरों के कल्याण के लिए अपने आपको बलि कर देना चाहते है।

36

पास खड़े होनेवाले अपराधी हो जाते हैं

शरीर को जलाने का ऐसा कर्म बहुधा आंतरिक निष्कपटता दिखलाने की एक रीति समझी जाती है। दो-तीन दृढ-सुहृद आपस मे मिलकर युवा विद्यार्थियो को अपने जीवन नष्ट कर डालने की प्रेरणा करने के लिए सपत्ति कर लेते हैं। जो इस रीति से पहले नष्ट होते है उन्हे स्थूल[1] अपराध लगता है, और जो लोग पीछे से उनके उदाहरण का अनुकरण करते हैं वे पाराजिक[2] अपराधी बनते है, क्योकि वे (आत्महत्या

---

1 घोर अपराध, देखिए चाइल्डर्स, S V थूलो।

2 पहले और सबसे बुरे अपराध, देखिए चाइल्डर्स, S.V.

का निपेध करनेवाले) नियम को ताड़कर फल प्राप्ति की इच्छा करते है, और आदशो के उल्लंघन से मृत्यु की तलाश करते हुए, अपने कुनिर्मित सकल्प पर दृढता से डटे रहते है। ऐसे लोगो ने कभी बुद्ध के सिद्धात का अध्ययन नही किया। यदि सतीर्थ इस अनुष्ठान के लिए उभारे तो उन्हे पाप लगता है (जिसका प्रायश्चित नही हो सकता), ठीक जिस प्रकार जब सुई की आख टूट जाती है (तब फिर यह दुवारा नहीं बन सकती)। जो लोग दूसरे से कहते है कि तुम अपने आपको आग मे क्यो नही फेंक देते वे (ऐसा) पाप करते हैं (जो दूर नही हो सकता), जिस प्रकार कि टूटा हुआ पत्थर जुड नही सकता। मनुष्य को इस बात का ध्यान रखना चाहिए। लोकोक्ति है—'दूसरो के उपकारो का बदला देना अपने जीवन नष्ट कर डालने से, ओर चरित्र-गठन अपने नाम के कलकित करने से अच्छा है।' भूखे सिह को अपना शरीर देना बोधिसत्त्व का ही मोक्ष का काम था। श्रमण के लिए यह उचित नही कि वह एक जीते कबूतर के स्थान में अपने शरीर से मास काटकर दे। बोधिसत्त्व का अनुकरण करना हमारी शक्ति मे नही। मैने स्थूल रूप से बता दिया है कि त्रिपिटक के अनुसार कौन-सी बात उचित है और कौन-सी अनुचित। बुद्धिमानो को पूर्ण रूप से मालूम होना चाहिए कि अनुकरण करने के लिए कौन-सा अनुष्ठान ठीक है।

गगा नदी में प्रतिदिन अनेक मनुष्य अपने आपको डुबाते हैं। बुद्ध—गया के पर्वत पर भी बहुधा आत्महत्याएं होती रहती हैं। कुछ लोग अपने आपको भूख से मारते हैं और कुछ नही खाते। कई लोग वृक्ष पर चढकर अपने आपको नीचे गिरा देते है।

जगत्पूज्य (बुद्ध) ने इन भटकाए हुए मनुष्यों को नास्तिक ठहराया है। कई लोग जान-बूझकर अपने पुरुषत्व को नष्ट करके हिजडे बन जाते है।

ये कर्म विनय-शास्त्र के सर्वथा प्रतिकूल हैं। वे लोग भी, जो ऐसे अनुष्ठानो को अनुचित समझते है, डरते है कि यदि हम ऐसे कामों को रोकेंगे तो हमें पाप लगेगा। परंतु यदि मनुष्य ऐसी रीति से अपना जीवन नष्ट करता है तो उसके अस्तित्व का बड़ा उद्देश्य खो जाता है।

इसी कारण बुद्ध ने इसका निषेध किया था। बढ़िया भिक्षुओं और विज्ञ उपाध्यायो ने उपयुक्त हानिकारक रीति से कभी आचरण नही किया।

□□□